प्रसाद ग्रन्थावली

॥ प्रसाद वाङ्मय खण्ड-१ ॥

जयशंकर प्रसाद
का
सम्पूर्ण काव्य साहित्य

•

सम्पादक
रत्नशंकर प्रसाद

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५ ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

•

कॉपीराइट
श्री रत्नशंकर प्रसाद

•

प्रथम संस्करण १९७७

•

वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहरनगर, वाराणसी
द्वारा मुद्रित

मूल्य : ६०.००

॥ श्री ॥

यस्यालोकपदेऽशेषमेयान्मानाञ्च शान्तायते
माता सा जयते प्रमातृ जननी वैश्वी च विश्वोत्तरा
शान्तात्कान्तमुदीयमान लहरी निर्व्याजलीलावती
शृङ्गारोज्ज्वलचन्द्रकान्तवपुषी त्रैलोक्यदीपङ्करी
पश्यन्तीमरुणत्परापरजगत्सादाख्यभुक्ता च भू
ज्ञानाभिन्न कलाकलङ्करहिता सा एव हित्योमय
सम्पृक्तक्षपितान्तरावसुमती पीयूषपजन्यत
कल्याणी करुणामयी प्रबोधनकरीमाम्नातमार्पोवच
विच्छिर्त्ति विहरन्ति मर्मपटले उत्क्रान्तभावेक्षिणी
ऋक्थीभूत प्रसादवाङ्मयनिधि सरक्ष्यमाण सदा

यद्विरजपदाब्जामृतरसाराधितोऽहम्,
तद्भवति ! कृपामूर्त्तेर्ग्रन्थमुत्सङ्गितोऽयम्

विनयावतेन सम्पादकेन

प्राक्कथन

पूज्य पिताजी की पक्तियो की अविकल प्रस्तुति का यह प्रयास अपनी अल्प क्षमता से मैंने किया है। यद्यपि उपलब्ध पाण्डुलिपीय सामग्री, ग्रथो के आदिसस्करण और उनके हाथो हुए मुद्रणादेशो से महती सहायता मिली फिर भी प्रसाद-वाङ्मय के इस सग्रथित प्रस्तुतीकरण को 'इयमेवपूण इदमित्थ च' कह देने का साहस, कम से कम मेरा तो कभी भी न होगा। मानव-सुलभ प्रमाद के बिन्दु सम्पादन-मुद्रण के कही कारण हो सकते हैं और, यदि कही वैसा है तो तदथ प्रसाद-भारती के सम्मुख क्षमाकाक्षी हूँ। इस खण्ड म उनके समस्त ग्रन्थित काव्य का एक सग्रथन है चम्पू सहित शेष अग्रन्थित काव्य को एक परिशिष्ट-खण्ड म पृथक रखना पड़ा, अन्यथा इस खण्ड का कलेवर दुराराध्य हो जाता।

अग्रवर्ती पृष्ठो मे सक्षेपत निवेदित प्राक्कथन 'प्रसाद-वाङ्मय' की विराट् मूर्त्ति के चरणो मे अक्षत-भावेन विकोण रह श्रद्धावन्तो का किंचित् भी प्रीणन कर सका तो वह मेरे पावन रिक्थ का पुण्य-फल होगा।

प्रसाद-वाङ्मय की विकास धारा का प्रस्थान विन्दु एक सकल्पमय बिन्दु है जो अपने विस्तार से दीप्ति की एक रेखा बनाता गया है अथ च, केन्द्रीय-विचार का एक अक्षय ज्योतिष्क भी बना रहा उसे 'ध्रुवतारा कहना ही उपयुक्त होगा। ऐसा नही कि इस विस्तारण मे उस स्फुलिंग-रूप सकल्प बिन्दु की प्रकाशमानता क्षीण हुई हो, और अस्तित्व के लिये उसे अन्यत्र से साधन स्रोत जुटाने पडे हो अथवा तिमिर वात्याचक्र मे पिस कर बुझ गया हो किंवा एक उद्भ्रान्त आलोक-पिण्ड सा साजन क्षितिज और निरजन महाव्योम के बीच किसी आकर्षण हीन कक्षा का धूमकेतु बन गया हो।

मानव-समाज के कल्याण-चिन्तन को एक मौलिक वृत्ति सहित प्रसाद-वाङ्मय का उन्मेष होता है ऐसे सहित भाव का सकेत उस पक्ति म है जहा कहा गया है कि 'दुखदग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है'। अत आज के और आगामी कल के विश्व-जनीन परिप्रेक्ष्य मे उसके स्वाध्याय का कुछ और ही अर्थ होगा वैसा

स्वाध्याय वस्तुत श्रेयगर्भित, प्रेयसमन्वित और युग के लिये योगवाही एव प्रयोजनीय रहेगा। इस अनुवेध म मात्र काव्य या रसास्वाद और केवल उसका दशन चिन्तन अगी न हो अग ही रहगे फिर, प्रसाद वाङ्मय की उपलब्धि का वृहत्तर और यथाथ आयाम विज्ञात न होगा। इस शती के आरभ से मानव समाज के उद्बोधन मे हुए वैश्व सकल्प और आयास के समस्वर भारतीय जीवनदृष्टि और समाज के जागरण भैरव मे वाङ्मयी विपची कैसे सवादी स्वर दे रही है यह जिज्ञास्य केवल काव्यास्वाद और दशन चिन्तन द्वारा ही उपचीण न हो सकेगा वैसी जिज्ञासा समाज की उन सभी अयान्य प्रवृत्तियो का स्पश किये है जिनके समवेत प्रभाव मे युग आख्यात रहता है। और प्रस्तुत सन्दभ मे, वह समवेत प्रभाव एक 'घनीभूत पीडा' बन कर प्रसाद भारती के मस्तक म छा जाती है और, विश्वयुद्ध (प्रथम), बलशोई क्रान्ति एव सर्वोपरि भारत के अपने घोरतम अवसाद के दुर्दिन मे आसू बन कर बरसती है इतिहास और साहित्य के क्षणो का यह कोई आकस्मिक सयोग नही और फिर, विरह मिलन के तत्त्व न तो एकदेशीय होते हैं न एककालिक न एक सस्थानीय ही। कवि-चेतना साधारणीकरण की दशा और अनुभूति की प्रवणता मे किन आयामो से क्या ग्रहण कर उन्हे कैसे रूपक रूप दे सकती है यह उस प्रसिद्ध वाल्मीकीय श्लोक से अनुमित हो सकता है जिसम एक क्रौच के वध-प्रसग मे स्फुरित करुणा बाल्मीकि को वाल्मीकित्व दे जाती है। इस 'घनीभूत पीडा' की बदली किसी क्षितिज-विशेष से नही उठ रही है इसीलिये तो सबका निचोड ले कर आँसू के 'विश्व सदन' म बरसने की की प्रासगिकता है।

निश्चय ही एक व्यापक परिप्रेक्ष्य मे आसू 'मानव-समाज' के कल्याणानुष्ठान का सकल्प-वाचन है जिसे कामायनी के अन्तिम छन्द मे सिद्धि मिलती है इस सन्दभ मे अधुनापि उपलब्ध पदाथ और भाव-सामग्री का समुचित उपयोग नही हो पाया जिससे वायवीय अनुमानो का निरास हो सके यहा प्रसग प्रस्तार से बचने और मूल विषय से ही प्रसक्त रहने से उनकी चर्चा सम्भव नही।

सबका निचोड लेकर तुम सुख से सूखे जीवन म।
बरसो प्रभात हिमकन सा आसू इस विश्व सदन म॥

सामान्यत विश्व-समाज और विशेषत विकासोन्मुख देश एव भारतीय-समाज जिस सक्रान्ति का आज भोग कर रहे हैं, प्राय दो शती पुरानी है उसका कोई व्यवस्थित निष्क्रमण निष्कप अभी नही निकल

पाया यद्यपि दृष्टि मे आ चुका है। किसी देश-समाज के अथ शतिया महत्त्व नही रखती और विश्व-समाज की दृष्टि से तो सहस्रादिब्या भी नगण्य है। उन्मेष या क्रान्ति, आतिवाहिक निभृत और निचले स्तरो से सदैव प्रवत्तित रहती हैं जिनका अथ होता हैं विगताथ-व्यवस्था का विक्षेप और अनुकूल मगल की प्रतिष्ठा। वैषम्य की भूमिका पर, सृष्टि के विकास मे क्रान्ति का तत्त्व एकमेव साधनभूत होता है जो अभ्युदय मे आस्था रखता है मानवसमाज की अगति मे नही अपितु प्रगति मे वह उद्युक्त होता है। प्रसाद-वाङ्मय मे ऐसा ही है। वहा देव सस्कारो के प्रति अतिशय विराव है और उस से उन्नत और परिपूर्ण एक मानव-समाज की प्रस्तावना उस वाङ्मय की अपनी विशेषता है और वे सस्कार किंवा परिवेश चाहे अशात्मकत्वेन ही क्यो न हो अभी क्या विद्यमान नही हैं? प्रसाद भारती का इसमे कथमपि विश्वास नही कि मानव-समाज का उद्धार, उसका दिव्य रूपान्तर कोई देवदूत या देवचेतना ऊपर से आकर करेगी अपितु, वह मानवी-पुरुषाथ के सुसमन्वित-सन्तुलित नियोजन, प्राणी मात्र के प्रति प्रेम और करुणा सौहाद और सर्वोपरि सवविध 'सबकी समरसता' की छाया म एक सहज मानवी-महासहृति मे आस्था रखती है।

जिस भूमि पर प्रसाद-वाङ्मय उभर कर सम्मुख आया उसे देखने से उसकी आधारशिला कारण-सत्ता = प्रेरणा के उसके मूल उपादान और काय विवत्त दोना ही स्पष्ट होगे और, निहित वस्तु-तत्त्व की प्रासगिकता को परखने मे भी सुविधा रहेगी। भूमि कहने से मेरा तात्पय, उस सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिवेश से है जिसके अन्त —स्पन्द की छाप मानव चिन्तन के विकास मे अनुस्यूत रहती है और जो इतिहास की पृष्ठभूमि को बनाती हैं अर्थान्तरेण विदित वत्तमान जिसका परिणाम होता है। उस भूमि की आपुजित वेदना ने वैसे कवि कण्ठ की मुखरता के कारण जुटाये और उपादान इकट्ठे किये जिसमे भाव प्रतिवेदन की समथता निसगत विद्यमान रही किन्तु, अवधाय होगा कि वेदना स्वयमेव शून्य की एक क्रिया होती है जो अनुकूलता और प्रतिकूलता के अभिमानी सुख और दुख के उपजीव्य ले भावाकार गढती है परन्तु आकलित दुखोपजीवी भावाकृतियो के ही अनुभव निवेदन म आज इस शब्द का प्रयोग रूढ हो गया है वस्तुत, वेदना एक क्रिया है जिसमे सुख और दुख की सज्ञायें प्रतिफलित होती हैं। यह बात अन्य है कि क्रिया मे भी सज्ञा

और मज्ञा मे भी क्रिया के अश निहित रहते है अन्यथा चेष्टा का प्रकाश और प्रकाश की चेष्टा सम्भव नही।

विलक्षण प्रतीत होगा कि अनुकूल और प्रतिकूल भाव-स्फूर्ति के द्योतनार्थ आकाश-पर्यायो, शून्यवाची अक्षर 'ख' से अनुकूलार्थी 'सु' या प्रतिकूलार्थी 'दु' के अक्षरयोग पूवक, वेदना के वग भिन्न कथन होते ह। इस विलक्षणता पर विस्मय नहो होना चाहिये। शब्द विज्ञान की विकास प्रक्रिया के युगीन अन्तरालो मे अनेक एसे स्थल हैं जहा शब्द मूर्ति की वण सहति मे मानव समाज के विकास की नाना प्रवृत्तियो की उपलब्धियो का भास्कय एक समन्वित शिल्प सिद्धान्त पर तक्षित आधारित है यह भारत की अपनी विशेषता है जहा बहिरग भोग और अन्तरग-योग चिन्तनोके विषुवत् पर सस्कृति की परिनिष्ठायें एकमेव गोमुख से सहस्रधार स्यन्दित ह और, जिनके कूलो पर जड एव चैतन्य विज्ञान के सरज विरज पीठ प्रतिष्ठित है उभय सगोत्रीय है, चाहे वह जड-विज्ञान हो अथवा चैतन्य और, वाङ्मय दशन तो एक सविशेष अनुभूति-विमश ही है जो प्रतिभा की समस्त विधाओ का प्राण है। वाणी उसी विषुवत् से बहिगत होती ह सुतराम् इस अवस्था म मध्यपदी होने से मध्यमा-पदवाच्य होती है। वाक्पद और उसके अथ विविक्ताकगत होकर भी वहा सम्पृक्त और मिलित दशा मे रहते है फिर वे निखरते ह अर्थात बिखर (विश्व शरीर) धारण करते हैं। वाक् और अथ की भिन्नवेद्यता लेकर पदाथ जगत का उन्मीलन होता है, वर्णो का उदय क्रियाथ विशेषण-युक्त हो पदाथ-तादात्म्य मे कतिपय प्रतीक बना देता है जिन्हे हम शब्द कहते है। वे शब्द, अपनी सत्ता से अनुप्राणित 'निजशक्ति तरगायित' होकर अपनी आमूल चूल अथवत्ता मे जीवन्त ह। अस्तु सुख और दुख मे 'ख' की समान—प्रतिष्ठा एक शब्द-महिमा है। वेदना का तात्पय मूलत मात्र दुख से ही नही सुख से भी है। शतपथ ब्राह्मण (१४-७-२-१५) के इस कथन से कि प्रतिकूलार्थी दुख नरक एव वेदना का पुत्र है सहज इगित यह प्रापणीय है कि स्वर्ग और वेदना से सुख की उत्पत्ति है। सुतराम्, वेदना स्वत, *अपने निस्स्वभाव-वैशिष्ट्येन योगवाहिनी है, जिसकी भित्ति पर सुख* और दुख के चित्रो का उदयास्त होता है। सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के साथ साथ मानव समाज दुख-बहुल होता गया और दुख की परिभाषायें भी परिवर्तित हुइ और वेदना पौराणिक युग म दुख-पर्याय मात्र रह गई (अवलोकनाय सुश्रुत महाभारत इत्यादि)। आगम, अनादि

धर्म रूपी स्वातन्त्र्यशक्त्यात्मा स्व भाव की विचारणा को, वेदना कहते हैं—'वेदनानादिधमस्य परमात्मत्व बोधना (स्वच्छन्द तन्त्र ४-३९६)। पौराणिक युग मे विकल्प-दृष्टि का प्रभाव भी वेदना के अर्थ-परिसीमन का कारण है। फिर, वेदना यदि दुख ही है तो इस क्रियापदीया की सज्ञा वेद को क्या कहा जाय जो श्रेय प्रेय समन्वित ज्ञान की शाब्दी मूर्ति है? सौगत विचारधारा मे वेदना मूल मे अलाछित है इन्द्रिय-विषय-सम्पर्कोदित प्रभाव द्वारा मानस के रजित होने से सुखावेदना और दुखावेदना का भिन्न अनुभव होता है। वहा इसकी अनुपश्यना अनाविल रूप मे स्वीकार की जाती है। किं बहुना वहाँ वेदना की एक अदु ख और असुख मयी स्थिति भी व्याख्यात है (नन्दकोवाद सु० मज्झिम निकाय)।

अस्तु, वेदना म केवल दुख के प्रति ही ग्राहकता नही सुख के लिये भी उसके पास अनुरोध, प्रतीक्षा और जिज्ञासा ह नितराम्, सुखानुसन्धान म वह व्याकुलतया घूमती है यह बात अन्य है कि पाती नही, यदि पाती तो वह भी उपजीव्य होता—

वेदना विकल फिर आई मेरी चौदहो भुवन मे
सुख कही न पडा दिखाई विश्राम कहाँ जीवन म। (आसू)

वेदना अपने इस अनाविल अभिजात रूप मे प्रसाद-वाङ्मय के मानवी और मानवतावादी सकल्प-विन्दु की अन्तर्ज्योति बनी है जिसके आलोक मे मानव-मन की सवेदन विकलता विपची बन कर जीवन की मधुरिमा और कटुता के स्वर राग और विराग की सध्या मे सुनाती है।

प्रसाद-वाङ्मय के विकास मे ऐसी वेदना की उद्दीपन हेतुता बढती और क्रमश उदात्त स्तरो के खरसान पर चढ पैनी हो विकल्पो की ग्रन्थिया काटती जाती है फिर अपने मौलिक रूपावबोध मे साहित्य को यथाथत परिभाषित कर प्रसाद वाङ्मय कहता है—'दुख दग्ध जगत और आनन्द-पूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।' सवेदन और अनुभूति से गढे भावशिल्प की मुखरता प्रसाद भारती का सहेतुक विनियोग है विकल्प मयी कृतिया का वाग्विलास नही। वह युग-सापेक्ष और सोद्देश्य है उसकी चिन्तन-धारा निरपेक्ष है। युग, प्रश्न-पक्ष होता है और कवि उत्तर-पक्ष युग प्रश्न ही काव्य का वह निकष है जिस पर कवि के उत्तर की सुवर्ण रेखा अपना मूल्य बताती है।

सुतराम् निकट अतीत और समसामयिक वर्तमान की अवधि के, अर्थात् पिछली शती और वर्तमान के प्राय प्रथम तीन दशकों के प्रसग इस सन्दर्भ म ध्यातव्य होंगे जिसकी 'भूमि' पर प्रसाद वाङ्मय का अंकुरण पल्लवन हुआ है। प्राय १९०५ ई० से स्फुटित यह काव्यांकुर १९३५ ई० तक महिमा मण्डित न्यग्रोध हो गया—कामायनी पूरी हो गई। कवि के लिये कदाचित् अब कोई कथ्य अवशिष्ट नहीं रहा।[1] जिस विद्वद्व्यापी 'ध्रुवतारा' पर दृष्टि बाधे प्रसाद-वाङ्मय का सयान अपने भाव-समुद्र का सतरण कर रहा था उसके आलोक म अब 'प्राणमादन वह मधुरमुख' सम्मुख था जिसके समक्ष जब वखरी स्वत निवृत्त हो जाती है तब विखर (देह) की विद्यमानता का प्रश्न कहाँ ? भले ही जगत की तीखी मीठी वेदनाओं का खारा जलनिधि मचले और नियति के खोखले विवर मे 'चचल ग्रह' रूपी उसके इगित अपना परिमित 'सूनापथ' नापा करें।

सम्भवत इस मधुरमुख' और 'ध्रुवतारा' का प्रसग स्फीत हो कवि की जीवन दृष्टि और उपलब्धि को आज और भी सुस्पष्ट करता, किन्तु, चिकित्सक निषेध ने उस अद्धी पेंसिल[2] को भी जब्त कर लिया जो पश्यन्ती का आलोक भार वहन करने म तब समर्थ न रह दवा की शीशियों और थर्मामीटर की नितान्त सहचारिणी बन गई थी। और ये पक्तियाँ स्वय एक विराट् प्रश्न के परात्पर उत्तर का उस मार्मिक उक्ति के माध्यम से चरम समाधान उपस्थित कर जाती हैं—'निर्मोह

---

१ देहावसान समीप देख चिकित्सक ने कहा प्रसादजी आपका किसी से कुछ कहना हो तो कह लें' तब व उपधान सहारे शय्या पर बठे थे आगामी मुहूर्त के अयज्ञान से गर्भित मुख के प्रशान्त भाव में उस अथ के प्रति उपेक्षा भरी स्मिति निखर उठी कहा— डाक्टर अब तक जो कहा वह क्या कम है।

२ यक्ष्मा के असन्दिग्ध निदान हो जाने पर चिकित्सक ने कहा कि प्रसादजी आपकी पार्कर डुओफोल्ड कलम बडी वजनी है अभी कुछ समय इसे विश्राम करने दें उत्तर मिला तो मेरे जेब वाली अद्धी पेंसिल हल्की है। किसी कागज का एक छोटा टुकडा और आधी कटी पेंसिल उनकी जेब में होते थे प्राय। यद्यपि चिकित्सक-परामर्श उन्होंने माना और लिखने पढने से विरत हो गये किन्तु दीपगीत की इन पक्तियों के आधेय का, सच पूछा जाय तो निवृत्ति से कुछ दिनों पूर्व साक्षात्कार हुआ। प्रथम पद म प्रकल्पन एव दूसरे में प्रत्यक्षीकरण परस्पर अनुस्यूत है।

काल के काले पट पर कुछ अस्फुट लेखा, सब लिखी पडी रह जाती सुख दुखमय जीवन रेखा' किन्तु, शेपगीत[1] की इन पक्तियो मे निजानुभूति की दशा और काव्यानुभूति की दिशा के सामरस्य मे अनुभूति एव अभिव्यक्ति के परस्पर साधारणीकरण की सहज भगिमा है जो सावधानतया विचार्य है।

उन्नीसवी शती जिन दूरगामी क्षेप विक्षेपो की सम्भावना लिये आई उनसे भारत और भारतीय वाङ्मय धारा जिसे भारती ही कहते बनेगा अछूती न रह सकी। भारती इस लिये कि भाषा का नाम-कथन देश-परक होता है और हिन्द जिसे देश नाम मान भाषा का नामकरण हिंदी किया गया, वह तो अरबी सौदागरो की देन है। अत अपने समग्र देश की सज्ञा यदि भारत है तो इसकी सार्वदेशिक भाषा को भारती कहना क्या तक सगत न होगा?

देश विदेश की घटनायें और पदार्थ विज्ञान-गत नाना विधाओ की विकासात्मक प्रगति बाहर से और मानव समाज के सामूहिक चेतना का प्रकृतिगत विकास क्रम भीतर से कुछ असाधारण और नवीयान हो एक नये युग की भूमिका बना रहे थे। सचरण के साधन प्रत्यह उन्नत

---

१ मेरे जीवन के ध्रुवतारा
तेरी करुणा छायी हो वन नभ का श्याम पसारा
चचल ग्रह नापें सूना पथ मचले जलनिधि धारा
मेरी तरी तिरे पा कर तव मधुर ज्योति की धारा। (फाल्गुन १९९४)
आज जीवन में तरल सुख
विश्वमदिरा सा भरा ह
प्राणमादन वह मधुरमुख। (आश्विन १९९४)

दैनिक 'आज' बनारस वाराणसी के सोमवार सस्करण मिति २९ कार्तिक सवत २००० (१५ नवम्बर १९४३) के 'प्रसादजी एक निकट दर्शन' शीर्षक सस्मरण में अन्तेवासी डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा द्वारा उद्धृत एव प्रसाद-वाङ्मय के परिशिष्ट-खण्ड में अन्य अप्रकाशित-साहित्य के साथ मुद्रित।

होते देशो की परस्पर दूरी घटाते जा रहे थे और मानव समुदाय की देशवाची जातिया एक दूसरे के समीपतर आती जा रही थी। ऐसी दशा मे अन्योन्य-सघट्ट और विनिमय अवश्यभावी थे तब भापा के स्वरूप विकास और अभिव्यक्ति की विधाओ म अनुरूप परिवत्तन भी स्वाभाविक हुये।

अग्रत, हिन्दी साहित्य मे आगत घटनाओ को इस वैश्व परिप्रेक्ष्य मे देखना समुचित होगा जिसमे आगामी परिवत्तनो की पीठिका प्रस्तुत हो रही थी। हिन्दी सरचना की प्रवृत्तियाँ सजग होने लगी, उसका गद्य देह गदराने लगा और काव्य-पुरुप ब्रज के तमालकुँजो से निकल कर आलोक के नये आयाम ढूँढने लगा। अब राजनीतिक-विज्ञान और वैज्ञानिक राजनीति यहाँ की रुढ विचार शृखलाओ के झकझोर कर टूटने और नये सिरे से अपनी पुनरचना करने को बाध्य कर रहे थे।

यहाँ की सामाजिक राजनीतिक दशा-दुर्बलता और आर्थिक सम्भावनाओ का आकलन विश्लेपण कर सोलहवी शती समाप्त होते-होते अग्रेज एक निष्कप पर आ चुके थे और इस गोलाद्ध के प्रति वे एक व्यापक नीति को नियोजित और चरिताथ करने लगे थे। उनके स्पर्द्धी हुये डच, फरासोसी और पुतगाली। किन्तु, विपुल नौशक्ति अपनी कूट-मेधा तथा अन्यान्य राजनीतिक योगायोगो के बल अग्रेजो ने यारोप मे ही उन्हे यथासम्भव उलझाये रखा और यहा भी आगे नही बढने दिया। अग्रेज तब मनसा और वाचा भी, अपने को यहाँ का नियायक मान चुके थे और कमणा उनके पाँव शासन-पीठ पर जमने लगे थे। सत्रहवी शती को वे अपने पूर्वी साम्राज्य के प्रारम्भिक दिन कहते थे।[1]

---

1 At present time it may be not altogether uninteresting to recall the terms in which our country men addressed the king of Ava nearly 200 years ago The letter goes on to say your majesty having been plaeased to grant your special favours to Honourable English company whose servant I am ' at the time this letter was despatched the king of Ava was by no means a powerful monarch But in those early days of our Eastern Emp re the the principale of Omneignotum pro magnificio was a force in very cogent operation '

(Times of India—April 12th 1875)

एलिजावेथ—शासन के अन्तिम दिनो मे ईस्ट इण्डिया कम्पनीगठित हुई भारत से व्यवहार करने का रानी ने उसे पन्द्रह वर्षो का इजारा दे दिया, प्रकारान्तर से निर्माणाधीन साम्राज्य की नीव तैयार करने का यह ठीका था। अपने समय की प्रबल नौशक्ति के सरक्षण मे कुल ७२००० पौड और पाँच जहाजो की पूँजी से 'कम्पनी का भारत-अभियान चालू हुआ समापन के समय "कम्पनी" की पूँजी विपुल जहाजी वेडे के अतिरिक्त छ लाख पौड था क्लाइव और हेस्टिंग्स जैसा के अनेक निजी कोषो म कितनी राशि थी इसके आकडे तो सुलभ नही किन्तु उस देश की सहसा समृद्धि से एक अनुमान लग सकता है। ईसवीय १६०१ मे कम्पनी यहा आई और १६१२ मे उसकी पहली कोठो सूरत म खुली एसी कोठियो को वे फैक्टरी कहते थे, तथ्यत उनम साम्राज्य निर्माण के कील काँटे प्रस्तुत होते थे। जब वे भारत परिक्रमा मे मद्रास पहुँचे तव उस अबोध हिन्दू राजा ने नगर उनके हाथो बेंच दिया उस भूमि पर पहला आग्ल-दुग फोर्ट-सेंट-जाज १६४० मे बना। "कम्पनी की काउन्सिल वहा से व्यवसाय और कूटनीति का ताना-बाना ल साम्राज्य की चादर बुनने लगी।

"पिला साकिया पुतगाली शराब हुबावो प उडता है जिसके शबाब" मे आकण्ठ डूबे, डूबते मुगलो ने एक मामूली से फरमान क लहजे मे मुबई बख्श दिया और पुतगाल उसका जिमीदार हो गया किन्तु अग्रजो की भाँति उनकी सागरीय-दृष्टि होती तो पुतगाल अपने अग्रेज जामाता राजा चाल्स को दहेज मे मुम्बई न देता। फिर, अरब समुद्र के इस पत्तन पर पुतगाली प्रभाव का ऐतिहासिक अथ कुछ दूसरा ही होता।

अब मुबई और मद्रास मे बैठे गोरो के सम्मुख पूर्वी जगत का समृद्धि निचय भारत का उत्तरापथ था जिसको अगला उन्होंने दक्षिण और पूव से खोलना प्रारम्भ किया, इस नई ऐतिहासिक करवट का कारण अग्रेजी नौशक्ति और उनके उन्नत यन्त्र-कौशल हो नही समया-नुसारी क्षिप्र-गतिचार भी रहे।

नितराम्, अन्न के वखारो और मणि हिरण्य की थैलियो से भरे पूरे गौड-मगध-अन्तर्वेद-पचनद की साहसिक यात्रा मे अग्रेजो का द्वितीय पग उठा। कटक मे दिल्ली के 'गुमाश्त" आगामुहम्मद के पाँव चूम अग्रज सल्तनत की छाती पर चढने लगे।

विदेशो मे हो रही यान्त्रिकी भौतिक प्रगति और उनके चलते

अनिवाय सम्भावनायें यहा के 'नशेमन' शासको ने वेमतलब की वात समझी उसे समीप से जा कर देखने समझने मे एक और मुसलमानी आरामतलबी और 'मिजाजेखास' तो दूसरी और हिन्दुओ का तथाकथित धम, बाधक बने। वेठन की सात परतो मे बँधा पचतन्त्र पुकार रहा था —

विद्या वित्त शिरप तावन्नाप्नाति मानव सम्यक्
यावद् व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तर हृष्ट

अब भारत को पूरी तौर से कद करने के लिये अग्रेजी कारखानो और वहाँ के शासनयन्त्र के समन्वय सम्मादन पूवक बनी 'लैनडारी सागर की लहरो पर चढती चली आ रही थी।

अग्रेजो की उस साहसिक-यात्रा मे हुगली-कलकत्ता कासिमबाजार मुर्शिदाबाद, सिराजुद्दौला मीरजाफर-जगतसेठ-अमीचद और पलासी की क्लाइव-कथायें आती ह पटना बक्सर पार किये जाते ह और शामे-अवध लखनऊ की शामत आती है और फिर चिरागे दिल्ली की आखिरी लौ मराठा तूफान और अग्रजी आधी की टक्कर मे बुझ जाती है और तब, वह 'सल्तनत नूरेजहाँ' की खूब हो कर खराब हा जाती है।

पूर्वीय गालाद्ध की सचित समृद्धि और उसके जीवन्त स्रोता का दाहन एक विज्ञान सम्मत और अपने मौलिक ढग से अग्रेज करना चाहते उन्ह न तो किसी गजनवी या नादिरशाह की भाति यहाँ से लूट कर भागना था न मुगलो की भाँति यहाँ की सस्कृति म घुल कर यही वस जाना था अपितु, यहा एक इन्द्रकील गाड विश्वजनीन परिस्थितियो के घात प्रतिघात देखते इच्छानुसार यथाशक्ति कालव्यापी आदोहन करना था ऐसे घटनाक्रम की प्ररिका, एक एतिहासिक मोड लाने वाली अग्रेजी औद्योगिक क्रान्ति थी और जा कि पक्षान्तरत सामन्तशाही के विकृत शव से पूजीवाद के महाकीट का उद्भव था।

जब, विशाल वाष्पीय अभियन्त्रणो से इगलैण्ड के कारखाने अभिभूत हो गये, उत्पादन की गति दिन दूनी रात चौगुनी बढने लगी तब अग्रेजो के सम्मुख दो प्रश्न थे, कच्चे माल का आयात और उत्पादित सामग्री का निर्यात और, भारत इन समकालीन प्रश्नो का उत्तर वडी सरलता से बन गया। यह क्राति प्राय अठारहवी शती के मध्य से चालू रही यद्यपि अन्य देशा ने अनुगमन की चेष्टायें की किन्तु अग्रेज दौड म आगे

जा चुके थे और उनकी प्राय सभी योजनायें आश्चर्यजनक ढग से चरितार्थ होती गईं। उस उदीयमान राष्ट्र की दो भुजायें औद्योगिक कर्मान्त (कारखाने) और उनके सरक्षण-पोषण के लिये विपुल नौशक्ति प्रचड होती गई। मैक्सिको की चादी, ढाका का मलमल, मुर्शिदाबादी सिल्क ही नही सर्वाधिक सामरिक महत्व की वस्तु पटना का शोरा, जिसमे कम्पनी की आधी पूँजी लग रही थी, ले जाना और उत्पादनो से उन सार्वदेशिक बाजारो को पाट देना अग्रेजी साहस और धैर्य का परिणाम था जो पृथग्ग्रीव हो कर भी एकोदर होता है। शोरे मे अधिकाधिक पूजी लगने की वृत्ति को आज के शस्त्रीकरण-ससार का प्रजापति कहा जा सकता है। अग्रेज सदैव तोपो की बारूद उष्ण और विषम बनाये रखने मे विश्वास करते थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का "तिजारती" उपक्रम अब सैनिक-हस्तक्षेप के माध्यम से राजनीतिक प्रभुत्व बनने वाला था। बडे मस्तूलो वाली महानौकाओ का स्थान भाप से चलने वाले शतघ्नि मडित भीमकाय जहाज ले चले और टोपीदार बारूदी कडबीना (कारबाइन) की जगह कारतूसी राइफिलें लने लगी और भारत के पास उन्ही से प्राप्त ये रणोपकरण यदि थे भी तो अल्प और पारस्परिक निणयो के लिये ही प्रयुक्त होते रहे। टीपू या सिराजुद्दौला की प्रतिकूल गतिविधियो को पहली उभार मे ही अग्रेजो ने कौशल से दबोच दिया। ऐसे उपकरणो और टेलिग्राफ आदि साधनो से सम्पन्न हो कर अपनी महत्वाकाक्षा और साहस को निर्णायक सीमा तक ले जाने के अथ अग्रेज अब समथ और सन्नद्ध थे। उन्होने अपने साहस हमारी क्षमता और विचारधारा का गुणनफल निकाल लिया था।

भारत की दशाओ और अवस्थाओ का ब्रिटिश-पार्लमेंट ने जब ईस्ट इडिया कम्पनी के 'टेस्टट्यूब' म रासायनिक परीक्षण पूरा कर लिया तब एक लघुवर्गीय प्रभुता-सम्पन्न कम्पनी निरथक हो गई। अग्रेजो-शासनतन्त्र ने अपने मौलिक कौशल से सामाजिक न्याय और धम-सरक्षण की दुहाई देते यहाँ का शासन स्वायत्त कर लिया इम्पीचमेंट का नाटक हुआ बर्क ने लम्बा नान्दीपाठ किया हेस्टिंग्स द्वारा कृत-कारयित कर्मो का ऐसा चित्र खीचा गया जिसे देख रमणियाँ मूर्च्छित हो गईं। देश-विदेश म अग्रेजो के न्याय निष्ठा का यश फैले, 'कम्पनी' के भागीदारो के प्रति शासन 'पाकदामन' भी रहे साथ ही विशाल साम्राज्य अनायास मिल जाय ऐसे "पवित्र" उद्देश्यो से पार्लमेंट ने उपनिवेश-

पय त एक अर्द्धग्रामेवीय शृखला थी जिसकी कडियो रा निमाण शासन के प्रति निष्ठा और उसकी सेवाश्रित कृपापात्रता के गाने के आधीन रहा आग्ल सिंहासन के प्रति निष्ठा और भक्ति वहा एवमेव अहता बनी थी। अल्पवित्त या शून्य वित्त कृषक जिमीदारी त्रास और अतिचार की छाया म अपने टटे बैल ल र धरती माता की छाती कुरेदता अपने क्षाम कण्ठ सीचने को बिलखता रहा वणिक् समुदाय विदेशी आयाता के अस्वस्थ बहाव मे सहायक बन अन्धी बिल्ली की भाँति घर मे ही शिकार करता रहा। छोटे से बडे पयन्त सभी शोषक-वग मात्स्य न्याय मे परस्पर एक दूसरे को खाने के उपक्रम म लगे थे आर्थिक अराजकता की ऐसी दशा म भारत अग्रेजो को गाठ बँधा। कलकत्ता-बम्बई के उपकण्ठो पर विपुल क ऊ कारखाने चालू हो गये और ग्रामीण-कृषक श्रमिक बनने लगे वणिक् वाणिज्य की वस्तुयें लेकर 'परदेस कमाने जाता था और ग्रामोण वहाँ अपना श्रम बेचने जाता था समुद्रपारीय देशा म भी, क्योकि उसे गन्ने की खेती आती थी और श्रम मूल्य भी नगण्य था। जिमीदार देश म बेगार लेता था और उसके प्रभु समुद्र पारीय उपनिवेशो म। भारत की सात पीढ़िया इस अन्धकार म चीखती चिल्लाती विलीन हो गई।

शाब्द-व्यवहार मे, मुसलमानी सल्तनत के वारिस ब्रिटिशइल ने यथास्थिति विद्यमान रखने म सुविधा देखी। सल्तनत से कम्पनी जिस भाषा म व्यवहार करती थी उसमे और अँग्रेजी म प्राय समान गति रखने वाले 'राइटरा' से कलकत्ता की वह राइटस विल्डिंग भरी रहती थी जहा शासन के सम्पक-सूत्र जुडे थे और निरन्तर शासनादेशो का प्रवाह जारी था। वह भवन, एक प्रकार से बाबू उत्पादन का अग्रेजी कारखाना बना। राजकीय व्यवहार की वह भाषा जनसामा य के कितनी समीप है, इसकी चिन्ता गोरे क्यो करते और बाबू-पदवाच्य काले साहब तो उनके अनुवर्ती ही थे। ऐसी भाषा नीति के अनुमोदन म, काशी के राजा शिवप्रसाद को 'स्टार आफ इण्डिया की पदवी मिली। उनके कृतित्व के शोध म ज्ञातव्य होगा कि उनमे पटना मुर्शिदाबाद की जगतसेठ वाली वह आग्ल समथक परम्परा थी जिसने हेस्टिग्स को मौत से बचा कर डूबते अग्रजी बेडे को उबारा था (द्रष्टव्य भाषा कल्पसूत्र, नवलकिशोर प्रस १८८७)। वस्तुत यह सितार ए हिन्द का खिताब उस वश की सेवाओ की तुलना मे कुछ नही था यदि उनके स्थान पर कोई अग्रेज होता तो नेल्सन जैसी प्रतिष्ठा का अधिकारी बनता।

फिर भी नागरी लिपि के लिये उनका दीवानापन श्लाघनीय था बनारस की अदालत मे बैठ कर वे नागरी लिपि मे बिना 'उजरत' मस्विदे लिखते थे। किन्तु भाषा के सगठन परिष्करण पर दृष्टि श्री हरिश्चन्द्र की थी और वस्तुत साहित्य-साधना मे रक बने उस प्रेमयोगी को जन सामान्य ने भारतेन्दु पद दे राजतन्त्र द्वारा बाधे गये भाषायी मोर्चे पर एक जवाबी हमला किया। श्री हरिश्चन्द्र को लोक-पक्ष से मिला सम्मान किसी भी राजकीय उपाधि से कोटिगुण महनीय था। अग्रेजी सितारे की "बुलन्दी" और "गर्की" उभयावस्थाओ मे भारतेन्दु का आसन अविचाल्य और ऐतिहासिक बन गया।

युग की वाणी ने भारतेन्दु के माध्यम से हिन्दी म अभिव्यक्ति पायी फिर हिन्दी उसे युग-युग तक क्यो न सजोये ? जिस स्नेह से उन्होने नागरी की माग भरी, बेजोड है। निश्चय ही अमीचन्द के उम वशधर के गूढ व्यग, उनका उदात्त स्वाभिमान और उससे भी बढ कर 'जीहुजूरी' का अत्यन्ताभाव अग्रेजो की दृष्टि मे ये सभी खटकने वाली वस्तुयें थी उनकी यथास्थिति वाली नीति के राग मे ये विवादी स्वर थे अमीचन्द के वशधर श्री हरिश्चन्द्र से जन्मना "कजर्वेटिव" अग्रेजो को कुछ दूसरी ही आशायें रही होगी किन्तु अपने कृतित्व की पूँजी से वे एक सास्कृतिक ऋण का शोध कर गये। सत्तावन के जले सत्तावान अग्रेजो ने उनके व्यक्तित्व मे विद्रोह की ग ध पायी हो तो कुछ आश्चय नही। अभिजात वणिक धम के अनुरोध से सुखसाज सजे भारतीय मध्यवग को उन्होने जो चेतावनी थी वही तो आगामी स्वदेशी-आन्दोलन का बीजमन्त्र बना जिसके धन-जटा-युक्त सस्वर पाठ से एक दूसरे वणिक्पुत्र गाधी के हाथो दुर्दान्त अग्रेजी राज समापन का हुआ। इसी बीजमन्त्र की पूण पद प्रतिष्ठा १९४२ के 'क्विट इण्डिया' मे हुई एक निरीह नि शस्त्र दास-देश के तेजस्वी आज्ञाचक्र से विदेशी राजतन्त्र को सही और कठोर आदेश मिला, जिसकी उपेक्षा क्या सम्भव थी ?

प्राची क्षितिज मे उठती अरुणिमा को अनदेखा रखने वाले वे 'मानवता के समतल पर चलता फिरता हो दम्भस्तूप'—कल्प अपने अह-कार के प्रहरी, किंवा, अग्रेजो द्वारा नवारोपित राजन्य, अपनी निरीह प्रजा के सम्मुख दुर्दान्त सिह रूप थे वे ही अपने स्रष्टा के समक्ष स्वण-शृखल अवनतशिर दासानुदास बनते जा रहे थे। सम्राट् का 'पेज' बन जाना उनके लिये एक स्पृहणीय त्रिभुवन सम्पदा थी। वास्तविकता पर विडम्बना का आवरण, जैसे उनकी शोभा बन गई थी। कृत्रिम दम्भ के

उन्नयन म जहाँ उन्हे तोपो की नियत सलामी जैसे आडम्बरो का प्रमुख भाग था वही उन्ह कण, भीम और वृहस्पति बताने वाली प्रशस्तियाँ 'लुक्मानी कुश्ते' का काम करता थी। प्राय, दरबारो के हाथी घोडा, गायक-वादको और छत्र चामर के विपुल तामझाम म नागरासी बाचने वाले नियत और वृत्ति शोध मे आगत छन्द कर्मियो का भी एक स्थान था कभी कभी उनकी 'बानी' और छन्दो पर राजा अपनी 'मर्जी मुताबिक' स्वीय छाप लगा कर अनायास काव्य धुरीण भी बन जाता था। गद्य का साहित्यिक व्यवहार शून्य प्राय था दरबारा म 'किस्सागो' होते थे जो 'दास्ताने अमीर हम्जा' या 'किस्सा अलिफलैला' जैसी रचनाओ के पाठ स कुतूहल की सृष्टि करते थे। ऐसा नही कि सुनने वाले सभी निरक्षर हो किन्तु वहा आखो की सार्थकता लावण्य-भोग मे ही मानी जाती थी। वैसे अपवाद भी रहे जा उस परिवेश म भी उदात्त विचार और कम से सम्पन्न थे किन्तु उनके प्रति गोरे शकालु रहते थे। इस मोह निशा के प्रमादी अन्धकार को अब अतीत की कथा बनना था। सुतराम्, जनमानस म सामूहिक चेतना एक विराट् आलोडन लेने लगी, जिससे जुडा था युग के अभिव्यक्ति की भाषा का विकास। अब, आगामी जागरण की प्रभाती गा कर हिन्दी का भविष्य बनाने वाले भारतेन्दु आ चुके थे देश और काल के विविधस्रोतो ने हिन्दी की स्वरूप-सरचना के उपादान जुटाये जिसम वर्ग विशेष नही अपितु समग्र जनमानस की सहज अभिव्यक्ति की समूची सभावनायें विद्यमान थी। इसे सवादी परिवेश प्रभाव प्रसग भी मिला यद्यपि रूढि के विवादी स्वरो की कमी न थी, किन्तु वे भी उसको प्रगति पुष्टि में सहायक ही सिद्ध हुए और टटे-छूटे दुबल अगो को सहेजने सभालने की हिन्दी को सुधि आती गई। अवरोध का प्रत्येक व्यवधान भाषा शक्ति की विकास मे वरदान बना। आर्थिक दोहन, राजनीतिक-भयादोहन एव सामाजिक धार्मिक विडम्बनो के चलते, हुए ध्वसो स एक नये निर्माण क लिये वाङ्मय-पुरुष जब चैतन्य-भाव के प्रति उद्यत हुआ, तब, वैसी जागरण की बेला म उसकी बोली यदि 'खडी' हुई तो विस्मय क्या? निरावृत तथ्य, असहाय-व्याकुलता निराशा, आशा प्रत्याशा, समन्वय विद्रोह आदि द्वन्द्वा के नाना रूप-प्रकार साहित्य मे आने लगे। भाषा 'दरबारा शिकजे' और महलो के विलास पर्यंक मे छूट सामान्य स्पन्दनो के शाश्वत लय मे घुल चली। अब, युग वेदना की वास्तविक अभिव्यक्ति से लोक-मगल का यज्ञ प्रथित होने वाला था।

आफ्रिका मे गोरो के काले-कारनामे देख भुगत कर गाधी जी यहा आ चुके थे। विश्व के अन्य देशा (उपनिवेशो) मे भी प्रगट अग्रेजो के वास्तविक रूप से यहा भारत का परिचित और सावधान कराने वाले कदाचित् वे पहले व्यक्ति थे। यद्यपि, तिलक और गोखले की गगा यमुना (गाधीजी के शब्दो म) भारत भूमिपर विदेशी शासन के कलुष को प्रक्षालित करने के लिये अग्रसर हो चुकी थी तद्यपि उनके समन्वय का सगम शेष रहा, जो गाधीजी के व्यक्तित्व मे भारत का उपलब्ध हुआ। नीलकोठी वाले गोरो के अतिचार, वग-भग, बलशोई क्राति से प्रेरणा प्राप्त 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी' की गतिविधिया, 'शहादत' की उमडती लहरें परस्पर 'घनीभूत' होने लगी। अग्रेजो ने हवा का रुख देख 'डोमीनियनस्टेटस' और थोडे बहुत शासकीय सुधारो का जाल फॅका जिसमे जाने अनजाने कुछ बडी मछलिया फॅस गई, प्राय वे ही जो छोटी मछलियो को निगल कर जीवित रहना चाहती थी और जो 'ब्रिटिशरूल' का मगल कुछ निजी कारणो से चाहती थी कदाचित् उन्ही सस्कारो के वशवर्त्ती आज के अग्रेजी समथक वग हैं। उन्होने जनता का नेतृत्व करने के लिये एक सस्था बना रखी थी (काग्रेस)। बोधोन्मुखी भारतीय चेतना को नियन्त्रित रखने के लिये 'ब्रिटिश' कूट मेधा की यह सामान्य उपज थी यह तो भारत का सौभाग्य है जो इतिहास के उन क्षणा का गरल आज अमृत बन गया। किन्तु, इस सुधारवादी नेतृत्व को, जो तब शास्त्राथ से ही स्वराज्य चाहता था आगे चल कर स्वातन्त्र्य-सग्राम से पथक होना पडा और स्वराज्य की उसकी परिभाषा अथहीन हो गई। अब मैदान मे शस्त्रार्थी भी आ गये थे। भारतीय प्रजा एक 'आतिशी' मोर्चा बाध रही थी अब भारत पूण स्व राज्य से रचमात्र कम की बात सोच भी नही सकता था। पहले महायुद्ध के बाद किये गये अग्रेजो की 'वादाखिलाफी' से भारत का वह अहिंसावादी नेतृत्व भी आस्था खो चुका था जो अपनी अहिसा को 'बालाएताक' रख अग्रेजो की ओर से युद्ध करने का भारतवासियो को निर्देश दे चुका था आम-सैनिक भरती के पक्ष म बोल डोल चुका था और भारतमाता की जय बोलते उसकी असख्य सन्तानो की बलि आग्लहितो की वेदी पर दे चुका था।

नितराम्, हिन्दुस्तान मे प्रश्न उठा आत्म निणय का और उसकी भारती (भाषा) हिन्दी मे आत्माभिव्यक्ति का। यह कोई आकस्मिक सयोग नही था उभय प्रश्नो का मूल सामूहिक चेतना की सुषुप्ति और जागरण से जुडा था।

क्रान्ति के युग म लोक चेतना असाधारण रूप से गतिशील और प्रखर हो उठती है असामान्य और त्वरित परिवर्तनों के प्रतिरूप प्रक्षिप्त हो पदार्थ के स्तर पर आते हैं वस्तुत क्रान्ति का मौलिक स्वरूप-सगठन उस जवीयसी चैतस्-पीठिका से ही चलता है जिसके सन्देश वाङ्मय के माध्यम से लोक धरा पर आते हैं अन्य शब्दो में क्रान्ति का द्वितीय चरण वाङ्मय भूमि पर पडता है फिर तो वह अगति के जीर्णकाण्ड वन की दावा बन जाती है। यदि चेतना के स्तर और वैचारिक भूमि पर मागलिक परिवर्तन की अभीप्सा का जागरण नही है तो क्रान्ति का अर्थ पाशव-सघर्ष के अतिरिक्त कुछ न होगा इसी लिये हमारी परम्परा क्रान्ति को चेतना के स्तर पर पहले देखती है फिर बाद मे परिणामत उसकी अन्विति पदार्थ के स्तर पर करती है। नेहरूजी ने सही कहा है—

"During a revolutionary period history seems to search with seven leaque boots There are rapid changes outwordly but an even greater change takes place in the consciousness of the masses' (Glimpses of world history)

अभिव्यक्ति की पूरी स्वतन्त्रता और साहित्यिक रूढियो के उच्छेद का कोई भी विकल्प अब हिन्दी को स्वीकार न था एक प्राजल गरिमा में वह अपना परिशुद्ध रूप स्थिर कर लेना चाहती थी। साहित्य म भी विक्टोरियायी मूल्या वाली सुधार-परक वृत्तिया अग्रसर थी जिसे उत्तर—भारतेन्दु और प्राक् प्रसाद काल का विष्कम्भ कहा जा सकता है और, जो यथार्थ पर आदर्श का आवरण डाले रखना चाहती थी। यथार्थ का प्रकटीकरण अग्रेजो को कैसे प्रिय होता, वह तो विप्लव-गर्भित था। साहित्य में वैसे विक्टोरियायी दृष्टिसम्पन्न वर्ग की उसी प्रकार समाप्ति हुई जिस प्रकार उनके सुधारवादी राजनीतिक प्रतिरूप निरस्त हुये।

अब एक साहित्यिक क्रान्ति आसन्न थी जिसम आयातित विक्टोरियायी मूल्या का विरोध स्वाभाविक था। रीतिकलीन विगतार्थ वृत्तिया के प्रतिक्रिया रूप यह वैसे ही सम्पन्न हुआ जैसे कभी वैदिक यज्ञवाद बौद्ध अहिंसावाद द्वारा प्रतिकृत हुआ था। विकल्पत सुधारवादी पक्ष की भी अपनी कुछ ऐतिहासिक सार्थकता रही उसका भावयोग सास्कृतिक लोकयात्रा मे अपना एक आवसथ रखता है जहा से सामूहिक चेतना एक विराम लगाती सकल्पात्मक नवक्रम की ओर पग बढाती है और विकल्प का स्थान सकल्प लेने लगता है—

मेरे विकल्प सकल्प बनें जीवन हो कर्मों की पुकार (इडा-कामायनी)

सुतराम्, आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक बन्धना से मुक्ति की बलवती अभीप्सा में, भारत की दासभूत प्रजा ने अपनी इयत्ता की सहज अभिव्यक्ति में, रावी के तट पर जैसी सकल्पमयी घोषणा की—'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम पूर्ण-स्वराज्य ही लेना है' वैसी ही घोषणा, विकल्प के पाश बँधे और रूढि के अकुश से बिंधे मनोमय भाव-जगत द्वारा अपनी शब्दमयी अभिव्यक्ति के अर्थ हुई। उस सामान्य-भूत भाव-जगत में काव्य के मौलिक प्रयोजनीयता का प्रश्न सर्वथा नये परिवेश में उठा जिसके उत्तर में काव्य के उद्‌भव और सहजरूप को परिभाषित करते जाह्नवी के कूल पर प्रसाद भारती ने एक सूत्र दिया 'काव्य आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति है'।

समाज और साहित्य उभय स्तरों के ऐसे उन्मेष, बोधोन्मुखी-समष्टि चेतना के क्रमिक विकास के परिणाम थे, जिनका घटित होना कोई अक्रम-आकस्मिकता नहीं अपितु तारतम्य-गठित ऐतिहासिक तथ्यों की स-क्रम निष्पत्ति के अवश्यम्भावी फल थे, जिनका मूल्य-महत्व परस्पर समान है और प्रभाव दूरव्यापी।

समष्टि चेतना में ज्ञान की उस अनन्य सत्ता, उसकी अभग धारा, उसके अद्वयमूर्त्ति की सुधि जागी जिसे तद्यावधि एक व्यक्तिगत अवाप्ति और निजी सम्पदा के रूप से देखने की भूल की जाती थी, और वैयक्तिक अनुभूतियों के स्तर पर यदा-कदा उदित होने वाले जिस ज्ञान के अशो को मात्र दर्शन की निधि कह प्रकाण्ड पिटकों में बन्द कर दिया था। अद्यावधि-कथित दर्शन अस्ति-नास्ति विवेक-परक-व्यायाम शेष हो रसभिन्न बना है। फिर भी 'रसो वै स' कहा जाता है किमाश्चर्यमत परम्।

वैसे दर्शन सज्ञावाप्त स्फुरण का साहित्य से कोई तात्पर्य अथवा सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कह कर तो श्रेयमय चिन्तन की प्रेयमयी-अभिव्यक्ति-वीथी को सर्वथा वर्जित कर देना होगा। ऐसा करने से दर्शन, साहित्य और सस्कृति किसी के प्रति न्याय न होगा ऐसी विचारधारा साहित्य की मूल प्रयोजनीयता को अनुदात्त बनाये रखने के अर्थ उत्तरदायी है जिस पर दर्शन के मनीषी और साहित्य के कृती एक समन्वित चिन्तन का अभी अवकाश न पा सके यदि किसी ने ध्यान दिलाया अथवा सकेत किया तो उस पर आध्यात्मिकता का चन्दन-लेप चढा देवायतन की अर्गला में डाल उसे सामान्य स्पर्श की वस्तु बनने से रोक

दिया गया सुतराम् सस्कृति के उभय बाहु, दशन और साहित्य भिन्न देहमस्थानीय वन अपने दायित्व से विमुख हो गये एक ने मणिदोप खोया दूसरे ने मधुधारा का तिरस्कार किया। वे उभय बाहु, सस्कृति का स्थिति निष्ठ वस्तु मान इस गतिशील जगत को सूखे वक्षो के आरक्षित वन से कटकित रखने मे ही अपना कत्तव्य मान बैठे किन्तु सस्कृति चाहे जैसे परिभाषित की जाय, सस्करणा की अनवरत क्रिया म होने वाले माजन में ही उसका प्राण मिलेगा हाँ, उसकी अन्तरग भमि में उस शाश्वती सत्ता को भी स्वीकार करना होगा जो सत्ताभावेन उस क्रियापदीया सस्कृति में मौलिक वस्तु रूप रह सस्करणो के आरोप स्वीकार करती है वह मानव समाज क अन्तर्जात श्रेय और प्रय का समन्वित-समरस और अभिन्न सकल्प है, जिसका उदित शृगार ही सस्कृति के रूप लेता है चाहे उसे जानपद सीमा में घेर रखा जाय अथवा आब्रह्मस्तम्ब स्फीत कर दिया जाय। ऐसे सकल्प की सस्करण पदा गति के रुकने का अथ होगा असस्कृति की भाव प्रतिष्ठा और किसी लघु परिसीमन का परिणाम होगा आत्मसकोच न कि आत्म विस्तार। फिर, अनागत मे प्रत्यह वत्तमान मे आते रहने वाले गतिगुणो के निषेध द्वारा अतीत के विगताथ-प्राय को वत्तमान म एकमेव साथकता देने का प्रसगोपात्त उपक्रम, कान्तार-कूपि तुल्य ही होगा। परिसीमनो से बहुगुणित इकाइयाँ परस्पर क्षुब्ध हो सघष की भूमिका प्रस्तुत करती है तब समान क्षुत्पिपासा वाला पाणिपादमय मानव अपनी महासहति को शतधा सहस्त्रधा विखण्डित कर कराहता है क्वचित् भौगोलिक अव स्थितियो से ऐतिह्य दशाओ की धरा बनती है, जिस पर ऐसे खण्डन मेघ की वेदिया प्रज्वलित होती हैं। समाज और उसके धर्मों के नियामक अध्वयु-उद्गाता बनते हैं किन्तु, समिधा बनती है मानव की वही नैसर्गिक महासहति जिसके छन्द आज बिखरते जा रहे ह।

ऐसे चातुरन्त अन्धकार से घिरी समष्टि चेतना को जागरण और आलोक की महती आवश्यकता थी वह दिशा चाहे साहित्य की हो, दर्शन की हो, राजनीति की हो अथवा समाज की अन्यान्य किसी भी प्रवत्ति की।

ऐसे आलोक जागरण का सन्देश प्रसाद भारती देती है उसने बताया कि व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रो के न रहने पर भी सत्य या श्रेय ज्ञान कही चला नही जाता वह सामान्य-स्पन्दतया सदैव विद्यमान रहता है मनन की असाधारण अवस्था किंवा विशेष-स्पन्द मे सत्य की मौलिक चारु मूर्ति

आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति बनती है जो काव्य का प्रयोजनीय मूल है। इसी सत्य या श्रेय ज्ञान की किरणें नाना संस्कृतियों के दर्पण में उस मूल आलोक की ऊर्जस्वल अभिव्यक्ति करती हैं यह अभिव्यक्ति सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण करती प्रेममयी होती है। ऐसी प्रतीति में भाषा, देश और संस्कृति के भेद भिन्न प्रत्यवाय कुछ अर्थ नहीं रखते। ज्ञानानुभूति के निरपेक्ष शब्दानुवेध का सज्ञान-बोध ऐसी विशिष्ट दशा में सम्पन्न होता है जिसमें अनुभूति केन्द्र चेतना, सर्वप्राणि स्वात्मतया स्थित और अभिन्न प्रेमास्पदीभूता चित्कला से भाव-संयोजन की दशा में विहार करती है और ऐसा सभी भेद भिन्न संस्कारों के सम्यक् विलयन के अनन्तर ही सम्भव है।

प्रसाद-वाङ्मय का प्रस्थान बिन्दु, उसका क्रम विकास और उसकी चरम-उपलब्धि का पुंजीभूत कलेवर ऐसे उपादानों से गठित है जो, निष्ठा-पुष्ट, समसूत्रीय और प्राग्विविक्त हैं कोई पश्चाद्विचारगत-परिवर्त्तन-परावर्त्तन वहाँ अनुमेय भी नहीं। काव्य की मूल प्रयोजनीयता के अन्वयन में उसके उत्स आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति तत उसकी अभिव्यक्ति के सम्प्रेषण में भावसाक्षात्कारानुसारी वर्ण विकल्पचय की विधायिका सृष्टि होनी अनिवार्य थी चाहे उसे शैली या विधा अथवा कुछ भी कहा जाय। अपनी गरिमा में वैसी ओजवती सृष्टि अनन्यपक्षिणी होने से यदि पूर्ण कही जाय तो कदाचित् अनुचित न होगा। काव्य शैली, चिन्तन के आयाम एक अभिनव आलोक में यथावत् दीपित हुए। परिणामत, उनके ग्रहण प्रेषण की शैली मौलिकता स्वाभाविक थी उसी के संज्ञायन में, वस्तुत निर्विवाद को वादभुक्त बना, जाने अनजाने एक नाम दे दिया गया—छायावाद।

हिन्दी साहित्य में इस आगत परिवेश से अपना तादात्म्य न कर पाने से पुरातन केतुवाहकों ने अपनी सम्पूर्ण क्षमता से इसका विरोध किया तब के अतिजिष्णु महारथी स्यात् अपने दुर्बलतावश छायावाद के प्रति निर्मम और असहिष्णु हो गये यद्यपि उनके तर्क स्वोच्छेदी रहे और वह विरोध प्राय विरोधमात्र के लिये ही सिद्ध हुआ, किसी संस्थापना के अर्थ नहीं। छायावाद को निकृष्ट और आयातित ठहराया गया। जब कि समीक्षा के उनके अपने सिद्धान्त विदेशीय अनुकृति रहे अथवा विगतार्थ और अमान्यीकृत कुछ रूढ़ मान्यतायें उनके तर्क की आधार शिलायें बनी थीं। वस्तुत उन्हीं लोगों ने इस नई धारा को छायावाद कहा कदाचित् कूटत और शब्द कौशल से इसे हेय बताया गया

कदर्थना की उनकी यह अपनी साहित्यिक 'रीति' थी। क्षेमेन्द्र ने जिन कवि कोटियो का उल्लेख किया है उनमे छायोपजीवी पहले आते है—

छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवो सकलोपजीवी
भवेदथप्राप्तकवित्वजीवी स्वोन्मेपतो वा भुवनोपजीव्य
(कविकठाभरण)

किसी के दुर्व्यवहार को भूल जाना अथवा उसकी उपेक्षा करना यदि सबल की क्षमाशक्ति का परिचायक हो सकता है तो दुर्बल का पलायन भी कहा जा सकता है किन्तु वैसी दशा मे, किंवा प्राप्त कदर्थना से भो एक अनुकूल सवाद-मर्ति गढ लेना उस पर विजय की परिभाषा होगी। कामायनी दृष्टि सदैव इसी दिशा म देखती है 'कौन उपाय गरल को कैसे अमृत बना पावेगा'। 'विपमप्यमृतायते' की साधना म निखिल विश्व का विप' पीने वाले की करुणा से ही 'सृष्टि जियेगी फिर से' और 'विजयिनी मानवता हो जाय' चरितार्थ होगा सुतराम छायावाद के कदर्थनाकारी सज्ञायन को प्रसाद भारती से एक अभिजात अर्थवत्ता मिली जिसे इस सज्ञायन अथवा नाम निरूपण का समर्थन नही अपितु विप का अमृतीकरण कहना अधिक समीचीन रहेगा। निश्चय ही, प्रसाद वाङ्मय म प्राप्त छायावाद नाम की व्याख्या उसकी स्वीकृति के अर्थ म ले लेना, भूल है। उसे तो प्राप्त विष म अमृतत्व देखने की चिन्ता है किसी समर्थन प्रत्याख्यान की नही। वह जीवन-दृष्टि यज्ञ पुरुपी है रचनात्मक कर्मरत है जो 'क्षणिक विनाशो म स्थिर मगल' की ओर हो लगी है। एवविध हिन्दी साहित्य मे प्रवहमान इस भागीरथी के छायावाद सज्ञायन रूप गरल को अमृत रूप मे ग्रहण करने का उपक्रम है न कि प्रसाद-भारती द्वारा उसका अनुमोदन। चेतना के वैसे धरातल पर जिससे प्रसाद-भारती का आविर्भाव सम्भव है चार और उच्चार किंवा सिद्धान्त एव व्यवहार अनन्य ही रहेगे। निबन्धो मे जो सिद्धान्त-पक्ष उदित है वही काव्य मे प्रतिफलित है व्यवहृत है।

भारतीय साहित्य मे विशेपत, और अन्य मे भी सामान्यत स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति विजातीय नही हा, कही वह लुप्त विस्मृत और कही उन्मिष्ट हो प्रत्यभिज्ञात होती है। हिन्दी साहित्य का यह मोड कुछ वैसे ही प्रत्यभिज्ञान का है।

यथार्थवाद और छायावाद शीर्षक निबन्ध मे स्पष्ट किया गया है कि अभिव्यक्ति की यह विधा पूर्णत अपनी और भारतीय ही है।

नादात्मक वागात्मक तत विश्व-छन्द मे परिणत ज्ञान और उसकी वाचात्मकता किसी पुरुष-विशेष अथवा देश विशेष की निजी सम्पदा नही उसका स्वरूप पूण, अभग और अद्वय है। उसके चिदाकाशमय स्वाग पर यह विश्व, आलेख्य और आलिखित होता है। वह ध्रुव भी है धारा भी और प्रसाद भारती की आँखो का अपने प्रेयमय कलेवर म श्रेयात्मक सत्ता चैतन्य वियद्व्यापी 'ध्रुवतारा' भी।

किन्तु आश्चय है, 'एकमेवाद्वितीयम्' के आलोक म 'वसुधैव कुटुम्बकम् ही नही 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' भी कहने वालो की सन्तति अहकृति पाश से निजस्व की महाव्याप्ति को लघु-परिसीमनो के खूँटे बाध, आज विश्व कल्याण की बातें करती यज्ञ रचती है, फलत, देश-विग्रह-जाति विग्रह की कृत्रिम सीमाओ ने समष्टि-चेतना की गाडी के आगे काठ रख दिया है। और, आज नरस्थ नारायण सवथा उपेक्षित है और, प्रस्तरीभूत पाषाण-कल्प वैकुण्ठवासी, आराध्य बन बैठे है। यह देख प्रसाद भारती को कहना पड गया, 'ऐसा ब्रह्म लेइ का करिहै, जो नहि करत, सुनत नहि जो कछु, जो जन पीर न हरिहै (मकरन्द-बिन्दु, चित्राधार)। उसकी एकमेव दृष्टि 'जनपीर' किंवा विश्व की दुखावेदना पर आदित रही है, और उसी के उपचार-सहिता रूप, 'दुख-दग्ध जगत और आनन्द पूण स्वग' को एकीकृत करने म तत्पर समूचा प्रसाद-वाग्मय प्रस्तुत है।

अस्तु, वैश्वदेव की वैश्वानरी अचियो के सवाद ग्रहण करने की क्षमता का जब सम्पूण नियात हो गया तब किसी भी लुप्त विस्मृत भाव परम्परा अथवा अभिव्यक्ति-शैली को आयातित ठहराना वैसी कुण्ठा मे कितना सरल होगा, यह बताने की आवश्यकता नही। ऐसी दशा मे, इस नई काव्य धारा के मूल स्रोत के प्रति इगित मे कहा गया — 'कविता के क्षेत्र मे पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश विदेश की सुन्दरी के बाह्य वणन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी मे उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया'—'बाह्य उपाधि से हट कर आन्तर हेतु की ओर कविकम प्रेरित हुआ (यथाथवाद और छायावाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध)। वेदना का पूवचर्चित प्रसग इस उद्धरण के आलोक मे भी ध्यातव्य है।

पुनरपि, यहा कहना होगा कि इस उल्लेख का तात्पय छायावाद नाम से अभिहित इस नई धारा के वस्तु-तत्व, स्रोत तत्व और प्रेरक-

तत्व को परिभाषित करना है उसमे आधेय की निरपेक्ष मीमासा का यहा प्रकरण है नाम के समर्थन का प्रसग नही। फिर जहा बाह्य उपाधि से हट कर कविकम के आन्तर हेतु की ओर उन्मुख होने की बात है वहा उपाधि या नाम कुछ भी हो, उससे 'कवि' को क्या लेना देना, जिसका केवल शाब्दव्यवहारी मूल्य है विकल्पमय बाह्योपादान से उपरत हो सकल्पमय आन्तर निमित्त के अनुशीलन मे, नाम और प्रथनपरक वितक धरातलीय प्रत्यवाय के अतिरिक्त कुछ नही ठहरते।

कविकम और काव्य के विशुद्ध सत्व की यहा प्राप्त व्याकृति किसी भी भाषा के लिये ममनीय है अनुभूति और अभिव्यक्ति के प्रसग सावभौम रहते है। नई कविता धारा की मीरा को ऐसो तिरस्कृति मे मिला यह छायावाद नाम उसके लिये 'राणा का विषपप्याला' बना जिसे पीकर वह आमूलचूल मुखर हो उठी उसके रोम रोम से नूपुर की ध्वनि आने लगी। नये छन्दो मे आन्तरहेतु से जुडे हृत्कोपीयस्पन्दनो की छाया उत्तर पडी और, अभिव्यक्ति की इस विधा के 'तरुतले, 'धधकती मरुज्वाला' मे मानवी-सवेदना को छाया मिली इस अथ मे यह छायावाद नाम भी क्या बुरा रहा।

श्रद्धेय पन्त जी इस नाम सन्दभ मे लक्ष्मण के आक्रोश से आविष्ट प्राय हो कहते हैं—'आगे हम भी इस युग की कविता के लिये इतिहास के पृष्ठो पर बलपूवक अकित इस छायावाद शब्द का ही प्रयोग करेगे। जिस प्रकार वाल्मीकि उल्टा नाम रटकर ब्रह्म के समान हो गये उसी प्रकार काव्य मे उस युग की ज्योति छाया बन कर हिन्दी साहित्य को सवसम्पन्न करने मे सफल हुई और छायावाद युग को हिन्दी साहित्य के इतिहास मे भक्तियुग के बाद दूसरा गौरव-स्थान प्राप्त हो सका'। किन्तु, लक्ष्मण अपने आक्रोश मे शर-हस्त रहे जब कि श्रद्धेय पन्त जी शर-त्यक्त हो वेबसी की झुँझलाहट मे छायावाद का केवल शाब्दिक परिशीलन कर उसे ज्योति की छाया के रूप मे देखते हैं। ज्योति का प्रतिबिम्ब उसे और ऊजस्वल बनायेगा जबकि छाया मे ज्योति का आपेक्षिक निषेध रहेगा। कदाचित् यहा आशय काव्य के मुकुर मे युग ज्योति के प्रतिबिम्बित होने का हो सकता है कुछ पाने, अनुकारणा और अनुरणन का भी अभिप्राय सम्भव है। फिर यह जिज्ञासा उठती है कि कवि को या काव्य को युग से पाना ही है कुछ देना नही ? यह तो काव्य की स्वतन्त्र अवस्था और उसके स्वस्थ विकास का ही नही अपितु उसकी प्रयोजनीयता का भी निषेध होगा। इससे तो यही बोध होता

है कि कभी नरेशो सामन्तो की चकाचौंध से जो काव्य प्रग्रहीत था अब उसका संयमन युगाधीन हो गया, आज वस्तुत कुछ ऐसा ही है, ऐसा होकर युगाश्रित काव्य केवल उसका परिचारक अथवा चारण बना है जो कुछ देने की स्थिति में न हो केवल हाथ पसारे लेने की और दाता की जयकार मनाने की ही उसकी दशा है। नहीं काव्य, भावजगत का नियामक है सूर्य की भाँति ही उसे युग और लोक से रसग्रहण कर उसके कल्याण के लिये उसमें अपना प्रातिभ ओज ढाल, अपना सब कुछ निचोड़ कर बरसा देना चाहिये उसे दुखदग्ध जगत पर आनन्द पूर्ण स्वर्ग की अवतारणा करनी है। संस्कृति का निर्माण छन्दो के अधीन है, शासनादेशो के नही।

'इस युग की कविता' को 'इस युग' के किसी कृती ने तो कोई नाम दिया नही फिर धरती पर पैर रखते अच्छा-बुरा जो भी नाम मिला उसे स्वीकार कर लोकयात्रा करनी थी अथवा अपनी रुचि के किसी नाम की घोषणा कर देनी थी। वैसे किसी जातक ने अपना नामकरण किया हो इसका उदाहरण नही मिलता। अस्तु, इसी प्रकार 'इस युग की कविता' के प्रवर्तन का एक 'सतही सवाल' उठाया जाता है। जब 'आद्रज्वलति ज्योतिरहमस्मि' की परम्परा मे यह कविता आती है तब प्रवर्तन का प्रश्न कहा, हा अनुवर्तन की बात तो कही जा सकती है अथवा पुनर्जागरण की। तो, इस निसर्गोज्वल काव्य भागीरथी की अवधारणा और उसके लोकोन्मुखी प्रवाह को सामर्थ्य कहा थी यह चिन्त्य बन सकता है।

हिन्दी के अध्येता के समक्ष महत्व का प्रश्न यह नही कि 'इस युग की कविता' का, जिसने छायावाद नाम पाया, प्रवर्तक कौन था। ज्ञानाभूति का निजी सम्पदा मानकर चलने पर भी यह प्रसंग केवल तिथिक्रमो के अधिष्ठान वाले इतिहास की शोभा बढा सकता है। संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से तो महत्व का प्रश्न यह है कि अभिव्यंजना की इस शैली के उदात्त मानक की स्थापना कहाँ हुई, 'काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' की अथवत्ता कहा मिली, किससे मिली, यह भी एक आनुषंगिक विचार का ही स्थल, अथवा गौण प्रश्न होगा आराध्य प्रसंग नही। मानव का प्रथम कलेवर 'कौन गठित हुआ और कहा है उसकी प्रस्तरी-भूत अस्थिपंजर यह ढूँढने म सन्-संवत् की बखिया उधेड़ने से तात्पर्य वस्तुत प्रत्न गवेषो का ही अधिक होगा साहित्य का प्रयोजन तो उस भाव-देह, रस-देह और शिवमय-तनु के

की व्यवस्था दे दी। और फिर खण्डन के अब खण्डन और मण्डन के अब मण्डन चलने लगा।

सुतराम्, सहृदयता की रसास्वाद भूमि पर पूर्वाग्रहों के शस्यधारी समीक्षण प्रभुता पा गये। जब सहृदयता का स्थान असन्तुलित और एकांगी, साग्रह और सापेक्ष समीक्षा ले लेती है तब प्रस्था और उपास्या के समन्वय की साहित्यिक न्याय-तुला निरर्थक हो जाती है और वस्तु ग्रहण की अनुकूल प्रक्रिया काव्य-बोध को भी ले डूबती है। हार्द सकल्प की मीड बौद्धिक-हुँकार में विलीन हो जाती है तब कवि और सहृदय के मध्य समीक्षा की ऐसी प्रक्रिया हठागत अतिथि बन जाती है काव्य-बोध का उसकी सात्विकी दृष्टि से ग्रहण करने कराने के स्थान पर, समीक्षा छन्द पिंगल के क्रम मन्याह पूर्वक अन्य देशीय सिद्धान्त-शल्य ले अग्रसर हो जाती है और तब, साहित्य की अरण्यानी में बौद्धिक हत्या होने लगता है, रस का विनिमय नहीं जो साहित्य का सकल्पित प्राप्य है।

> बन जाता सिद्धान्त प्रथम फिर पुष्टि हुआ करती है।
> बुद्धि उसी ऋण को सब से ले सदा भरा करती है॥
> मन जब निश्चित सा कर लेता कोई मत है अपना।
> बुद्धि-दैव बल से प्रमाण का सतत निरखता सपना॥
>
> (कर्म कामायनी)

काव्य निर्विवाद वस्तु है। अपनी बोध भूमि और प्राप्य अपना स्वारस्य और तथता न्यून कर, मौलिक इयत्ता और सहज प्रयोजनीयता से रहित होकर ही काव्य किसी वाद के अधीन होगा और ऐसी दशा उसके मूल प्रयोजन की उपपादिका नहीं अपितु प्रत्यवायिनी है। ग्रसमान या ग्रस्त काव्य रसमान या रस्य न होगा काव्य-करेणु बिना अकुश चलता है। वाद का भारवाही बन कर काव्य मूल प्रयोजन से परे और सकल्प च्युत हो जाता है। फिर उसे सब सामान्य—अभग लोकात्मा में सवेदनो की वह भाषा भूल जाती है जो उसका अनन्य और शाश्वत नीड निकेत है परिणामत आरूढ-वाद का अधिवक्ता बन जाता है और लोक-मानस की अविकल छवि फिर काव्य के वैसे धूमिल मुकुर में नहीं उतर पाती।

अनुभूति को भी किसी वाद के बैसाखी की आवश्यकता नहीं उसके उदयास्त निर्विवाद होते रहते हैं किंबहुना उसके आधार पर वादो की मूर्तियां बना - बिगड़ा करती हैं। वाद की तो बात दूर भाषा

और शैली भी काव्य के साधन मात्र हैं, साध्य नही। साध्य, कथ्य-वस्तु और उसका भाव-सन्देश ही रहेगा। गौतम बुद्ध ने धम की परिभाषा मे जो उक्ति दी है भाषा और शैली पर भी घटित है वे पार उतरने-गन्तव्य पर पहुँचने तक नौका समान है, न कि सिर पर लाद कर ढोने के लिये। गन्तव्य पर पहुँचते पहुँचते सारस्वत रानी, इडा भी बोल देती है—'वृष धवल धम का प्रतिनिधि उत्सग करेंगे जाकर'।

अथच, समग्र छन्दोबद्ध वाङ्मय को विशुद्ध काव्य कोटि मे नही लिया जा सकेगा। इति-वृत्त परक, समस्या-पूरक एव तत्तलीय शब्द शिल्पो की काव्यवत्ता कला-कोटि मे ही रक्षणीय है। कला अशात्मिका है उस अकलित महिमावान अकाल की सीमा से वह पर्याप्त दूर है जिससे अधिवासित विशुद्ध-काव्य जरा मरण के अतीत रहता है। कला कोटि वाले काव्य विद्याधीन हैं—विकल्प-गुणित ह और वह, सकल्प-गुणित एव स्वाधीन है।

सकुचित असीम अमोघ शक्ति[1]
जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति।
या कभी अपूण अहन्ता मे हो रागमयी सी महासक्ति।
व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा मे रहे बन्द,
सवज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अश विद्या बन कर कुछ रचे छन्द।
कतृत्व सकल बन कर आवे नश्वर छाया सी ललित कला,
नित्यता विभाजित हो पल पल मे काल निरन्तर चले ढला।
तुम समझ न सको, बुराई से शुभ इच्छा की है बडी शक्ति।
हो विफल तक से भरी युक्ति! (इडा कामायनी)

कला-कोटि वाली प्रस्तुतिया, ललित भूत कलाओ की भाति अल्पायुषी मच्छिल्प की आकृतिया कही जा सकती है सकल्पात्मिका अनुभूति के सुवण से ढली प्रतिभामयी काव्य प्रतिमा नही। उन्हे, अनुभूति की उद्रिक्तावस्था मे हृद्गुहागत सत्य के प्रकटीकरण किंवा उन्मीलन के अथ कथमपि नही लिया जा सकेगा। अनुभूति प्रधान एक असाधारण मननात्मक अवस्था मे श्रेय-सत्य जो प्रेय-कल्प ग्रहण करता है वही

---

१ सवकतृत्वसवज्ञत्व पूणत्व नित्यत्व व्यापकत्व शक्तय सकोच गृह्णाना यथा क्रम कला विद्या राग काल नियति रूपतया भान्ति।

(प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र ९ की टीका)

किसी नादसीमा मे राव्य के प्रग्रहीत होने से क्या ऐसा सम्भव है ?

अभिव्यक्ति की प्राचीनतम वाङ्मयी विधा काव्य है, जा देश-काल से अवच्छिन्न और बाधित नही। जीवन और भूगोल परक विभिन्नताओ के चलते काव्य के उच्चार और लिपि की भापाय ता अनेक है किन्तु अनुभूति की भापा समग्र विश्व की एक ही है। कौन जाने समष्टि-चेतना के विकास म कोई ऐसा क्षण भी आ जाय जब मानव अनुभूति की भापा बोलने और समझने लगे और आज की नाना वण विकारमयी लिपियो का स्थान समग्र भावचय गर्भित संकल्प की एक अवर्णालिपि ले ले जिसके अक्षर वस्तुत अक्षर हो। अध्यात्म और अधिभूत किंवा जड और चैतन्य के अथ मूल्य तब भिन्न न होगे उनका एक अद्वय भाव गत महामिलन होगा। आज विज्ञान के क्षेत्र म उठती तत्व जिज्ञासा की लहरी किसी दिन उत्ताल तरग बन ऐसी कल्पना का साकार कर सकती है। फिर क्या नानाविध कृत्रिम और मानव-दृष्टि के कुचक्रो से खिची सीमा रेखाएँ और उनके आग्रह विग्रह विद्यमान रह सकेंगे ? चेतना के भौतिक विभाजन की महानिशा का अवसान उस एकस्वरा अनुभूति की भापा के जागरण स असम्भव नही, सयोज्य है—

चेतनता का भौतिक विभाग
कर जग को बाँट दिया विराग
चिति का स्वरूप यह नित्यजगत
वह रूप बदलता है शत शत
कण विरह मिलनमय नृत्य निरत
उल्लासपूण आनन्द सतत
तल्लीन पूण है एक राग
झकृत है केवल 'जाग जाग'

आन्तर-स्पश के ग्रहण प्रसारण की प्रक्रिया भी अनेक नही। सुतराम् वैसे वाङ्मय का प्रयाजन सावभौम और सावायुप होगा जिसम अनुभूति की भापा जागृत रह कर बैखरी म मुखर होती है। भावा की प्रवणता को प्रखर बनाने म जहा शब्द साधन होते है वहा शब्दो का गुम्फन साध्य नही होगा। छन्द व्याकरण के व्यास और अद्धव्यास यन्त्रो को ले भाव प्रवणता और अनुभूति निष्ठा का परिमापन भी सम्भव नही, किन्तु, उस समीक्षा क्रम के ये अपरिहाय आग्रह ह जो अपरिमेय को मापने की चिन्ता को ही अध्यवसाय बना कर चलती है।

समस्या को मौलिक स्तर पर ग्रहण करने के अर्थ उसे वर्तमान में देखना होगा और उसके अति-हेतु के अन्वेषण में अतीत की ओर भी जाना पड सकता है, कारण, अनागत को आशा के उज्जवल आलोक में और अनुकूल बनाने की प्रवृत्ति ही मानवी समष्टि-चेतना के विकास की जीवन शक्ति है। कवि की युगानुभूति और आत्मानुभूति को पृथकश देखना और मानना परस्पर दृष्टि से उभय की उपेक्षा और कवि की निष्ठा का विखण्डन करना है। यह भी साहित्य में सकोचमयी धारा का ही प्रभाव है जो इयत्ताओं के पार्थक्य में वह चक्रवर्तित्व के किंवा व्यक्तिनिष्ठ केन्द्रीकरण के गीत गाती है, पूरक प्रसग में अहकार के सोपाथ दान महादान की महिमा बखानती है युगानुभूति और युगावबोध, आत्मानुभूति एव आत्मबोध का साधरणीकरण नही होने देती। दान की महिमा से दाता में स्वर्गकामिता भर उसे एक ओर जहा ऐहिक-दुष्कृतो से निश्चिन्त (प्रकारान्तरेण प्रोत्साहित भी) करती है वही दूसरी ओर समाज मे दीनता का अनुमोदन भी करती है। ज्ञेयपार्थक्यमयी विकल्पानुभूति के इन परिणामो को ले कर गठित साहित्य से युगसेवा कहा तक हो सकेगी, विचारणीय है। किन्तु, सकल्पमयी विकासोन्मुखी धारा आते ही कह देती है—

अपने म सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा
औरो को हसते देखो मनु हसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ (कम)

शक्ति-साधनो के केन्द्रीकरण से मानव समाज की प्रत्यह बढती विषमता एव वर्गोत्पीडन अनदेखे नही रह सकते फिर सभी स्तरो पर उनका सर्वथा निरास एकायुप और एव देशीय एव सास्थानिक उपचारो से सभव नही। यत 'यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित' अत चेतना को अयत उपचीण होना चाहिये वही से क्रान्ति की गोमुखी भी है जहाँ से निसृत भागीरथी मानवता का आप्यायन करती है और, विश्वरूपी विषमता का तभी प्रक्षालन सभव है। पदार्थ स्तर पर्यन्त पुष्ट एक परिशुद्ध दशा की अवतारणा चेतना के उपेक्षित, विभक्त और अनात रहने से अवधार्य नही। सुतराम्, विश्ववपुषी चेतना के जागरण म, अनुभूति की चरमावस्था में, मनन की तीव्रतम दशा म यह सत्य सम्भावित है (अभ्रान्तत)।

मै की मेरी नेतनता सबको ही स्पर्श किये सी
मव भिन्न परिस्थितियो की है मादक घूंट पिये सी (आनन्द)

यही नही अपितु—

हम अन्य न और कुटुम्बी हम केवल एक हमी है[1]
तुम सब मेरे अवयव हो जिसम कुछ नही कमी है (आनन्द)

समष्टि चेतना, युगानुभूति और आत्मानुभूति मे समानत जीवन्त रहती है प्रश्न केवल अभिसुप्ति और जागरण का है। कदाचित इमीलिये कहा है "आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण कर लेती है काव्य म सकल्पात्मक अनुभूति कही जा सकती है" "असाधारण अवस्था युगो की समष्टि अनुभूतियो मे अन्तर्निहित रहती है क्योकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रा के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है—" (काव्य और कला)। नितराम् ऐसी निष्कप दृष्टि-सम्पन्न अनुभूति के अभिव्यक्ति की एक सहज लीलधारा को किसी वादसीमा मे रखना स्वयमेव विवादग्रस्त होगा।

प्रत्येक समस्या के मूल मे क्या होता है ? विषमता ! हा वह विषमता ही तो जो सभी स्तरो पर चाहे वे भावो को हो, विचारो की हो, व्यवहार की हो, सग परक हो अथवा नैसर्गिक अपने अनेक रूपा मे साकार हा समस्या के कलेवर गढती है। इसकी व्याप्ति कुछ ऐसी गम्भीर हो गई कि यह विश्व के अनुप्राणन की सत्ता जैसी लगने लगती है। इसकी प्रभाव-परिणति कही व्यथा के रूप मे तो कही सुख के रूप म होती है उभय मे वस्तु तत्व भूत वेदना रूपेण सुखदुख को अकस्य किये विषमता ही रहती है।

विषमता की पीडा से व्यस्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान
यही दुख सुख विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान
नित्यसमरसता का अधिकार उमडता कारण जलधि समान
व्यथा से नीली लहरो बीच बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान (श्रद्धा)

पदार्थ के मौलिक धर्म और गुणो मे एक सहज सुसगठित विषमता से विश्व की उत्पत्ति बताई गई है और उसके एक सुनियोजित साम्य से

१ 'हमी स तात्पय "हम ही का नही अपितु आदि-हान्त समस्त वर्ण विकल्प-कवलीकृत पूर्णाहन्ताभिमानी अवयवी से समीचीनतर ह।

प्रलय। किन्तु विश्व की विवृति हो जाने पर उसकी ससृति मे इस विपमता की परिणति का स्रोत कहा से अग्रसर होता है और ससृति का एक पृष्ठ खुलता है ? और, आदिम मानव-समाज के धरातल पर उसका प्रथम स्फुरण कौन है ? विपमता के इस आदिम प्रसग की कडी पूववर्त्ती युग मन्दभा से जुडी चली आ रही है रूप और प्रकार मे आगत परिवतन उसकी विवृति प्रक्रिया के कार्य-कारण योग बनाते चले आ रहे हैं—

युगो की चट्टानो पर सृष्टि डाल पद चिह्न चली गम्भीर,
देव, गधव असुर की पक्ति अनुसरण करती उसे अधीर। (श्रद्धा)

मानव समाज की गठनो मुख और विकासोन्मुख दशा के ठीक पहले पुरुप के प्रति नारी का अनुष्ठानात्मक आत्मसमपण हो चुकता है। इससे पूव उभय के सबध की अवस्था केवल आत्मनिवेदन की रहती है जिसके भीतर आगिक अभावो की पूर्ति इच्छा भूत और कारण भूत होती है। विशृखल, अस्थिर और अरक्षित जीवन क्रम को व्यवस्थित और सुरक्षित रूप देने की दिशा मे, उत्पादन की अपनी असामान्य समथता, वेगवती अभीप्सा और आवयवीय विलक्षणता से पुरप और उसके पुरुपाथ का नागी सक्रम नियोजन चाहती है और फिर इस नियोजन मे वह नारी स्वय ही प्रथम नियुक्त-सत्व बन जाती है, जो नारी का अनुष्ठानात्मक आत्मसमपण होता है। फिर तो सस्कृति के विकास के प्रतिपग उसकी शेप स्वतन्त्रता को निगलते जाते है।

नारी-पुरुषाधीनता के साथ-साथ सामाजिक-वैपम्य के महानाटक का पहला दृश्य खुलता है और समर्पिता नारी नर के समक्ष पडी होती है—

किन्तु बोली "क्या समपण आज का हे देव।
बनेगा चिर-बध नारी हृदय हेतु सदैव।
आह मैं दुवल, कहो क्या ले सकूँगी दान।
वह, जिसे उपभोग करने मे विकल हो प्रान।" (वासना)

पुरप मौन रहता है। उसका यह मौन आगामी प्रवचना का और कदाचित अवसरवादिता का भी मूल है—

छल वाणी की वह प्रवचना हृदयों की शिशुता को,गणित रम
खेल खिलाती, भुलवाती जा उस निमल विभुता को। परम

आगे चल कर पुरुप कहता है "तब तुम प्रजा बनो मत रानी, मैं का

हुकार उठा" किन्तु वस्तुत 'वह अतिचारी' उसे निकृष्टतम प्रजा बनाना चाहता है जबकि-'दुबल नारी परित्राण पथ नाप उठो।'

मागन के 'प्राचीन समाज' की टिप्पणी म मानव मनुष्य के अन्तर्जात वात्सल्य की बात कहते है एगिरस नर और नारी के सम्बन्ध को प्रथम वग-उत्पीडन की सज्ञा देते ह किन्तु पदाथ सीमित दृष्टि के कारण पदाथ स्तर के आगे समाधान का बढना सम्भव न हो सका। कामायनी इस छल और उत्पीडन का समाधान समन्वय और सामरस्य म देती है। सघप-सग तक समस्या-पव है उसके अनन्तर समाधान पव आता है, भ्रमवश जिसे कभी-कभी पलायन के अथ मे ग्रहण करने की अबाध चेष्टा की जाती है फिर तो उन स्थलो और स्थितियो की असमथ मीमासा म विषय और भी दुरारूढ बन जाता है। यह मत कि कामायनी का समापन सघप-सग से ही हो जाना उचित था, परवर्त्ती सग तो क्षेपकवत हैं, काव्य की मूल प्रयोजनीयता स सवादित नही वैसे मत का मन्तव्य यही हो सकता है कि ममूप मनु या मोह मुग्ध मन वैसी अगति की ही दशा म पडा रहे मानवता के सम्मुख शस्त्र और अग्नि' की वर्षा का यथाथ, आदश और भरत वाक्य बने फिर समाधान क्या और कैसे ? सघप की पदाथ भूमि उत्तीण होने पर ही मन का सहज गति चार सम्भव है फिर वैसी भूमिका अनावश्यक क्षेपक क्या मानी जाय जिसमें मन के आतिवाहिक तरगो की उठान और अभियान ह ऐसा न होना ही वस्तुत पलायन होता।

नर और नारी की आवयवीय विषमताओ के परिणाम मानवी सस्कृति के आगामी परिच्छेदो म और स्पष्ट होते ह। अपने 'अवयव की दृढ मास पशिया' ले आखेट करने को नर स्वतन्त्र रहता है और 'अवयव की सुदर कोमलता लेकर मै सबसे हारी हूँ' कहने वाली नारी, नर के मृगया से विरत हो लौटने की प्रत्याशा म लौ लगाये और अपने स्वतन्त्रता के सूखे काठो को फूँक फूँक कर उसी लौ जैसी ही एक अनवरत ज्वाला जलाये देहली के भीतर से निर्निमेष पथ' देखने की दशा म आ जाती है। और, आहार पराक्रमी, आखेट विक्रम नर का शासन सभ्यता के विकास के साथ साथ दृढतर होता जाता ह, फिर तो उसके मिथ्या को य मानने का अभ्यास नारी का एक नैसर्गिक गुण मान लिया पदो सभ्यता के उपादानो की प्रेरणा, समाज की निवसनता और से विश्व वरद्ध पहली घोषणा नारी की ओर से होती है उसकी ...िष्ट की अनिवार्यतायें उस इस हेतु विवश भी करती है। आदिम

अवस्था मे पशुओ से रक्षा के लिये आवास चाहिये, (गुहा अब अपर्याप्त है) भावी शिशु के लिये वस्त्र उपस्करण चाहिये—यह नारी का चिन्त्य बनता है। प्राणो की चिरनग्नता और उसकी शाश्वती-क्षुधा के प्रति भी नारी सजग हुई। प्रगति के इन तत्वो की ख्याति से अपनी अहकार भरी अगति के चलते पुरुष सहमत नही होता उसे प्रतिरूपी प्रतिस्पर्धी की आशका होती है वर्तमान के भावो का भविष्य मे अभाव दीखता है, सुतराम् परिवर्तनो के भावी आयाम से वितृष्ण और विषण्ण होकर, उसे अपने निबन्ध वर्तमान का प्रतियोगी मान कर, वह अनन्य का त्याग और अन्य की कामना करता है। (द्रष्टव्य—ईर्ष्या सर्ग)

स्वभावत, आवयवीय सस्थानगत अपनी विलक्षणताओ से नारी गतिमयी, प्रवाहमयी तथा च प्रकृति की लघु प्रतिरूपाकृति है और नर स्थाणु-पुरुष है जो, 'गुणात्मक परिवर्तनो की प्राकृतिक क्षमताओ मे दुर्बल होकर उनका कारयिता नही अपितु साक्षी मात्र है। इस साक्ष्य मे नर का रच मात्र परिवर्तन ग्राह्य नही सुतराम् उसके समक्ष प्रथम प्रस्तुत नारी के चित्र मे किसी विकास की गुणात्मक स्थिति उसे रुचि कर नही और यदि वैसा होता है तो वह अपने इसी स्वभाववश पूर्वगत नारी के भावचित्र देखने को विकल हो जाता है। सुतराम् इस दशा मे मनु कहते है—

लो आज चला मैं छोड यही सचित सवेदन भार पुज
मुझको काटे ही मिले धन्य हो सफल तुम्हे ही कुसुमकुज (ईर्ष्या)

कामायनी मे नारी की एक ऐसी प्रगतिमयी विश्वात्म मूर्ति की कल्पना है जो साथ ही विश्वमयी भी है। आदि मे वह सृष्टिमगल की प्रेरिका बनी मधु गुजार करती आती है (सुना यह मनु ने मधु गुजार श्रद्धा सर्ग) तत इस उपक्रम मे निजका समर्पण करती है और अन्त मे उसकी कल्याणमयी मातृमूर्ति प्रकाशित होती है जिसके समक्ष असमर्थ-अगतिवान नर अपने को समर्पित करता है। ये परस्पर उभय समर्पण समन्वय और सामरस्य की अन्-अन्य मूर्ति मे ढल जाते हैं। विश्वभर सौरभ से भर जाता है और वह 'मधुगुजार' अब बिखेरे गये सुमनो से बहुगणित हो 'शत शत मधुपो का गुजन बन जाता है अर्थात् मातृमगल का परम मगल्य सिद्ध होता है (श्रद्धा ने सुमन बिखेरा शत शत मधुपो का गुजन-आनन्द सर्ग)

नारी, प्रकृति अथवा शक्ति का गोचर यथार्थ नर, पुरुष अथवा अणुभाव गत शिव को प्रथमत पाशबद्ध करने मे देखा जाता है। वेदात के ब्रह्म की माया शबलित अवस्था कुछ इसी प्रकार की है जिसे अकाम निष्क्रिय और स्वत मूल मे स्थिति मात्र कह शक्ति रहित एक निश्चेष्ट सत्ता के रूप म परिभाषित किया जाता है। यह माया के पुरुषाथ का एक चरणमात्र है। किन्तु नारी का, जो स्वाधीन सत्ता की शक्ति का भौतिक विग्रह है परमपुरुषाथ किंवा प्रयोजनीयता का यथाथ वस्तुत पशु (नर) की पाशमुक्ति मे ही सफल होती है—

सेय क्रियात्मिकाशक्ति शिवस्यपशुवर्त्तिनी
बन्धयित्री स्वमागस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका

इस वस्तुत प्रयोजनीय यथाथ का परिज्ञान ही नारी, प्रकृति अथवा शक्ति को सिद्ध्युपपादिका के रूप म ला देता है। पुम्प समवाय म यह वीरभाव गत आरोही वीय है, पुरुष का परम पुरुपाथ ह जिसके पूर्णावस्था की प्रान्त रेखा पर विगलित भेद सस्कार 'आनन्द अम्बुनिधिशोभन' लहराता है और जो, अपने सवमागत्य के शुभत्व की पराकाष्ठा के कारण ही सिद्धयुपपादिका पदवाच्य है किसी विकरप खचित भिन्नमणि गुम्फ परिणामी सौदय के मासल विग्रह के हतु नही। जो, पाशित हाने के भय से ही घवरा उठे उन्होने अभया अमला के मौलिक यथाथ को अनदेखा कर घोषणा कर दी—'नारी नरकस्य द्वार'। किन्तु यह नही बताया कि 'त्रिविध नरकस्येद' मे इसे किस कोटि म रखा जाय ? निषेध का अवसाय शक्ति का रूप है—'निषेधव्यापाररूपा शक्ति' 'उस निषेधमयी को निषिद्ध मानने मे पाशभुक्ति समर्थित होती है पाशमुक्ति नही। किसी भी अन्य भाव का निषेध ही तो स्वभाव प्रतिष्ठा किंवा स्वरूप प्रतिष्ठा है ? जीवन की विडम्बना अथवा इच्छा, ज्ञान और क्रिया की परस्पर असहमति का विलोप, शक्ति के प्रमाद पर निभर है न कि सुप्त-स्पन्द के प्रमाद पर।

महाज्योति रेखा-सी बनकर श्रद्धा की स्मिति दोडी उनम,
वे सम्बद्ध हुये, फिर सहसा जाग उठी थी ज्वाला उनमे।
नीचे ऊपर लचकीली वह विषम वायु म धधक रही सी,
महाशून्य मे ज्वाला सुनहली, सबको कहती 'नही-नही -सी।

कामायनी की कथा मन्वन्तर की सन्ध्या से चलती है। भारतीय कालगणना एक अयत्र-दुलभ परिकल्पना है यहा उसके विस्तार पर

विचार अभीष्ट नही किन्तु यह उल्लेख्य है कि ससरण की प्रक्रिया मे एक विगत ससृति अथवा सृष्टि की भौतिक समाप्ति और उसके ध्वस पर नई ससृति का उद्भव मन्वन्तर-पदवाच्य होता है जिसमे जैव-उन्मेष, सस्कृति की सम्भावना, समाज-सगठन, सभ्यता का विकास, वैचारिक धरातल की सम्भूति आदि नये आयाम लेते हैं। इस मन्वन्तर सन्ध्या का नामान्तर ही प्रलय है जिसकी परिभाषा होगी निमित्त म उपादान का लय। स्थूल उपादान सूक्ष्म निमित्त म, सूक्ष्म उपादान कारण निमित्त म, कारण उपादान महाकारण निमित्त मे एव महाकारण उपादान भी स्वरूप म लीन होते हैं किन्तु मन्वन्तरण मे स्थूल उपादानो का सूक्ष्म निमित्त म विलय होता है यह भौतिक और खण्डात्मक होता है इसी लिये मन्वन्तरण क्रम मे हुआ प्रलय खण्ड प्रलय होता है चाहे उसका विस्तार-क्षेत्र छोटा हो अथवा बडा। इसी लिये मनु तो अपनी नाव पर त्राण पाते हैं किन्तु श्रद्धा के 'गन्धर्वों के देश' पर उसका प्रभाव प्राय नही पडता वहाँ का उद्गीथ अप्रतिहत रहता है। किलाता कुलि का वरण गुल्य भी प्रलय-परिधि के कदाचित् बाहर पडता है, किन्तु यह म ण काद है। आकुलि का यह कहना कि 'क्यो किलात खाते खाते तृफिर/र कहाँ तक जोकें' से ध्वनि निकली है कि वे भी प्रलय के मारे हुए हैं और अशरीरी रति-काम की भाँति भटक रहे हैं। प्रलय अनेक विध है जिनमे काल प्रलय और ज्ञान प्रलय प्रमुख है कामायनी के आदि मे काल प्रलय है और अन्त मे ज्ञान प्रलय।

मुतराम, इसके पूर्व अनेक मन्वन्तर बीत चुके हैं अर्थात् न जाने कितनी सस्कृतियाँ और सभ्यतायें शिखर पर जा ऐसे प्रलय पयोधियो म डूब चुकी है जिनकी लोकात्मा के अभिसुप्त मानस् के सारभूत-सस्कारमूल एव स्मृति विस्मृति से बुने पट की ओट से धुँधली झलक आती रहती है। किन्तु हम प्रत्न-गवेषणा के भौतिक स्तर के ही निकष पर तथ्यो की परख के अभ्यासी हो गये हैं अतएव भौतिक उपादानो, स्रोतो और साधनो से विश्लेषित मीमासाफल मे ही विश्वास रखते हैं। ध्रुवीय हिमानी अपने भीतर ससृति के कैसे रहस्य छिपाये हमारी आग्रह-बुद्धि पर हँस रही है अथवा अतलान्त कितनी सस्कृतियो को अपनी लहरो के गीत सुना रहा है कौन जाने ? कामायनी के आमुख मे सकेतित है—

'आदिम युग के मनुष्यो के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय मे जो भावपूर्ण इतिवृत्त सगृहीत किये थे उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कह कर अलग कर दिया जाता है,—आज के मनुष्य के

समीप तो उसकी वतमान संस्कृति का क्रमपूण इतिहास ही होता है, परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहा से प्रारम्भ होती है ठीक उसी के पहले सामूहिक चेतना के दृढ और गहरे रगो की रेखाओ से बीती हुई और भी पहले की बातो का उल्लेख स्मृति पट पर अमिट रहता है, परन्तु कुछ अतिरजित सा—आज हम सत्य का अथ घटना कर लेते है। तब भी उसके तिथि क्रम मात्र से सन्तुष्ट न हो कर मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते है। उसके मूल मे क्या रहस्य है ? आत्मा की अनुभूति हा, उसी भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बन कर प्रत्यक्ष होती है।'

परन्तु, वैसी गाथाओ और भावपूण इतिवृत्तो का महत्त्व कम नही उन्ही के सहारे वैसी गवेपणा चलती और फल प्रमाणीकृत होते है। जातिवाची, विश्व के प्राय सभी मानव समूहो की अनुश्रुतिया प्रलय की गाथा अपने-अपने ढग से सँजोये ह अवेस्ता की गाथाये हिम प्रलय (उसके पिघल कर प्लावित होने मे) तो शतपथ समुद्रीय जलप्लावन की बात कहते हैं। ग्रीक, अक्कादी, बैबिलान आदि की अनुश्रुतियो मे मिलती जुलती गाथायें है दूरवर्ती टापुओ की पुरानी—आर्येतर जातियो म भी ऐसी घटना का उल्लेख विभिन्न प्रकार से मिलता है चित्त विस्तार भय से यहा चर्चित नही किन्तु ईजिप्ट की परम्परा मे प्रलय की गाथा नही मिलती (अभी तक)। स्कैण्डिनेविया के नोस वाङ्मय का वूलुस्पा गीत जिसकी रचना वडा द्वारा हुई एक प्रलय-सन्ध्या का उल्लेख करती है, जिसमे उच्छृङ्खल देवयुग समाप्त होता है एवविध, ऐसी घटना के उल्लेख केवल आय-वाङ्मय तक ही सीमित नही।

कामायनी मे देव-सृष्टि के लयात्तर उसकी दुबलताओ—दोपो से सवथा रहित एक नवीन मानव-समाज की परिकल्पना है जिसके आदि-प्रजापति उसी सस्कृति के अवशेष मनु ह जिनके सम्मुख "देव असफलताओ का ध्वस प्रचु उपकरण जुटा कर" पडा है। उसी मानवी सस्कृति के योग-क्षेम म उठते गिरते 'श्रद्धायुत वस मनु तन्मय थे'। देव-सृष्टि-गत कतिपय सस्कार मूर्तिया और अवशिष्ट बीजो के तन्तु से कामायनी अपना पट बुननी है।

तरण-तपस्वी से प्रतीत होते मनु हैं, जो स्वीकार करते हैं "मेरा सब कुछ क्रोध मोह के उपादान से गठित हुआ फिर उन्ही जैसे लम्बे दो-चार 'देवदार' खडे ह। यहा देवदारु 'हिमधवल वृक्षो' के रूप म कथित हो उन अवशिष्ट बीजो की ओर भी इगित करता है। वहा,

देवो के अशरीरी सहचर रति-काम हैं एक अपनी प्रतिकृति लज्जा के रूप मे तो दूसरा अपनी भाव मूर्ति म। श्रत् की अवधारिका श्रद्धा है, विवेक के उच्चतम धरातल की प्रभामूर्ति इडा है एव 'आमिप लोलुप रसना' वाले व किलात-आकुलि हैं जो अपनी असुरोपासता अर्थात् प्राणो की पूजा का प्रचार प्राणो की बलि देकर करने मे दक्षत उपस्थित हैं। कुमार अर्थात् मानव-समाज का आदि-छन्द तो अन्तत आने वाला है। उपस्करण रूप शस्य अन्न-पशु के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण वह 'पहला सचित अग्नि' है जो देव-सृष्टि के इन बचे खुचे अवशेषो से अति-जागल जागल और बर्बर युग के बहुत पीछ छूट जाने का सकेत दे रहा ह। इन चारित्रो म देव-युग का समृद्धि, अनुभूति और गाढत सश्लिष्ट उस युग के आन्तरात्मिक सस्कार सवलित हैं।

कामायनी विश्व-व्यक्तित्व का विकास चेतना से वहती है इडा के मुखसे ऐसी सस्तुति कुछ विशेषता रखती है—'यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित' (सघर्ष) फिर वस्तु से चेतना की उत्पत्ति की आग्रहित-मान्यता ले अपने गुणन फल न पाये जा सकें तो विस्मय क्या ? ऐसी निराशा का कारण कामायनी के स्वारस्य मे नही अपितु कामायनी-दृष्टि से असहमति या फिर विषय-वस्तु के ग्रहण मे असमर्थता ही हो सकती है। पदार्थ-सत्य और वस्तु-तथता कामायनी मे उचितावस्थित है, उपेक्षित नही। पदार्थ जीवन चिति और उसकी उन्मीलन प्रक्रिया मे परिणत प्रस्तुत पदार्थ की वहा नित्य-सक्रियता है—'चिति का स्वरूप यह नित्यजगत, वह रूप वदलता है शत शत'। कामायनी मे विश्व का उन्मीलन प्रसगोपात्त है। किसी निमीलित दशा से ही उन्मीलन सम्भव है और फिर नित्य वर्तमानता के अभाव मे, निमीलन-उन्मीलन किसका और कैसे ? 'अवस्थितस्यैव प्रकटीकरण उन्मीलनम्'। प्रलय-गत विकर्षणो से असमागम की दशा म आकार पृथक्, पदार्थ के सूक्ष्मतम भावो अर्थात् विद्युत्कणो किंवा शक्ति के अणुभूत और खण्डावस्थित अशो के समन्वय और परस्पर समागम-आपूजन से मानवता का उत्कर्ष और सस्कृति के कल्याणमय विकास का सन्देश कामायनी म प्राप्त है।

'सृष्टि के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय, समन्वय उनका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय', इन कणो की व्यस्तता कैसी जबकि निरुपाय निष्क्रिय रह वे बिखरे पडे है। सुतराम् कायलीनता से यहा व्यस्तता का अभिप्राय नही होगा। चेतना का स्वरूप सत्ता से छिन्न और क्षिप्त हो अपने स्वभाव को सक्षिप्त कर इदमात्मक

आवरण मे विन्यस्त हो इदताभिमानिनी होना ही व्यस्त होना है वैशिष्टयेन यत् अस्त । यत, पदाथजगत इदभूत है और उसमे चेतना कारणत और कायत भी सलीन होती है अत व्यवहारत व्यस्त को कायलीनता की रूढ सज्ञा मिलती चली आ रही है। मूल स्वरूप से मूल स्वभाव का छिन्नत्वेन अस्तप्राय होना व्यस्त पदवाच्य है। वृत्र के वध प्रसग म प्राप्त ऋचा 'अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधिसाना जघान वृष्णोवध्रि प्रतिमानवुभूपन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्त (ऋक् १-३-७) के सायणभाष्य म व्यस्त शब्द का अभिप्राय 'व्यस्त विविध क्षिप्त से लिया गया है।

यहा सृष्टि के वैसे विद्युत्कणा के समन्वयन से एक भुवनात्मक समाधान का इगित है स्पन्द विशिष्ट श्रद्धामय मानव को विकल्पमयी-तकमयी बुद्धि के समीप समन्वय पूवक रहकर, हृदय और बुद्धि मे 'विनिमय कर दे कर कमका त' हो राष्ट्र नीति देखना है। श्रद्धा (हृदय) और मनु (मन) परस्पर पूरक है इसीलिये *'मैं अपने मनु को खाज चली—सरिता नग उपवन कुजगलो* । मन को हृदय म स्थिति मिलती है—'यतो निर्यातिविपया यस्मिश्चैवप्रलीयते हृदय तद्विजानियात् मनसस्थिति कारक'। श्रद्धा मनु का स्थिति देती है, ऐसा नही कि श्रद्धा का क्षत्र चेतम मात्र हो उससे विपया के उद्गम है, उसम विकल्पो के स्वप्न भी है जा चेतन से पदाथ के विकास के सत्य से सवादित है। 'श्रद्धा का था स्वप्न किन्तु वह सत्य बना था । किन्तु, उसके हाथो विकल्प रथ की जो वल्गा है वह कल्याणमय सकल्प के आलोकित तन्तुओ से ग्रथित है। उपादान के तात्विक के सथमन मे कहती है—

देव असफलताओ का ध्वस प्रचुर उपकरण जुटा कर आज
पडा है बन मानव सम्पत्ति पूण हो मन का चेतन राज

ध्वसरूप वे देव असफलतायें अब ऋक्थ रूप म मानव की वास्तविक सम्पदा है जिनसे एक नई मानवी सस्कृति के उद्भव और विकास की प्रतिज्ञा कामायनी देती है—'पूण हो मन का चेतन राज।' सृष्टि मूल परक आधार-दृष्टि मे भेद के कारण ही कामायनी मे मानव समाज की परिकल्पना प्राक्तन और अनैतिहासिक मानी जाती है जो दृष्टि भेद के अतिरिक्त इस व्यापक परिवेश के सम्पूण उपक्रम चित्र के आकलन मे असमथ रहने से असम्भव नही। कामायनी मे इतिहासतत्व के प्रति भी चेतनानिष्ठ दृष्टि है जिसका परिणाम बनता है वस्तुपरक इतिहास।

यह प्राक्तन भाव नही नवीन विकसित दृष्टि है जिसकी उपेक्षा उसे अवास्तविक नही सिद्ध करेगी। मानवी सामूहिक चेतना के स्तर को स्पर्श करती इतिहास की परिधि का उल्लेख सम्भावित सशय के निवारणार्थ आमुख मे प्रस्तुत है। सदैव से वस्तुनिष्ठ इतिहास घोखने की रूढ परम्परा के प्रति यह अश्रुतपूर्व विद्रोही स्वर है न कि कोई अनैतिहासिक अथवा प्राक्तन भाव। कामायनी अपनी सार्थकता इस सन्दर्भ मे स्पष्ट करती है—'चेतना का सुन्दर इतिहास निखिल मानवभावो का सत्य'।

वस्तु को प्रतीयमान जगत का हेतु मानने पर उस वस्तु का वस्तुत्व भी जान लेना होगा जो अभी विज्ञान (भौतिक) की शोधशाला से प्रमाणित और स्थिर नही हो पाया है और कदाचित् शक्ति की प्रारम्भिक कक्षाओ मे ही अभी वह घूम रहा है। भौतिक विज्ञान के समक्ष अन्ततो गत्वा एक दुरूह ग्रन्थि चेतना की पडी है जिसे वह कैसे सुलझाये-सकारे, शतियो से यह एक मौलिक प्रश्न बना है। चेतना को सरकाने मे वस्तु-हेतुत्व समाप्त होता है और पदार्थ सक्रियता के प्रसग म चेतना की उपेक्षा नही हो सकती। सुतराम् उसे, अन्तजगत-वाह्यजगत के मध्य और उन्ही का आश्रित एक स्फुरण मान लिया गया ससकोच और अनिवार्यतावश। और फिर यह कहने की सुविधा हो गई कि वस्तु एव वस्तु प्रकृति का परिणाम चेतना है। किन्तु वस्तु को आत्म-सक्रिय मानने से विरजित है। सशय उठता है कि यदि वस्तु हेतु है, तो उसे स्वाधीन होना चाहिये फिर चेतना से चालित और पुरुषाधीन क्यो? किन्तु, विज्ञान की प्रगति जैसे जैसे सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हो रही है उसमे तत्व जिज्ञासा निष्ठावती हो रही है यह मानव समाज के लिये शुभ है। द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते-होते स्थूल स्तर का भौतिक विज्ञान (जिसके अर्थ अन्नमय कोष एक पारिभाषिक शब्द होगा) अगले सूक्ष्म स्तरो मे अनुशीलन मे निष्ठावान हो गया, और प्राणिक इयत्ताओ की प्रतीति उसे प्रत्यक्ष होने लगी। सोवियत वैज्ञानिक ग्रेशिको ने पहली बार पदार्थ की पाँचवी स्थिति—प्लाज्मा को पाया। यही नही भारी शक्ति वाले वैद्युतिक उपकरणो की सहायता से अदृश्य और आकाश-देह वाले फोटो ग्राफ वहाँ 'किरोलियन औरा' के तकनीक से लिये गये हैं यद्यपि ये स्तर अपेक्षाकृत सूक्ष्म रहने पर भी चेतना के पदार्थीकृत स्तर ही हैं और मनोमय विज्ञानमय-आनन्दमय स्तर तो अभी बहुत दूर हैं किन्तु भौतिक विज्ञान उनके द्वार खटखटा रहा है, यह कम नही।

जड और चेतन की परिभाषा मे, चेतन की विलक्षणता स्वाधीनता

म और जड की परवशता मे निष्ठित है। प्रकारान्तरेण मे चेतन के ही क्षिप्त-अवगुण्ठित भाव का निवचन जड द्वारा होता है। उभय म तत्व प्राधान्य विलक्षण नही है एक ही है। जल के तरलत्व और प्रवाह-स्वाधीनता को जल और उस जल की ही अवगुण्ठित भावगत सघनता को हिम कहा जाता है। इस मूलभूत प्रश्न और उसका समाधान लेकर कामायनी प्रथित है जहा वह एक ही तत्व अपने गतिमय बहिरुल्लास म जल कहा जाता है और अन्तर्विलासित स्थितिमयता मे हिम होता है। उसकी प्राविविकआख्या कही प्रकृति-पुरुष तो कही शक्ति और शिव द्वारा दी जाती है। 'एक तत्व की थी प्रधानता कहो उसे जड या चेतन'। और फिर अन्त मे उभय भाव चेतन्य समरस हो समाधान करते हैं—उस प्रश्न का जिस मात्र खण्डश मनुज की स्थूल अनुषग प्राय विषमता के निरसन म ही समाहित मान लिया गया है—'समरस थे जड या चेतन 'तव' 'सुन्दर साकार' बनता है जिसमे समान-चेतना का विलास होता है अर्थात् जड और चेतन भिन्न मूल्य वाले नही रहते ऐसे चेतन विलास के अन्तभुक्त आनन्द का अखण्ड भाव चमत्कृत होता है। किंवा आनन्द के भी विगलित भेद सस्कारोपरि 'चेतनता एक विलसती' है। ध्यान रहे कि आनन्द मे लेशत उसी प्रकार द्वैत रहता है जिस प्रकार ईश्वरतत्व मे अधिकार मल और सदा शिवतत्व म भोगमल रहता है और शिव स्वशक्ति की पृथगानुभूति म मूल अज्ञान अथवा महाशून्य पदवाच्य होता है। सुतराम् कामायनी के इस अन्तिम छन्द चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था म वतमानता अद्वय चैतन्य के विलास या स्फुरण की है जहा आनन्द उपरत है। अस्तु जड और चेतन प्रसग म सयोजक बिन्दु का भी कामायनी मे चिन्तन है जड और चेतन की परस्पर समन्वयभूमि का भी चिन्तन है और, वह सयोजक बिन्दु या समन्वय भूमि स्वयमेव कामायनी है। जो, अपने पिता का काम के शब्दो म—

यह लीला जिसकी विकस चली वह मूलशक्ति थी प्रेमकला
उसका सन्देश सुनाने को ससृति मे आई वह अमला
हम दानो की सन्तान वही कितनी सुन्दर भोली भाली
रगो ने जिनसे खेला हो ऐसे फूलो की वह डाली
जड चेतनता की गाठ वही सुलझन है भूल सुधारो की
वह शीतलता है शातिमयी जीवन के उष्ण विचारो की

और वस्तुत कामायनी मनु के ऐहिक-आमुष्यिक, जड-चेतन उभय स्तरा

की समन्वयभूमि या सयोजक बिन्दु है। अमला चिच्छक्ति, पेमगला विद्या पर प्रमाऽपदोभूता कामकला के सन्देश अपने 'जगमगल सगीत' के मा यम से देती है। ऐसे सयाजक विन्दु का कथा भिन्न प्रस्थानो म भिन्न नामो मे हुआ है। चित् अचित के सयोजक बिन्दु को द्वैत वादी शैव-प्रस्था महामाया कहते हैं वैष्णव-परम्परा मे यह अप्राकृत विशुद्ध-सत्त्व है योग (पातजल) म प्रकृष्ट सत्व यही है और महायान का नाविमत्व भी यही है आगम को अभेद-परम्परा इसी का कामबिन्दु कहती है, और कामायनी काम की वैदवी सतति है 'कामगोत्रजा कामायनी श्रद्धानामपिका' के रूप मे सायण द्वारा इसका उल्लेख इसके ऐतिह्य-कथन म पर्याप्त है।

क्रान्ति की वृत्ति बडी व्यापक है, वह मानव-समाज के ऊपरी धरातल पर ही नही, चेतन-पीठिका पर ही नही अपितु, प्रकृति के अय स्तरो पर भी सक्रिय रह परिवत्तन और विकास की गति अग्रसर करती है वस्तुत विकासात्मक परिवत्तन इसके पीछे सकल्प भत रहता है। सुतराम्, प्रकृति का यह अ तर्जात क्रान्ति तत्त्व अपनी सहज सक्रियता म अतिचारी देवो को अनायास ही समाप्त कर देता है। प्रतिकरण और अतिचरण की तीव्रता के तारतम्य पर क्रान्ति की प्रखरता निभर करती है और वही उसकी उपलब्धियो को भी स्थिर करती हैं। "बढने लगा विलास वेग सा वह अति भैरव जलसघात" और फिर "देव-दम्भ के महामेध मे सब कुछ ही बन गया हविष्य" क्योकि "प्रकृति रही दुर्जेय पराजित हम सब थे भूले मद म"। आगे चलकर भी मनु के अतिचरण के प्रतिकार मे "अ तरिक्ष म महाशक्ति हुकार कर उठी" और प्रतिकार के लिये रुद्र को धनु' दिया (अह रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा उ—देवीसूक्त ऋग्वेद)। देवयुग का अवशिष्ट प्राणी मनु बाहर स सब कुछ खोकर भी सस्कार-सम्पदा सँजोये रहा "मेरा सब कुछ क्रोध मोह के उपादान से गठित हुआ" किन्तु सारस्वत प्रदेश की प्राणिक-क्रान्ति के अनन्तर उन अतिचारी देव-सस्कारो की भी सवथा पराजय हो जाती है और तब मनु आदिम सवहारा रूप मे बोल उठते हैं—"मैं इस निजन तट म अधीर, सहभूख व्यथा तीखा समीर" "मै शून्य बना सत्ता खोकर"। यह सवहारा रूप ही उसे आगे चल कर मिलने वाली अनुग्रह-सम्पदा की प्रतिज्ञा है—"यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सवहराम्यहम्"।

शून्य असत् और अन्धकार को जैसी तीसरी दशा रहती है वैसा ही

होने की सभावना के दिन अभी युगो बाद लौटने वाले थे तब सामूहिक चेतना विशीण, अभिसुप्त और अगठित थी, व्यस्त थी किन्तु भावी भविष्य के उत्तरदायित्व सभालने के लिये स्पन्दित होती अभी एक चेतस-पीठिका प्रस्तुत हो रही थी। सुतराम्, सामान्य काव्य चिन्तन को तब उसको वाणी बोलनी थी जिनके अन्न पर वह पलता था। सम्पर्क और विचार के विनिमय साधन सीमित थे। तीन वर्षों मे हुएनत्साग चीन से भारत आ सकते थे और अतिशा को वहा तक पहुँचने मे सकारण और भी अधिक समय लगता था। वर्षो की दूरी मासो मे सिमटी मास दिवस बने जिनके काम मुहूर्त करने लगे और अब मानव चन्द्रधरा की रज का स्वामी हो चुका। उस समय तो वैसी बात थी नही तब तो सूर के कृष्ण का मचलना कि 'मैया मैं तो चन्द्र खिलौना लैहो' एक अपूरणीय माग के साथ ही कदाचित भव के सुदूर भविष्य की परिभाषा भी थी जो आज वर्तमान बन गई। अतएव, काव्य-केन्द्र महानो, शक्ति-साधन सम्पन्नो के क्रान्तिवृत और नाडी जाल के सम्पात-बिन्दु-स्वरूप राहु से ग्रस्त रहा। उनकी इच्छा-आवश्यकता की पूर्ति का साधन होकर, उनकी नाराशसियो से लोकमानस को प्रभावित रखने का यन्त्र बना रहा। जब इससे अवकाश मिल तब आत्मा-परमात्मा, ब्रह्म माया, निगुण-सगुण की व्यायामशाला में उसने लोकमानस की प्रतिभाओ का उपयोग किया। समाज के बौद्धिक योगक्षेम का स्वरूप तब कुछ और था जो पिछली कई शतिया म केवल रामचरितमानस का चित्य बन सका उसके कवि तुलसी सामान्य जीवन के तिक्त-मधुर फल खाकर जिये, किसी दरबार के अन्न पर नही पले। समाज की चेतस आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये, सामूहिक चेतना के अव्यक्त शक्तिया को परिणति मे अनुरूप प्रतिमा का गठन होता हैं जो व्यक्ति निष्ठ नही समष्टि-परक रहता है इसीलिये वैसे व्यक्तित्व समष्टि की सम्पदा होते हैं और उनमे निहित श्रेयज्ञान की सत्ता उन व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रो के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है सस्थित रहती है। वैसो श्रेयज्ञान की सत्ता ने प्रसाद के प्रेय कलेवर मे अधिष्ठान ग्रहण किया मानव चिन्तन के विकास मे यह एक ऐसी घटना हुई जिसके पूर्वापर प्रभाव का निरपक्ष और पूरा पूरा आकलन अभी शेप है। मौलिक अथ मे काव्य जरा मरण से अबाधित सामर्थ्य का का पर्याय है 'पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीयत' (ऋक् १० ५५ ५)।

सहिता काल म काव्य वस्तु, जातीय सपद विपद उद्भव पराभव और योगक्षम को अन्तरात्मिक एव सावभौम स्तर पर चिन्त्य

बनाकर समष्टिपरक था गाथा काल मे वह व्यक्तिनिष्ठ होने लगा जिनम मानवी अन्तद्वन्दो के बाह्य प्रतिनिधि रूप शूरो और समाज पर छाप छोडने वाले विद्वानो समर्थो और असमर्थों के सघप की भावप्रवण छन्दमयी रचनाओ (विशेषत आर्याछन्द) मे वास्तविक चरित्र अपनी गाथायें कहने लगे। काल की शृ खला न ढूँढ पाने पर उनकी सत्यता सहसा और सवथा अनैतिहासिक-अवास्तविक नही हो सकती। ऐसी गाथाये गाने वाले आरयार सहिता भाग नहो वन पाये क्याकि उनमे व्यक्ति निष्ठा थी घटनापरक सत्य के बहिरगी इदबोध से उनक आयतन गठित थे और लोकचित्र के परिवतनशील पट उनकी रगभूमि रहे जब कि ऋचा भाग लोक के शाश्वत मूल्यो के आन्तरात्मिक उद्ग्रन्थन म सचेष्ट ग्ह रूपकीय सकेतो से प्रतीको के रूपमे इन्द्र, वरुण आदि द्वारा आत्मा देह आदि के परिकर मे समप सन्देश देता है।

काव्य-चेतना की वग निष्ठा धीरे धीरे उपरत होने लगी, उसकी भूमिका लोक-मगल की अभीप्सा लेने लगी, किन्तु वस्तुत अभिजात लोक मगल की परिभाषा अभी अधूरी थी। देश और जाति के घेरे को तोड समग्र मानव जाति और सकल मेदिनी मण्डल को व्याप्त बनाते अतीत और अनागत को अपने वतमान मे खीचकर काव्य-चेतना को सावभौमिकी और सार्वायुषी बनाना सामथ्य-पराक्रम की भागीरथी वहाना था। युग की दशाओ और मानवी विकास के उपक्रम की व्याकुल पुकार अब काव्य चेतना के उपकण्ठो पर गूँजने लगी। मनुज की पराधीनता उसकी सावदेशिकी दरिद्रता अधिपति-अधिकृत के विषमावस्थान जनित शापण अव उसकी विचारपद्धति के आयाम वदलने लगे। जीवन की परिभाषा उत्तरात्तर व्यापक होती दृष्टि और मूल्यो मे भारी परिवत्तन करने लगी।

पदाथ-सम्पदा लेकर सृजन और सक्षय के चरणो मे डग भरता आर्थिक सामाजिक परिवेश द्रुततर हो उठा पशु मनुष्य के कर्मो का यान्त्रिकीकरण भावो का भी यान्त्रिकीकरण करने लगा और यन्त्र अध्यवसाय बौद्धिक स्तर की सीमा पर टकराने लगा। सुतराम् समाज के वर्गों की परिभाषा सास्कृतिक मूल्यो के आधार पर अहर्निश परिवर्तित होती सारहीन हो उठी। वस्तुत वग सघप से अधिक तीव्र और महत्त्वपूण हो उठा अपनी ज्वाला से जलते-बुझते वगसस्कारो का सघप। कामायनी मे भी "नर्तित नटेश" के युगलपाद सहार और सृजन के ही हैं किन्तु नर्तित नटेश की प्राविधिक आस्था मे वे सभी कोटियाँ उनके

अन्तभृत है जो पदार्थ से चैतन्यपय त सम्भव हैं मनु की सघर्ष तपस्या मे एक दीप्त सत्य रूप वे युगलपाद प्रत्यक्ष होते है।

बीसवी शती के द्वार पर खडी प्रसाद की सारस्वत प्रतिभा को युगावबोध मे युगप्रश्नो पर ठहरना, सोचना और समझना पडा—लोक मानस के आसमग्र योगक्षेम की बलवती अभीप्सा और विश्वमागल्य के अभिजात सकल्प ने उसे कुछ आगे बढने और भविष्य को सार्वभौम दृष्टि से ग्रहण करने की प्रेरणा दी, जिस भविष्य मे मानव को अतरिक्ष वेध करना था। उस प्रतिभा के ठहरने, सोचने और समझने के पडाव के रूप मे प्रसाद साहित्य की अन्य सभी कृतियाँ हैं, कामायनी को, जहा उस सकल्प का सिद्धि मिलती है छोड शेष समस्त प्रसाद साहित्य इस रूप मे ग्रहण किया जा सकता है। कामायनी को जानने की चेष्टा स्वयमेव समग्र प्रसाद साहित्य को जानने की चेष्टा उसी प्रकार है जैसे "एकमेव विज्ञात सव विज्ञात भवति"।

कामायनी के वस्तुतत्त्व और उसके विभिन्न अगो पर अनेक दृष्टियो से बहुत कुछ लिखा जा चुका और लिखा जायेगा। किन्तु उसके दर्शन उसके मनोविज्ञान, उसके साहित्य और उसमे निहित इतिहास-तत्त्व की गवेषणा करते हुये कवि दृष्टि उपेक्षित नही रहनी चाहिये। उनके जीवन-काल मे ही ऐसे प्रसगो का सूत्रपात हो चुका था और अस्पष्ट एव साग्रह-सापेक्ष समीक्षायें होने लगी थी जो वास्तविक दृष्टि से परिचित न रहने के कारण तथ्य-समीपी न थी। भविष्य मे ऐसी उलझनो के बढने की आशका म उन्हे आवश्यक प्रतीत हुआ कि बिना किसी मतवाद और खण्डन मण्डन के उस वास्तविक सिद्धान्त दृष्टि का परिचय दे दिया जाय जिससे उनके साहित्य का आयाम अपने प्रकृत आलोक म देखा जा सकता हो। सुतराम् काव्य, नाटक, रस रगमच, रहस्यवाद, छायावाद प्रभृति उस समय उठे और चर्चित प्रसगो पर उन्होने सूत्रशैली मे कतिपय निबन्ध लिखे और साहित्य की प्रयोजनीयता और साहित्यकार धर्म के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया जिससे उनके साहित्य के चरम कथ्य कामायनी के हेतु, वस्तुतत्त्व और उसके स्वरूप सगठन की अभिज्ञा सहज रहे।

वहा कहा गया "जब सामूहिक चेतना छिन्न भिन्न होकर पीडित होने लगती है, तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिये और सिद्धान्त से

ही आदशवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिये यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नही ठहरता क्योकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था, किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र प्रणेता[1]। इन दोनो के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं। साहित्य इन दोनो की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुये भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःखदग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है इसीलिये असत्य अघटित घटना पर कल्पना की वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमे विश्व मंगल की भावना ओतप्रोत रहती है।" (यथार्थवाद और छायावाद)

महाकाव्य के सम्बन्ध मे वहा ये पंक्तियाँ मिलती हैं— 'मानव के सुख-दुख की गाथायें गायी गई हैं। उनका केन्द्र होता था धीरोदात्त विख्यात लोकविश्रुत नायक। महाकाव्यो मे महत्ता की अत्यन्त आवश्यकता है। महत्ता ही महाकाव्य का प्राण है"।

(आरम्भिक पाठ्यकाव्य)

'नाटक मे, जिसमे आनन्दपथ का, साधारणीकरण का, सिद्धान्त था, लघुतम के लिये भी स्थान था। प्रकरण इत्यादि मे जन साधारण का अवतरण किया जा सकता था, परन्तु विवेक परम्परा के महाकाव्यो मे महानो की ही चर्चा आवश्यक थी'। 'काव्यधारा मानव मे राम है—या लोकातीत परमशक्ति है इसी के विवेचन मे लगी रही। मानव ईश्वर से भिन्न नहीं है यह बोध यह रसानुभूति विवृत नही हो सकी'। रस की प्रचुरता यद्यपि थी क्यों कि भारतीय रीति ग्रन्थो ने उन्हे श्रव्य मे भी पहले प्रयुक्त कर लिया था, फिर भी नाट्यरसो का साधारणीकरण उनम नही रहा'। (आरम्भिक पाठ्य काव्य) ऊपर दिये गये उद्धरणो से (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध के) स्पष्ट होता है कि काव्य की

---

१ तु० इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थिति, उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट रसोचित कथोन्नय (ध्वन्यालोक ३-११) कविनाकाव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रस परतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्त यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुण कथान्तरमुत्पादयेत्। न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किञ्चित्प्रयोजनम् इतिहासादेवतत्सिद्धे। (लोचन टीका)

प्रयोजनीयता और कविकर्म के तथावधि आगत और प्रस्तुत स्वरुप कामायनी के कवि के निकष पर विश्रामागल्य के अथ श्रेय प्रेय समन्वित सुवर्ण नही ठहरे फिर उनसे युग बोध की वैसी प्रतिमा क्या कर ढलती जिसके चरणो मे समस्या और समाधान के अक्षत पुष्प सज हो।

काव्य जगत के चक्रवर्ती उन विवेक परम्परा वाले महत्ताप्राण महा काव्यो के माध्यम से मानवी सवेदनाओ की गाथायें गाई गइ जिनके नायण सुवर्ण के मेरु होते थे वसुधा के जलते रज-कण नही। वहाँ लघुतम के लिये कोई स्थान नही था उन नायको के अथ और समाज तन्त्र पृथक-लक्षण विशिष्ट और परिग्रह विपुल होते थे जा कहो-कही लोकोत्तर-सीमा का भी स्पर्श करते थे फिर लोकसामान्य चेतना के भावाभाव-गत कम्पनो की अनुकम्प-लहरी उनमे कैसे उठती ? सुतराम् कामायनी के युग मे आमग्र लोकमगल ही काव्य का प्रयोजन बना (वह कामायनी जगत की मगल कामना अकेली) जिसकी सहज प्रतिज्ञा को चरितार्थ करने के लिये सकल्प की दिशा पकडनी पडी और 'आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति' का परिणाम काव्य पुरुष का प्राण बना।

मणि किरीटी चक्रवर्ती रूप म धीरोदात्त नायक अकेले अभिनय मे केवल स्वगत ही बोल सकता है सुतराम्, नाटको मे जनसामान्य के बिना काम नही चलता। और सामान्य-जन-सवेदन महाकाव्य मुख से नही बोल सकते, अत प्रयोजनीयता की दृष्टि से नाटक और का य की विधाओ के समन्वय से इस रूपक-वृत्ति वाले काव्य कामायनी की कल्पना साकार हुई जिसमे जनसामान्य-सवेदनो के मूलभूत-स्फुरण काव्य रग पर उपस्थित हो अपनी गाथायें गा सकें। किसी घिसेपिटे टकसाली धीरोदात्त नायक को ले महाकाव्य के प्रस्तुति की तो वहाँ दृष्टि ही नहा फिर वैसे लक्षण ढूँढने और पाने न पाने की बात ही व्यथ है।

मौलिक दृष्टि यहाँ जनसामान्य की अ तर्जात सवेदन गाथा पर है और उसी स्तर पर कामायनी के अनुनायक मनु का अभिनय सफल भी होता है। गत मन्वन्तर का धीरोदात्त मनु नये म वन्तर म सामा य-जन की भूमिका म सवेदन के हेतुतत्व ले उपस्थित होता है और, जहाँ वह अपने पिछले उच्छृङ्खल अतिचरण उठाने लगता है वही उसके दप को प्रकृति का अन्तर्जात विद्रोह-तत्व चूर कर देता है। काव्य चेतना मे लघुतम को स्थान मिले, सूक्ष्मतम स्फुरणो की परिचर्चा हो सके, विश्वा लीणता विश्वमयी हो अपने यथाथ कह सके और अपना भूला बिसरा

निजरूप मानवता की पहचान मे आ जाय, यह रूपक वृत्ति के सहारे प्रत्यभिज्ञा की दिशा पकड कर ही सम्भव था मात्र रचना उपक्रम मे निज के सीमित भावद्रव से ढले किसी कोरे काव्य या महाकाव्य के बूते नही। मानव जाति की यात्रा के मध्यवर्ती पडावो या युगो के परिधिवर्ती कथानक लेकर ऐसे आधारभूत तथ्यो का सफल विवेचन भी सम्भव न था। इसके अथ राम, कृष्ण या बुद्ध जैसे लोकोत्तर चरित नायक प्रयोजनीय नही हो सकते थे अपितु उन चरितो की वह अपर्णा-जननी-मूर्ति ही युक्त हो सकती थी जो मानवता के प्रथम चरण म अपना सवस्व समपण किये उत्पीडन और दलन को पहली बलि बनो। महा काव्य शास्त्रीय नियमो क प्रति विद्रोह काव्य की सात्विक (सत्वगत) निष्ठा के लिये आवश्यक हो गया कवि ने 'कल्पना का काम म ले आने का अधिकार' युक्तत प्रयुक्त किया। आदि बिन्दु से चलकर गुण दोषो के प्रारम्भिक रूपो को विचारते आनन्द समाधान की चैतन्यमयो दृष्टि लिये, लोकाग्नि के आदिम ताप झेलती 'सकल्प अश्रुजल' वाली कामायनी (श्रद्धा) के चरित नायकत्व मे ही ऐसी परिकल्पना साकार हो सकती थी अन्यत्र और अन्यतया कदापि नही कथमपि नही।

सास्कृतिक प्रगति की कुक्षि से उद्भूत और वैषम्य-जनित मानव समाज को समस्याओ के निदान और उपचार के लिये प्रयोजनत, दुखो की निवृत्ति और आनन्द की अवाप्ति के अथ अन्य शब्दो म 'दुस दग्ध जगत और आनन्दपूण स्वग के एकीकरण' हेतु मानव को सामूहिक चेतना को वस्तु से हेतु पयन्त उसके आसमग्र, अद्वित और समष्टि रूप मे लेना-देखना होगा।

उस अन्तर्निहित चेतना की खण्डात्मिका अनुभूति और अवच्छेदगत अभिव्यक्ति एक ओर जहा विषमता विस्तार से जगत को 'दुखदग्ध करने के लिये तदनुकूल भूमिका प्रस्तुत करती है वही दूसरी ओर चेतना के परम-साम्य भाव और उसके अन्तर्जात भावरूप अर्थात् 'आनन्दपूण स्वग का निषेध भी करती है स्वरूप विश्रान्ति का माग काटो से रूँध देती है।

स्वरूप के, अवयवी के, अगो को विदारित विक्षिप्त प्रक्षिप्त अथवा एक ही शब्द मे व्यस्त कर तद्गत अभावो के पृथकश निरसन की योजना किसी मौलिक-अमोघ समाधान की दृष्टि से वायवीय ही रहेगी। वैसा करना एक सामायिक और चरणात्मक उपशामक उपचार तो हो

सकता है, किन्तु रोग की संस्थागत निराकृति और उसका मूलाच्छेद या सर्वथा—निरास नहीं।

सुतराम् समस्यागत उपरागों का विलोप और सभी स्तरों पर उनका वस्तुतः निवारण, सहसा और विक्रान्तत कैसे अनुभूत और अभिव्यक्त हो इसके अनुशीलन में प्रसाद भारती का कामायनी-चरण एक स्पर्धीय गति लेकर उठता है।

उन चरणों में, अतीत के ध्वंसों से उपकरण ले अनागत को समुज्वल बनाने की लय है। भौतिक जगत पर 'अमृत सन्तान' मानव के पूर्ण स्वामित्व की एक महती कल्पना है जिसमें पांच भौतिक जगत पर उसका पूर्ण और वस्तुतः नियन्त्रण हो अशनि और कारका जिसके संत्रास के कारण न बनें अपितु मनुज के इंगिता पर वे चला करें मानवी सृष्टि को ऐसे धरातल पर ले जाने की प्रतिज्ञा कामायनी में प्रस्तुत है—

> "डरो मत अरे अमृत संतान अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
> पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र खिंची आवेगी सकल समृद्धि।
> देव असफलताओं का ध्वंस प्रचुर उपकरण जुटाकर आज
> पड़ा है बन मानव सम्पत्ति, पूर्ण हो मन का चेतन राज।
> चेतना का सुन्दर इतिहास—अखिल मानव भावों का सत्य
> विश्व के हृदय पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य।
> विधाता की कल्याणी सृष्टि सफल हो इस भूतल पर पूर्ण,
> पटें सागर, बिखरें ग्रह पुंज और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।
> उन्हें चिनगारी-सदृश सदर्प कुचलती रहे खड़ी सानंद,
> आज से मानवता की कीर्ति अनिल, भू जल में रहे न बंद।
> जलधि के फूटें कितने उत्स द्वीप, कच्छप डूबें उतरायँ
> किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति अभ्युदय का कर रही उपाय।
> विश्व की दुर्बलता बल बने, पराजय का बढ़ता व्यापार
> हँसाता रहे उसे सविलास शक्ति का क्रीड़ामय संचार।
> शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।
> समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।"

परस्पर विभक्त करने वाली मानवी संस्कृति की कृत्रिम खाइयाँ पाट दी जायँ (पटें सागर) संग्रहमूल केन्द्रीकरण के मणि खचित किरीट जो युगों से 'बहुतों' के अभाव के कारण बने हैं विघटित कर दिये जाएँ (बिखरें ग्रह पुंज) अशन वसन की चिन्ता शिखाओं वाली वर्ग वैषम्य

जनित विभीषिकायें निरस्त कर दी जायें (और ज्वालामुखियाँ ही चूर्ण) और इन सब प्रत्यावायो को एक नगण्य स्फुलिंग सदृश कुचल कर दृप्त मानवता को दृढमूर्त्ति अपनी सम्पूण सहृति मे उठ खडी हो। विश्व का दुवल विन्दु' उसका बल बने। वर्गात्पीडन चक्र मे प्रथमत पिष्ट, अवलाभूत नारी अपने वलात् छीने गये अधिकारो को अधिकृत कर बलमूर्त्ति हो जाय। शक्ति अबला नही सबला होकर ही शक्तिमान को स्पन्दित करती है। युगो के अन्तराल मे दीख पडने वाले उसके पराजय एक क्रीडावृत्ति मात्र हैं किसकी, यह प्रश्न अन्य है। मूल मे समाज मातृ सत्तापरक है जिसके प्रतिपेध मे पितृ-सत्ता का उदय हुआ और इस क्रिया प्रतिक्रिया मे विखण्डित शक्ति प्रतिमा अब समन्वित होकर ही उस मानवता को विजयिनी बना सकती है जो उसकी सन्तानधारा है। नर और नारी समन्वय भूमिका पर ही सृष्टि मगल कर सकते हैं विषम भूमि एक को अनुवर्रा और दूसरे को पुरुषार्थहीन बनाती है। समाज म आदि वगसघर्ष भूमि नर और नारी के मध्य बनी और यही भमि वग सघप का अन्तिम कुरुक्षेत्र होने के योग्य भी है।

एतदय मानव के भावात्मक, भावगत और भावनिष्ठ उस सत्य को देखना होगा और, उस तदथ चेतना का इतिहास जानना होगा जो शाश्वत-अभिनय रत होकर अपनी अभिव्यक्ति म स्थूल घटना के क्षणों का इतिहास बन जाती है केवल पदाथ सत्य अथवा सत्य की क्षण भगिमायें ही नही। विश्वसृष्टि के मच पर गिरने उठने वाली प्रतिसीराओ मे समष्टि चेतना का अनवरत दृश्य रूपक चलता है, इस रूपकीय रसानुभूति की विवृति मे कहा है—

एप प्रकाश रूप आत्मा स्वच्छन्दो ढौकयति निज रूपम्
पुन प्रकटयति झटिति क्रमवशाद् एप परमाथने शिवरसम्

रूपकीय साधारणीकरण म रस की यह एक विमल झाँकी है। यहाँ परमाथ और शिवरस को सम्प्रदाय अथवा धम को 'चरमे' से न देख मूलत उद्दिष्टि अर्थात परमाथ और, ससृति के अथ मगलमय, पोषक और प्रेयरस अर्थात शिवरस और आत्मा को सहज-स्वतन्त्र प्रकाश रूप निज चैतन्य के अथ मे ग्रहण करने मे युगबोध से कही विसवाद नही। यह उन्मीलन निमीलन नाटयधम का मूल और सहार सृजन के युगलपाद' वाले नटराज की भावमूर्ति भी है। स्वच्छन्द किंवा निरावृत प्रकाश रूपआत्मा को ढाकने उघारने की सहज-लीला उसकी विमशरूपिणी शक्ति के माध्यम स चलती है जिसमे विश्व ससृति रूप उसकी सन्तान के

उदयास्त सम्पन्न होते रहते हैं। रस द्वारा ही विश्व का पोषण आप्यायन होता है। करुणामयी विश्व माता अपने शिशु को रसपान द्वारा ही आनन्द मग्न और जीवन्त रखती है—रस ही सृष्टि मूल है। सत्ता (सत् + ता) रस द्वारा ही विजिज्ञास्य और विज्ञात होती है 'रसोवै स'। इसकी मगलमयी सत्ता के, स्नेह निष्यन्दिनी-मातृमूर्ति से प्रवाह के निवचन मे ऋचा कहती है—

यो व शिवतमोरसस्तस्यभाजयतेह न । उशतीरिवमातर ॥
(ऋक् १०-९-२)

ऐसे रूपकीय रसानुभूति के धरातल पर सचरित साहित्य दुखदग्ध जगत और आनन्दपूण स्वग का वैसा एकीकरण अनायास ही कर लेगा जिसे प्रसाद भारती साहित्य का स्वरूप मानती है और जहाँ दुखमय दिग्दाहो से पीयूष के मेघ सम्पृक्त रहते हैं।

साहित्य यदि 'दुखदग्ध जगत और आनन्दपूण स्वग का एकीकरण' नही कराता तो, या तो वह विधि निषेध-परक धमशास्त्र बनेगा अथवा विवेक की सशयात्मक खनित्री से निकला किसी घटना विशेष का दृष्टि विशेष युक्त उल्लेख होगा किंवा विस्मृतध्वसावशेषो से उत्खनित सीमित तथ्यो का कोई पुराभिलेख होगा किन्तु, रसभाव की प्रेय प्रचुर सृष्टि उस साहित्य मे सम्भव न होगी। वैसे एकीकरण का माग नाट्यरसो के साधारणीकरण से ही सम्भव है। वह रसानुभूति, मानव ईश्वर से अभिन्न ही नही स्वय ईश्वर ही है—इस सहज बोध म है। सुतराम् मानव, व्यक्ति नही समष्टिभूत मानव, महत्तम है स्वयमेव ईश्वर है। और महत्ता ही महाकाव्य का प्राण है। विवेकपरम्परा म महानो की चर्चा महाकाव्यो मे रहती है समष्टिभूत महत्तम मानव की नही जिसमे लघुतम और जनसाधारण ही प्रधानत उपादानभूत है। जो अणोरणीयान है वही तो महतो महीयान है और वह, युगो से उपेक्षित क्षुद्रतम बना मानव ही तो है? जिसके अथ कहा है 'मनुष्य देहमास्थायछन्नास्ति परमेश्वर' मानव के शोषण, उपेक्षा और उसकी कदथना के विरोध मे साहित्य जगत म यह अप्रतिम विद्रोही स्वर है, एक ऐसे क्रान्ति की घोषणा है जिसने निहित स्वायपरक सामन्ती विचार धारा को अपने ढग से चुनौती दी है। तक म युक्ति से अधिक काम लिया गया है। समथन म शास्त्र वाक्य भी अनायास जुटते रहे। वस्तुत मानव मे राम है अथवा वह कोई लोकोत्तर सत्ता है इसकी ऊहापोह से बेचारे मानव का क्या सधा,

वह जहाँ का तहाँ पडा रहा। विलक्षण और चमत्कार भरे तर्कासव की उसे लत पड गई और मध्य वग के ऐसे वाग्विलास उसके लिये एन्द्र जालिक आकपण-केन्द्र वन गए। उसे बताया तो जाता है कि राम जैसा आचरण करो रावण जैसा नही, किन्तु अपने को राम मत मानो, अथत अपने राम को जानो नही। यह क्या विडम्बना नही ? अनुग्रह की महिमा के सन्दभ में यद्यपि गुँसाई जी ने बताया 'जानत तुम्हि तुम्हि होइ जाई' किन्तु विकल्प धारा के 'तुमुल कोलाहल' में ऐसी 'हृदय की बात' कौन सुनता ? फलस्वरूप वह (मानव) अपने को राम न जान सका फिर वैसा आचरण कैसे करता ? सुतराम् समाज क रावणीव्रण दाह और पीडा से उसे विकल किये है। साहित्य ने इस दिशा म समाज का क्या उपकार किया ? उस पर सर्वाधिक गुरुतर दायित्व था। दुख दग्ध जगत और आनन्दपूण स्वग के एकीकरण को साहित्य मानने का अथ होगा दानो की स्वतन्त्र सत्ता एव तज्जननी वैषम्य के उपसर्गो का निरास और निषेध और वैसे साहित्य मे सवमागल्य की सवसुन्दरता से मण्डित समाजमूर्ति का चित्र सहज ही प्रतिफलित रहेगा। विडम्बनाओ के विद्रोह म उन निबन्धा मे स्थापना मिलती है। चिन्तन और अनुभूति की तपस्या म कामायनी के लिये वह पीठिका प्रस्तुत हुई जिस पर समष्टिभूत मानव अपने मौलिक समस्या का समाधान यथाथ के वास्तविक बिम्ब आदश के निमल मुकुर म पा सके, और जिसके पात्र राम, कृष्ण और बुद्ध क भी पूवज हो और, जो सृष्टि के उद्भव से लय पयन्त की बहुस्तरणीय कथा कह सके। पात्र महत्ता और भूमिका स्फीति के सन्दभ मे ये तथ्य अवलोकनीय है जिसके आलोक मे दिव्याक्षरो मे अंकित मानव भावो के सत्य से समन्वित 'चतना का सुन्दर इतिहास निखिल मानव भावो का सत्य विश्व के हृदय पटल पर दिव्य अक्षरो से अंकित हो नित्य' (श्रद्धा सग) कामायनी मे दखा जा सकता है।

रूपक सत्ता पर। चेतन-दृष्टि से विचार के बाद पदार्थ दृष्टि से भी उसे देख लेना है। गुणमयी प्रकृति का अस्तित्व गुणो के विषमावस्थागत परस्पर धात मे स्फुरित है। मात्रा और स्फूर्तिगत अनवरत परिवत्तनो से गुणो मे परिच्छिन्नत्वेन उन्मुख विमुख, सगत विसगत, सयुक्त वियुक्त आदि द्वन्द्वात्मक विरोधिभावगत वस्तुतत्व पदाथ रूप मे परिणत हो जाते हैं जिनके नानात्व की सहति के काय को जड से चेतन का विकास मानने वाले विश्व कहते है। अनेकात्म विचारधारा की

विश्रान्ति का यह स्थल होता है। वही गुणो को भी पदार्थरूप या रूपाधीन माना जा जाता है। गुणो के घटन मे प्रस्तुत तत्व सहति रूपाकार होकर यत प्रतिक्षण प्रतिपद परिवर्तनाधीन है अत उनमे, अन्य शब्दो मे घटना मे तो अनित्यता का आरोप सहज है किन्तु घटित विश्व की तथता और वर्तमानता का वस्तुगत निषेध कहाँ ? विश्व चाहे सहतिजन्य कहा जाय अथवा स्योन्मिष्ट किन्तु है एक घटना का पदार्थ भूत कठोर सत्य। और, इसे ही असत्य मान बैठने से मनीषियो के तत्व चिन्तन को कहा ठाँव मिलेगा ? जगत मिथ्या कहने वालो की शास्त्रीय व्यायामशाला फिर कहा होगी ? कदाचित, यह उपक्रम कुछ वैसा ही होगा जैसा कृषि-वाणिज्य व योगक्षेम को उपेक्षा और हेयता देते समग्र मेदिनीमण्डल को पीतकषाय से ढँक कर भी गृहपति के द्वार से पिण्डपात की अभिलाषा।

इस घटन क्रिया से समग्र भूत-तथता की सहति को एक घटना-प्रवाह के रूप म लेने की सुविधा हो जाती है और फिर एक ऐसा अर्द्धविराम आता है जो कुछ के लिये पराविश्रान्ति का स्थल बन जाता है, फलत प्रमाणवार्तिक अलमिति के स्वर म 'सहती हेतुता तेषाम्' कह देता है। किन्तु उस कारण भूत सहति के कारण पर विचार की आवश्यकता न हुई और सुविधानुसार मीमासा वही रोक दी गई। ध्यातव्य है कि सहति प्रक्रिया म सहत इकाइयाँ सहत हो कर भी एकी भूत नही होती' इयत्तायें मिलित होकर भी आस्तित्व रखती हैं, उनकी प्रकृति केवल अशात्मकतया उपहत होती हैं। उनके गुणो म साम्य नही आता सुतराम् प्रकृति का सर्वथा निरास नही होता। यदि उनम साम्य आ जाय तो फिर सवर्त की दशा होगी विवर्त की नही। फिर सहति म हेतुता ही तो है हेतु कहा ?

पदार्थगत नानात्व की सहति से चेतना के विकास की कल्पना करते हुये भी चेतनगत चेतना की चेतना सामान्यत अनदेखी रह जाती है। फलत पदार्थगत नानात्व की अभ्यास-दृष्टि चेतना मे भी नानात्व का आरोप करती है सुतराम् अद्वय चैतन्य के विस्मृति की पहली छाप लिये द्वयता तत उसके परवर्ती मुद्राका से अनेकात्म-अचेतन पदार्थ भूतबहुता के स्थान पर पदार्थ-नानात्व की सहति से चेतना का विकास मान उसकी (चेतना की) परिच्छेदा म कल्पना कर ली जाती है, फलत पदार्थभूत चैतन्य अपने अगो म स राग और सरक्त

नही वि राग और विरक्त होता है और चिति केन्द्रो का सघष अनवरत हो जाता है।

चेतनता का भौतिक विभाग, कर जग को बाँट दिया विराग
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत वह रूप बदलता है शत शत
कण विरह मिलनमय नृत्य निरत उल्लासपूण आनन्द सतत
तल्लीनपूण है एक राग झकृत है केवल 'जाग जाग' (दशन)
चिति केन्द्रो मे जो सघष चला करता है
द्वयता का जो भाव सदा मन मे भरता है (सघष)

पदाथ से चेतना के विकास अथवा चेतन से पदाथ के उन्मीलन इन दो मे किसी भी सरणि से चलने पर विश्व के रूपात्तत्व की सिद्धि है। अपनी साद्यन्तता मे भी अनादि अनन्त रूप भी मासमान वैचित्रय से भरा परस्पर विरोधि समागम से प्रस्तुत और गुणात्मक परिवतनो मे रयात, यह विश्व एक रूपक वृत्ति से स्फुरित है—'लीला का स्पन्दित आह्लाद है 'चितमय' का 'प्रभापु ज' 'प्रसाद' अथवा 'प्रभापु ज चितिमय' की प्रसन्नता किंवा 'प्रसाद' है।'[1]

विश्वगत घटना प्रवाह मे घटको का आविर्भाव तिरोभाव छायामय और चलित चित्रो के सदृश-स्वरूप है जो एक रूपकीय सत्ता की परिणति घोषित करते हैं अथवा चेतन जिसकी प्राविधिक आस्था 'नर्तित नटेश' है 'परिवत्ता के पट' उठा पदाथ एव उसके सृष्टि-सहार को गति चैतन्य देता 'नृत्य निरत' है।

विश्व क घटक-पदायतत्त्व ऐसी रूपकीय सहृति मे विरोधिसमागम-पूवक स्वत मच रूप हो परिणतिया अथवा गुणात्मक परिवतन प्रस्तुत करते ह। इनमे प्रत्यक्ष घटनासत्य के 'रूपग्रहण की चेष्टा अथवा कायता सविराम और क्षयिणी होकर भी अपनी कायसत्ता की अविरामता और उसके अक्षय भाव का परिचय देती है—

कार्यता क्षयिणीचात्र पुन कायञ्च अक्षयम् (स्पन्दसन्दोह)

---

1 जगच्चित्र रामलिख्य स्वेच्छातूलिकयात्मनि
स्वयमेव समालोक्य सन्तुष्टा परमाद्भुतम (परावासना)
भासयन्त जगच्चित्र सकल्पाद्व सवस्व (त्रिपुरा रहस्य)
जगन्नाट्यप्रवर्त्तयिता सुप्ते जगति जागरूय (प्रत्यभिज्ञा टीका)
विसृष्टा नेप गद्बीज गभ त्रलोक्य नाटक
प्रस्ताव्यहरमहतुरवस्त कोप कवि क्षम (रत्नचिन्तामणि)

नट की रगचेष्टा अभिनय पदवाच्य है। छायामय चलचित्रो मे पूर्वक्षण सम्पन्न घटनाओ के बिम्बानुकार एक आवरण भित्ति पर उदयास्त पाते है। किन्तु इस परोक्ष अथवा अपरोक्ष घटित अभिनय मे नट के वास्तविक स्वरूप का अवगूहन और अयरूप की विधृति ही रूपक वृत्ति के मन प्राण-देह हैं।

स्थूल कोषो के अन्वेषण करते करते जो विलक्षण प्रतीतिया होती हैं वे अन्तराल बाहुल्य का कथन करती हैं। उनमे भी चल रहे नटन-नर्त्तन के वैद्युतिक-तरग स्तर तक ही हम यन्त्र साधन से पहुँच पाये है—आगे कितना पथ शेष है? कौन जाने? किन्तु विस्मय तब होता है जब प्रगति और विकास के पक्षधर इसी बिन्दु पर 'इदमित्थम' बोल देते हैं। यहा प्रगति रुकती है और अगति उपस्थित होती है।

पदार्थ सहति मे हेतुता कहने से यह अभिप्राय भी लिया जाता है कि हेतु पदार्थगत न हो उनके परस्पर मेलन से विगलित भेद-सस्कार दशा के प्रति उन्मुखी प्रक्रिया मे, उसकी एकीभूत अवस्था किवा अद्वयी भूत भाव मे परिनिष्ठित है सुतराम् पदार्थ या भूत तथता तो जडात्मिका हुई, और उसका मेलन एक चैतन्यमयी क्रिया हुई। सहति अथवा मेलन उन्मुखी भाव मे होता है जिसका मूल एक सकल्प बिन्दु मे निहित रहता है। विकल्पात्मक विमुखी भाव मे मेलन सभव नही। मेलन या उन्मुखी भाव के चेतन क्रिया की परिणति म पदार्थ सहति किवा विरोधिसमागम स्फूर्त है और गुणो के गुणनफल की भी यह उद्गम भूमि होगी जिनमे गुणात्मक परिवर्त्तन सभूत हैं। निष्कर्षत, परस्पर उन्मुखीभाव की गाढता मे एकीभूतावस्था हेतुता की जननी है न कि विमुखी विकल्पो की वियुक्त असहत और अनेकात्म जडमानता। हेतुता कहते ही उसके अभिमानी हेतु का प्रसग आ जाता है। यत यन्त्रारूढ होकर हम हेतु सरणि के किसी छोर पर नही पहुँच पाये अत अहेतु की वास्तविकता या उसके हेतुभूत रहने की कथा को एक कल्पना या मिथ्या-अनुमान बता देना कोई विस्मय की बात नही और फिर गुणमयी प्रकृति की कठिन धातु को पिघला कर एक नए साचे म ढालने की बात तो और भी उपहास की वस्तु होगी।

फिर, वैसे हेतुभूत पदार्थतत्त्व की सहति का यह प्रतिक्षण उदयास्त भी तो रूपक ही है। सुतराम् रूपी का निजरूप या स्वरूप कुछ और ही होगा जिसके भगिमा की परिणतियो से यह विश्व रूपक प्रस्तावित

और प्रस्तुत होता है। उस सहृति मे उन्मीलित उसके निज का क्या वह स्वरूप नही जिसके अजयबीभूत रह समस्त तत्व समुदाय स्पन्दित है और जो अनेक न होकर ही रूपकोचित नाना ग्राह्य-ग्राहक भूमिकाधिवासित अगण्य रूप सस्करणो मे परिच्छिन्नत्वेन भासमान है। यह पदायगत सहृति विक्रम भावान्तर मे उदयार्थी हो आविर्भावपदवाच्य होगा और पदार्थो का प्रभृतित्व विलयन तिरोभाव होगा फिर यह तो हेतु नही परिणाम है। स्मृति विस्मृति और उसकी सन्ध्या का झिलमिल प्रकाश है जिसमे चैतन्यमयी सत्ता अपना स्वरूपगोपन कर रूपक-जीवन बनी है। स्वरूप की विस्मति और घृतरूप मे यथामभव गाढतम निष्ठा, अभिनय की प्रतिज्ञा है। अ-हेतु की लीला अथवा सचरणरूप हेतु का परिणाम विश्वाकार है। जैसे शून्य के अभाव मे, उसे आधार माने बिना अको की दूरी ससझना सम्भव नही उसी प्रकार हेतु निषेध की जो अहेतुकी दशा है वही सर्वाधार और वही पदायादय और तत्व रहृति की भूमि हो सकती है। अहेतु का ही स्फुरण लोला है। (त्वमेव स्वात्मान परिणमायितु विश्ववपुपा)।

बहुधा कामायनी मे प्रत्यभिज्ञा अथवा त्रिक-दशन की विवृति बतायी जाती है। शैवागम की बातें कही जाती है। जो त्रिक अथवा प्रत्यभिज्ञा को जो एक सम्प्रदायपिटक मान बैठे है, वे कदाचित उमकी मौलिक दृष्टि एव प्रयोजनीयता के प्रति न्याय से विमुख है। शैवागमा का विस्तार त्रिधा प्रस्थित हाकर, भेद भेदाभेद अभेदपयन्त स्फीत ह। सुतराम् बहुप्रस्थानीय, अनेक-दृष्टि अवलोकित एव आधारभेद से भिन्न रूपावस्थानीय व्यापकरूप शवागम शब्द का व्यवहार कामायनी के लिये कहाँ तक उचित होगा, उदाहरणस्प जिसके अतमुक्त वीरशैव मत स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर को ही त्रिपुर रहता है जो अपेक्षाकृत स्थूल है। वीरशैव मत समाधि को सामरस्य मानता है जब कि अभेद धारा मे सामरस्य, निर्विकल्प-सविकल्प आदि समस्त दशाओ को क्रोडीकृत करते सवथा विलक्षण है यही नही त्रिक माग मे तो लोकानन्द और समाधि सुख भिन्न अथ नही रखते—'लोकानन्द समाधिसुख' (शिवसूत्र १-१८)। यद्यपि कुछ स्थल कामायनी मे ऐसे पाये जाते हैं जिनम प्रत्यभिज्ञा के सिद्धान्तो की छवि मिलती है। यथा—'कर रही लीलामय आनद', आदि। किन्तु इन्हे ही अलमिति मान बैठना सगत न होगा। वस्तुत प्रत्यभिज्ञा का भाव रूप क्या है, और उस दशन की तत्वसत्ता को किस रूप प्रकार म प्रसाद भारती ग्रहण करती है, जिसमे एक शाश्वत चिन्तन धारा और

युगबोध, उभय सवादित है यह ध्यातव्य होना चाहिये। क्या दर्शन और साहित्य को पृथक्श देखने मानने से ऐसा सम्भव है ? लोक-जीवन के लिये अव्यवहार्य वस्तु की न तो दर्शन मे उपयोगिता होगी न साहित्य मे प्रयोजनीयता ही। विस्तार से बचने के लिये यहा त्रिक और सामरस्य के प्रसग छोड रहा हूँ, यद्यपि वे प्रयोजनीय हैं यथावकाश उन्हे आलोचित किया जायगा।

द्रष्टा और दृश्य के समन्वित सयोजन की प्रक्रिया म एक स्थितिमयी गति और गतिमयी स्थिति प्रस्तुत हो भावरथ के चक्के चला देती हैं और वाङ्मय मे चेतना का अन्तर्मुख सचार हो उठता है—जिसे दर्शन की वाणी बता कर साहित्य की अभिजात धारा को मरु मे सुखाने को उन्हे सुविधा हो जाती है जो अदर्शन मे उपरमित रहना चाहते हैं। वाग्रस को चरमावस्था की ओर जाते देखना, या तो वे चाहते ही नही या जानते नही। सुतराम्, 'पुरुषस्य वाग्रस' की सुधा से सुधि वचित रहती है प्रकारान्तरेण जिन्हे काल के बौने चरण ही प्रिय हैं और जो, उसके उस चिरप्रवाही समग्र धारा के महानिर्घोष से भीत है, जो महाकाल की स्थिति तक जाने को चली है। इस यात्रा का उपक्रम ही काल प्रवाह है, जिसकी उपेक्षा सम्भव नही।

दर्शन एक गतिमय स्थिति है। क्रिया भी है सज्ञा भी दशा भी है दिशा भी। सज्ञा मात्र मान लेने से उस पर वेदान्त कथित शुद्ध ब्रह्म जैसी निष्क्रियता का आवरण पड जाता है, जिसे हटा उसे सक्रिय करने के अर्थ ऐसी माया आवश्यक होती है जो स्वय एक आवरण कही जाती है। यदि माया कोई आवरण डाल सकती है तो क्या हटा नही सकती ? यदि वह ब्रह्म मे क्षोभोत्पाद कर सकती है तो उसे शान्त भी कर सकती है, कृतित्व तो उसी माया म निहिति बताया जाता है। प्रतीत होता है कि विदेशियो द्वारा आक्रान्त और पराभूत-प्राय जाति जो विकास और प्रगति से दूर जा चुकी थी और आत्मसकुचित सामन्ती युग मे जी रही थी, अपने परमतत्व को, ऐसे निष्क्रिय ब्रह्म रूप के अतिरिक्त अन्य कल्पना करनेम अक्षम थी, जो कि सम्बोध होने के साथ ही सक्रिय भी हो। अतएव इतिहास के उन अधेरे क्षणो म अपने साध्य किंवा ब्रह्म को व्यावृत्ति एव त्याग अथवा सन्यास द्वारा पाने की एक विवशता थी अनुवृत्ति और ग्रहण की समर्थता पराभूत समुदाय मे सम्भव नही सुतराम् भारतीय चिन्तनधारा को तब बाध्य हो कर इस दिशा म मुडना पडा। वही जाति जब स्वतन्त्र आर्या की पराक्रमी जाति

थी तब माया उसके पराक्रम प्रतीक इन्द्र की कर्मदायिनी शक्ति थी। (इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते–ऋक् ६-४७-१८) इतिहास के मलिन काल म उन्हीं आर्यों के वंशधरो द्वारा माया आवरण और प्रत्ययाय मात्र मान ली गई। सुतराम् आर्य विचारधारा का गतिमय दर्शन— उसका क्रियामय रूप अब निष्क्रियता का स्तूप बन गया।

इस प्रसग म प्रमाद-वाङ्मय की प्रारम्भिक उठान अथवा ब्रजभाषा काल म ही भावी युग की, लोक वेदना की, और विश्वमांगल्य की समवेत पुकार मिलती है।

ऐसो ब्रह्म लेइ करिहै
जो नहिं करत सुनत नाहिं जो कछु जो जन पीर न हरि है।

दर्शन क्रियामय रह कर ही गति समन्वित और जीवन्त रह सकता है। इसलिये भारतीय परम्परा म दर्शन मूलत जीवन-व्यवहार की गतिमयी सत्ता के अर्थ प्रतिष्ठित हुआ न कि जीवन से पृथक केवल आदर्श-परक और दुष्प्रापणीय एक सिद्धान्त बिन्दु अथवा वाग्विलास मात्र। उसे ज्ञान रूप म मानने के साथ ही क्रियात्मक भी मानना ही होगा अन्यथा स्थिरमंगल शिव से उसकी स्पन्दशक्ति को पृथक कर भव की उपासना करने का अर्थ ही क्या?

प्रत्यभिज्ञा की धुरी महाकौल शिव वस्तुत कोई आकार रूप वान या कल्पना तरु का फल, जलाक्षतापास्य जटाभस्म कलापो परिमित विग्रह नहीं। उस महेश्वर की सात्विक व्याख्या मे भास्करकण्ठ कहते हैं—महेश्वर ज्ञानक्रियारूपमहैश्वर्ययुक्त, सिद्ध -स्वयमिद्धनिजात्मरूपतया स्थित, न तु वहि साधनीयतया स्थित भवति, सिद्धा हि व्यवहारसमये पि तत्कारणस्मृतिमन्त्रध्यादिमूलभूतयोजक ज्ञानक्रियाशक्तियुक्तपरप्रमातृ-रूपा तरतन्त्रमेव महेश्वरतया जाति न तु वहि कमपि भस्मादिभूषित मूढोपासनामात्राथ कल्पित परिमित देवविशेषम्। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी ज्ञानाधिकार ८ आह्निक- भास्करी)।

प्रत्यभिज्ञा क्या है? विस्मृत अविज्ञात का ज्ञान अभिज्ञा है जिसे तथागत-बुद्ध दिव्य ज्ञान के अर्थ मे लेते हैं किन्तु अनन्तर भी वहाँ सर्वाधि पानो शेष रह जाती है। पुराज्ञात किन्तु अधुना विस्मृति की स्मृति का पुन लौटना प्रत्यभिज्ञा पदवाच्य है। जिस आवरण से ढक अभिन्न और विज्ञात स्वभाव विस्मृत होकर भिन्न प्रतीत होने लगता है उस आवरण का निरास ही प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञा को तत्त्वत ग्रहण न कर सकने की दशा म उसका स्वरूप सम्प्रदाय परक और धर्म-मूलक मान लेने की सुविधा हो जाती है और निरपेक्षतया स्थित सर्वसामान्य,

मात्र स्पन्दसत्ता बुद्धि के घरौंदे मे बन्द कर अनेक रूपो म बताई जाती है, यह केवल बौद्धिक कौशल है। अपने एक लिंगात्मक प्रतीक मे वह अलिंग-सत्ता न जाने किस अतीत से विश्व-पीठिका पर आसीन और आहृत है। भूगोल के सभी भागो म चाहे वे अफ्रीका के गहन वन मे हो, हिमालय की दुगम घाटियो मे हो अथवा योरप अमरीका मे हो अरब ईरान के मरु जागल प्रदेशो म हो अथवा वर्मा मलाया के सघन वनो म, यह प्रतीक अविज्ञात काल से चिन्तन और ध्यानसमपण का केन्द्र बना है। क्या मानव ने ज्ञानोन्मेष की उषा मे ही सृष्टि के प्रेरक अवस्थापक और समाहारक किंवा उसके उन्मीलक और निमीलक रहस्य की तत्वसत्ता का आभास अपने चित्त के अभिजात मुकुर मे सहज ही पा लिया था ? जो, युगो के ओघ दूरदेशा म विस्तार विकेन्द्रण की झझा झेल कर भी निभृत कोणो मे अपनी परम्परा-सत्ता बनाए है नहीं, उस 'निराभास' का आभास उस सुप्त स्थानीय अणु मे अन्तर्जातत्वेन अनुस्यूत रहा, मानव रूप जिसका बृहण मात्र है। पूजने और पूजवाने के लिये सृष्टि प्रक्रिया के इस मूल रहस्य का चाहे बहुविध विडम्बन क्या न किया जाय किन्तु सात्त्विक अन्वेषण की निष्ठा उस सदैव अपनी तथता म पाती रही, उस तथता को कितने समीप से, यह प्रश्न दूसरा है। अचेतन के रहस्या के स्वामी भौतिक विज्ञान का चेतना के रहस्य तक अभी पहुँचना है। बहुधा उसे 'शिश्नदेव और अनार्यो के पूज्य के रूप म देखा जाता है। मानवी सामूहिक चेतना लाखा लाखा वर्षो पूव अपना प्रस्थान विन्दु छोड चली होगी और कितने ओघ और स्थानान्तरण, युग और महायुग बीतने पर आय्य अनाय्य, देश विदेश और जाति प्रजाति के विभाजनो म समष्टि चेतना के कृत्रिम खण्ड बने होंगे, कौन कह सकता है ? फिर उन सभी खण्डो ने ज्ञानोन्मेष प्रथम उषा की लालिमा को नाना अनुरूप रूप प्रकारो मे इसे सचित रखा हो तो आश्चय क्या ? सुतराम् वह एक देशीय या एक जातीय परम्परा तो हो ही नही सकती।

प्रसाद वाङ्मय का सकल्प विन्दु प्रेम पथिक है जो प्रथमत सवत् १९६३ म प्रस्तुत हुआ अर्थात् कवि के १७ वष के वयस् मे। इसका प्रकाशन इन्दु मे सवत् १९६६ म हुआ। इसी वष से इन्दु का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। प्रेम पथिक के प्रथम सस्करण की भूमिका (१९७०) म आठ वर्षो पूव ब्रजभाषा रूप म इसके लिखे जाने का उल्लेख है। प्रत्यभिज्ञा दृष्टि से शोध प्रसग म केवल कामायनी के पन्ने उलटना ही पर्याप्त नही कामायनी के मनु की चेतना 'रही विस्मृति सिंधु म स्मृति नाव विकल अकूल' का जब कूल किनारा मिलता है तब पहचानते है

"वही छवि ! हाँ वही वैसे ! किन्तु क्या यह भूल ?" और प्रेम-पथिक का 'किशोर' तापसी चमेली को पहचान लेने पर कहता है "कौन चमेली ? अरे दयानिधि यह क्या कैसी लीला है ?"

भारतीय साहित्य म यह प्रत्यभिज्ञा का तत्व जब जब अपने आन्तर स्पश की सात्विक निष्ठा से उदित हुआ, विश्व की दृष्टि चमत्कृत हुई है, विस्मित हुई है। तत्व सयोग म विस्मय का आना तो कोई कुतूहल की बात नही, यह तो एक भूमिका है। (विस्मयो योग भूमिका) विश्व साहित्य का उज्ज्वल रिक्थ शाकुन्तल क्या प्रत्यभिज्ञा की रूपकीय अभिव्यक्ति नही ? प्रमाद वाग्मय म प्रत्यभिज्ञा की स्वतन्त्रसरणि है। सा'य विन्दु तक पहुँचने का एक मौलिक माग है, सुतराम् प्रस्थान विशेष का आरोपित-आलोक व्यवहाय नही यद्यपि उनसे विवाद न तो तत्वत है न तो भावत अपितु वह अ'त स्फूर्ति है। इस दृष्टि का परिचय उस महत्वपूण सवत् १९६६ मे लिखित भक्ति नामक निबन्ध मे या प्राप्त है—'मनुष्य जब आध्यात्मिक उन्नति करने लगता है, तब उसके चित्त म नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। और उन्ही भावो के पर्यालोचन म उसके हृदय म एक अपूव शक्ति उत्पन्न होती है, उसे लोग चिन्ता कहते हैं। वह चिन्तित मनुष्य ससार मे किसी 'अघटन घटना पटीयसी शक्ति की लीला देखते देखते मुग्ध होकर उस शक्तिमान की खोज करता है। जब वह भ्रमता है, तब उसे उन पथप्रदशको की मधुर सान्त्वनामयी वाणी कण गोचर होती है—"श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवैहि' ।

अस्तु ! यदि उस सव शक्तिमान को कोई ऊँची वस्तु मान लिया जाय, तो भक्ति उसे पाने का दूसरा सोपान है, नही तो ऐसा ही मान लिया जाय कि किसी निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने की, एक सहारे की श्रृखला है, जिसमे कि ये चार कड़िया हैं। इनम ऐसा घना सम्बन्ध है कि वह किसी प्रकार से नही छूट सकता। मानव सृष्टि धारा प्रवाह की तरह उस महासागर की ओर जा रही है। उस धारा प्रवाह म श्रद्धा जल है, भक्ति वेग है तथा उसका गमन ही ज्ञान है, और उसका योग हो जाना ही महासम्मेलन है। श्रद्धा 'भक्ति' मे केवल नामान्तर है, श्रद्धा का पूण स्वरूप भक्ति है, भक्ति बिना पहचाने होती नही, और बिना मिल जाना भी नही जाता, इसी से कहते हैं कि इनका परस्पर घना सम्बन्ध है। इसे नामान्तर अथवा भावभेद भी मान सकते है।

श्रद्धा के परिपाक म भक्ति से उसे मनुष्य कहता है—'सत्य' जब उसके मगलमय स्वरूप को देखता है, तब उसके मुख से अनायास ही—

'शिव'—निकलता है, पुन मनुष्य उस आलौकिक सान्दय से आनन्दित होकर कहता है—'सत्य शिव सुन्दरम्'।

(इन्दु का फाल्गुन सवत् १९६६–चित्राकार मे सग्रहीत)

कामायनी शिखर की यात्रा का यह आदि सोपान है। आसू मे यह दृष्टि सक्रिय और प्रौढतर भाव म सम्मुख आती है—विस्मृति समाधि लेती ह जिसम मगल की सम्भावना का विश्वास दृढ होता है। द्वन्द्व परस्पर उन्मुख दशा म मिलित होते ह, सग और प्रलय की सन्ध्या तो होती है किन्तु पुन उदित होने की एक सम्भावना लिय—

विस्मृति समाधि पर होगी वर्षा कल्याण जलद की
सुख सोये थका हुआ सा चिन्ता छुट जाय विपद की
चेतना लहर न उठेगी जीवन समुद्र थिर होगा
सन्ध्या हो सग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा

विस्मृति की अव्युत्थित दशा किंवा स्फुरित अवस्था म जिस स्मृति का जागण होता है उसमे वह 'चेतना लहर' नही उठती जिसमे 'जीवन समुद्र' आलोडित होकर सुख दुख 'विच्छेद मिलन की प्रतीत कराता है। सग प्रलय किंवा उन्मीलन निमीलन का वह अकाल पदवाच्य सन्धि काल होता है वहा न तो विरह की वास्तविकता ह न मिलन का यथाथ न तो सुख की वेदना ह न दुख की वेदना, कारण ये सभी द्वन्द्वात्मक और द्वयता परक है आर अपने अनुकूल परिस्थिति मे ही जीवन्त रह सकते हे। अद्वय सामरस्यमयी प्रत्यभिज्ञा मे इन्ह कहा स्थान ? किन्तु अभी उसकी अर्थात् विस्मृति की समाधि दशा है, उसका समग्र तिरोभाव नही। और, समाधि से तो व्युत्थान भी सम्भव ह। कारण, ज्ञानलेप के रूप लिये, कम और सस्कार की सन्धि म जागरित उस वासना (अनादि) का पूर्णत प्रहीण होना उस समाधि म भी सम्भव नही जिसके क्षोभ के परिणाम द्वन्द और विपमता मे वीजभत ह।

नव हो जगी अनादि वासना मधुर प्राकृतिक भूख समान,
चिर-परिचित-सा चाह रहा था, छन्द सुखद करके अनुमान।

(आशा)

अनुग्रह की मगल मूर्ति की अनुभूति से ही उस विस्मृति का पूर्णत विदग्ध होना सम्भव है,

उस शक्ति-शरीरी का प्रकाश, सब शाप पाप का कर विनाश
नतन म निरत, प्रकृति गल कर, उस कान्ति सिंधु म धुल मिल कर
अपना स्वरूप धरती सुन्दर, कमनीय बना था भीषणतर,
हीरक-गिरि पर विद्युत विलास, उल्लसित महा हिम धवल हास

देखा मनु ने नर्तित नटेश, हत-चेत पुकार उठे विशेष,
'यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल, उन चरणों तक दे निज सबल
सब पाप-पुण्य जिसमें जल-जल, पावन बन जाते हैं निर्मल,
मिटते असत्य से ज्ञान लेश, समरस अखण्ड आनन्द वेश !'

और तब आसू की 'चेतना लहर' अपनी महाव्याप्ति में समुद्र बन जाती है—वैसे अभेद सागर म प्राणों का सृष्टिक्रम' लिये जीवन अब लहर मात्र रह जाता है। तथाभूत अतस्तरग जीवन फिर पूर्णबोध की भूमि पर समष्टिगत चेतन समुद्र मे समरसता म रसमयीदशापन्न होता है। एव, अभिव्यक्ति की प्रक्रिया किंवा व्यक्तीकरण मे जो स्वभाव वे भावाकार खडे होते हैं वे फिर व्यक्ति पदवाच्य हो जाते हैं। व्यक्ति शब्द स्वय अपनी कथा कह रहा है। विश्वचेतना की वह पूर्णकामावस्था होती है जहा।

चेतन समुद्र म जीवन लहरो सा बिखर पडा है,
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना निर्मित्त आकार खडा है।

आसू की 'चेतना लहर' कामायनी के "चेतन समुद्र" म परिणत हो—एक महाबिम्ब प्रस्तुत करती है।

भारतीय काव्य के धरातल पर जिन व्यग्योदित भावाकारो के प्रसग म 'बिम्ब विधान' का कथन हो रहा है उसे पश्चिमीय 'इमेजरी' के अर्थ म प्राय ले लिया जाता है जो कदाचित् भ्रान्तिमूलक है वहा ऐन्द्रिक और प्राणिक स्तरो के अतिरिक्त बिम्बो की अन्य भावभूमि दुर्लभ है और, मानस धरातल के बाद तो बिम्ब चमत्कृति वहा अनुमेय भी नहीं। जब कि भारतीय चिन्तन और आगे बढ विज्ञान एव आनन्द भूमि की अगला खोल बिम्ब और उसके अनुकार पाता है, यह उसकी दृष्टि-परक चरम उपलब्धि है जहाँ पहुँच कर कहा जाता है 'आस्वादनात्मानुभवो रस काव्यार्थमुच्यते'। एक दृष्टि (माण्डूक्य कारिका) आत्मानुभूति या साक्षात्कार के पथ मे 'रसास्वाद' को बाधक मानती है उस दृष्टि के दृष्ट रस मे 'रसोवै स' की वह विराट 'स' सत्ता (तैत्तिरीय) न होगी अपितु विकल्पाधिवासित रसास्वाद की कोटिया होगी जिनमें अद्वयानुभूति न पा कर आचार्य गौडपाद मे प्रज्ञया नि स्सग होने की ऐसी व्यवस्था का मिलना कुछ अस्वाभाविक नहीं।

पश्चिमीय काव्यशास्त्र प्लेटो से चल कर अधुनापि एक निष्प-दृष्टि पाने के लिये प्रयोगावस्था से ससरित हो रहा है यह बात ज्ञेय है कि काव्य प्रयोजनीयता के प्रसग मे प्लेटो की लोकमगल परक एकायनी दृष्टि आगे चल विशीर्ण हुई, कारण प्लेटो की समाज-कल्पना सामान्य नही वग निष्ठ रही और आत्मानुभूति को वह व्यापकता भी वहाँ नही मिली जो यहाँ सुलभ रही। वैसी दशा मे जीवन दृष्टि-अनुकूलित तत्व चितन का ही वहाँ प्रसार हो सका तत्व विचारपरक जीवन दृष्टि का जागरण न हो पाया जो विकल्प डोर से बधे काव्य को सकल्प बिन्दु तक अग्रसर करती। लोकमगल की भारतीय परिभाषा सदैव से आब्रह्म-स्तम्ब स्फीत रही। अस्तु, इस प्रसग की विवेचना म जाने से ब्योरे तथा विषयान्तर का भय ह। कुन्तकीय विवेचनो के आयाम की तुलना म भी 'इमेजरी' का मूल्याकन अल्प ही बैठता ह। सस्कृत काव्य शास्त्र मे यह बिम्बभाव अलकारत स्वीकृत हुआ है जहा बिम्ब प्रतिबिम्ब चमत्कृति दृष्टान्त-अलकार पदवाच्य होता है (साहित्यदपण)। किंचिदन्तरेण काव्यदपण के निदशन अलकार द्वारा यह नामान्तरित है। सुप्त वाच्याथ और जाग्रत व्यग्याथ म बिम्ब इगनीय ह ध्वनि सम्प्रदाय इसका कथन अपने ढग स करता है। किन्तु, आज इस बिम्ब को शब्दत और भावत जैसे वाथ म ग्रहण किया जा रहा है वह भारतीय काव्यशास्त्र के उतना समीप नही जितना क्रोचे या जुग प्रभृति के निकट है। यह भी ध्यातव्य होगा कि सभ्यता और समाज के विकास के साथ साथ उपमान का क्षेत्र भी विस्तत हुआ सुतराम् भारतीय काव्यशास्त्र को अपने मानको को अनुकूलत विकसित विस्तृत करना होगा। प्राय अपरोक्ष बिम्ब के आधार पर परोक्ष बिम्ब कल्प्य होते ह। इन्द्रियवग के प्रमातृपद पर अधिष्ठित हो विषय-वग से व्यवहार की दशा म और मनस् के प्रमाता स्थानीय हो उसके इन्द्रिय विषय वग से बहिर्मुख-व्यवहार की दशा मे ऐकेन्द्रिय बिम्ब का स्थान है मन के बहिर्मुखत्व की न्यूनतरात्मिकता म जहा आन्तर हेतु की जिज्ञासा का जागरण होता है वहा मानस बिम्ब का उदय सम्भव है। अन्तस्थ सक्रियता और बहिरग निष्क्रियता म इन्द्रिय वग की मनोन्मुखी दशा स्वप्नावस्था (साधारण) पदवाच्य है। इस साधारण स्वप्नावस्था के अतिरिक्त एक विशेष स्वप्नावस्था वह होती ह जहा इन्द्रिय और विषय के वर्गो क समाहार पूवक मन इन्द्रियोन्मुख नही अपितु आत्मोन्मुख रहता है (गर्भचित्तविकासाद्विशिष्ट विद्यास्वप्न) तब, आत्मा प्रमाता रूप म वैसे मन से अन्तर्व्यवहार की दशा म होता है यहाँ भी एक बिम्ब भूमि सम्भव है किन्तु मन के आत्मोन्मुखी

भाव की प्रखरता अथवा आत्मा के ही तीव्र आकर्षण मे, मन का विलय भी सम्भावित है, फिर वैसी दशा मे बिम्ब का प्रश्न नही आत्मा के ऐसे प्रमाता रूप का उदय निजानुभूति की गाढ सकल्पमयता मे ही सम्भव है जहा कहा जा सकता है 'हम केवल एक हमी हैं' और जिसकी अनुभूति स्वयमेव एक महाबिम्ब है—काव्य है काव्य के इस रूप और ऐसी प्रयोजनीयता का विनियोग 'आस्वादनात्मानुभवो रस काव्यार्थमुच्यते' द्वारा इगित है।

किन्तु, इन सभी स्तरो के बिम्ब-सन्दर्भ म विधान अथवा निर्माण के स्वामित्व की कल्पना और जल्पना अहङ्कृति के ही साक्ष्य दगे। प्रसाद भारती की दृष्टि म यह सामान्य-सम्पदा है कोई 'निजी जायदाद' नही। वह भी चिन्मयी ज्ञान-धारा की सौन्दरी-सत्ता ह जो माया के इन्द्रधनुषी चीर मे लिपटी एक भगिमा सी झलक जाती ह उपलक्षणोपलब्ध भगिमा की अभिव्यक्ति के कुछ उपस्करणो से सजा देने मात्र से उस मूल वस्तु पर जा स्वत एक अनुकृति है, अपना 'कब्जा मुखालिफाना' मानते हुये क्या अपने को ही छलित नही किया जा रहा है।

भावाकृष्टि और उसके हठपूर्वक सघट्ट म बने शब्द-रेखा के चित्र और सहजादित प्राप्त बिम्ब के शब्दानुसार मे नीरक्षीर विवेक सक्षम कोई यत्र अभी प्रस्तुत नही हो पाया। बिम्बानुसार की प्राजलता पर काव्य लक्षणा का उत्कर्ष निर्भर करता ह। किन्तु वस्तुत यह बिम्ब तो नही अपितु प्रतिबिम्ब कहा जा सकेगा जो काव्य-सरस्वती वैखर-स्तर पर अथवा मातृका-मुकुर म देती है। सुतराम्, एतदर्थ भी अभिधान ही उपयुक्त शब्द हो सकता ह, विधान अथवा निर्माण नही। समस्त ज्ञान निर्विशेषत मध्यमा वाक् म स्फुरित रहकर यथा काल मातृका म अधिष्ठान ग्रहण करते ह। एव बोधात्मक ज्ञान की अनुभव-सत्ता वागात्मक रूप को अगीकार कर लेती है, फिर वैखर व्यवहार मे उसका वागर्थ विवेक होता है। बिम्ब ऐसे बोधात्मक ज्ञान के वागोन्मुखता की प्रक्रिया का मध्यवर्ती प्रसग है। जिनका प्रति रूपण कर्म और सस्कार के मध्य स्फुरित वासना, निबन्धित मात्र करती है। और इस स्तर पर अभिव्यक्ति म जो प्रसाधन प्रस्तुत किये जाते ह वे ही अपने और निजी अथवा मौलिक कहे जा सकते ह, मूलवस्तु नही—जिसे बिम्ब कहा जाता है।

एक धुँधली छाया का तद्वत् अस्पष्ट अवतार और मुकुर पर पडने वाले रश्मि-व्यूह का प्रतिबिम्ब बडा अन्तर रखता है। जहा रश्मि-व्यूह

का प्रतिबिम्ब अन्य भित्ति को अभिहत करने की क्षमता रखता है वहा छाया अपनी अस्पष्टता म विलीन हो जाने को बाध्य है।

'काव्य और कला' निबन्ध म काव्य को 'आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति और व्यक्ति निरपेक्ष बताते कहा गया है—'इसी कारण हमारे साहित्य का आरम्भ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुन्दर दशन है। सकल्पात्मक मल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पय है उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व म सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य मे सकल्पात्मक अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि सकल्पात्मक मन की सब अनुभूतिया श्रेय और प्रय दोनो ही से पूण होती है, इसम क्या प्रमाण है? किन्तु इसीलिये साथ-ही साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। असाधारण अवस्था युगो की समष्टि अनुभूतिया म अन्तर्निहित रहती है, क्योकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रो के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणो के समान भिन्न भिन्न सस्कृतिया के दपण म प्रतिफलित होकर आलोक को सुन्दर और ऊर्जस्वित बनाती है।'

ज्ञानालोक की आनन्दमयी रश्मिया मोदय बोध की निजानन्दमयी परिणति होकर निरपक्षत विकल्पमयी सस्कृतिया को अपनी अचल सकल्पमयता और भाव सम्पदा स ओतप्रोत कर देती है जिनकी अवधारणा कवि कम की एक असाधारण और अप्रमेय अवस्था है प्रसाद वाग्मय की मूलचेतना इस अवस्था म भावत और अनुभावत अवस्थित है। जो सकल्पात्मक मूल अनुभूति तत्त्वत, भावत और पदार्थत *'श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व म सहसा ग्रहण'* कर प्रसाद वाङ्मय की काव्यभूमि का उन्मीलन किये है वही अनुभूति अपने निबन्ध नाम, अनवच्छिन्न बोध एव स्वतन्त्र प्रकाश के समन्वित प्रतीक "ध्रुवतारा" द्वारा "शेषगीत" म शब्दित हो अपने आयतन म प्रसाद वाङ्मय के भावजगत की समग्री अभिव्यक्ति अक्षय्य किये है। यह प्राक्कथन बाध्यत एक असामान्य त्वरा म प्रस्तुत हुआ, जिसमे विषय का सक्षिप्त विवचन ही हो पाया जो यथा कथचित् अपनी कमी और त्रुटियो के सहित विनम्रभावेन सुधीजना के सम्मुख उपस्थित है।

बुद्धपूर्णिमा, २०३८ वै०

रत्नशकर प्रसाद

आदि छन्द

हारे सुरेश, रमेस, घनेस गनेसहू शेष न पावत पारे
पारे हैं कोटिक पातकी पुज "कलाधर" ताहि छिनो लिखि तारे
तारेन की गिनती सम नाहि सुजेते तरे प्रभु पापी बिचारे
चारे चले न बिरचिहू के जो दयालु ह्वै शकर नेकु निहारे ॥

प्रथम कविता, लेखन काल ईसवीय सन १९०१ वयस १२ वर्ष

तीन आरम्भिक कवितायें

प्रारम्भत "कलाधर ' उपनाम से पूज्य पिताजी (श्री जयशंकर प्रसादजी) कवितायें लिखा करते थे ऐसी प्राय छोटी बड़ी चार सौ कृतियां थी जिन्हें कुछ घरेलू कारणवश सन १९०६ में उन्होंने कारखाने की जलती भट्ठी को अर्पित कर दिया। किन्तु उन्ही के पैतृक अधिष्ठान 'सुंघनी साहु' की गद्दी के पुराने कागदो में कारखाने का उस समय का मुद्रित विज्ञापन पत्र उपलब्ध हुआ जिसे 'प्रसाद की काव्यमयी हस्तलिपि' इतने दिनों से संजोये रखने का सौभाग्य प्राप्त है। इस पावन ऋक्थ की प्रतिच्छवि और लिपिपाठ अगले पष्ठोंपर दिया जा रहा है। जहाँ "कलाधर" छाप वाली व्रज भाषा की कविताए प्राप्त है।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible] – [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] – [illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible] – [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

आसन तेरे अमोल कपोल मनोरथ जो तेहि पै बिठलायो
नैन के आसव चारु गुलावी छकाय के ही मतवालो बनायो
कुतलदाम म फासि के ताहि भले विधि ही पुनि नाच नचायो
बाहर जान न पावत रूप रहे अग मै औ परै उफनायो

• •

कीन्ही कठोरता जो हमते तऊ हाय की हूक हिये रहि जायगी
दीठि बचाय के फेरत जो रुख तौ हू कबौ न कबौ मिलि जायगी
नीके विचरि ले ये मनमाहि 'कलाधर' हू की कला घटि जायगी
प्रेमी के राह को छोडिबे की सिल तेरी निसानी हिये धरि जायगी

• • •

तोरि के नेह को काचो तगा तुम कीन्ही दगा यह नीक ना कीन्ही
जो यह तेरे रही मनमाहितो क्यो पहिले ही नही कहि दीन्ही
नैन की हाला छकाय बेहाल कै फेरि ले कुन्तल मे कसि दीन्ही
बेबस कै के 'कलाधर' को दिल दागि के काहे प्रिये तजि दीन्ही

चित्राधार

- अयोध्या का उद्धार
- वन मिलन
- प्रेमराज्य
- पराग
- मकरन्द बिन्दु

अयोध्या का उद्धार

महाराज रामचन्द्र के बाद कुश को कुशावती और लव को श्रावस्ती इत्यादि राज्य मिले तथा अयोध्या उजड़ गई। वाल्मीकि रामायण में किसी ऋषभ नामक राजा द्वारा उसके फिर से बसाए जाने का पता मिलता है परन्तु महाकवि कालिदास ने अयोध्या का उद्धार कुश द्वारा होना लिखा है। उत्तर काण्ड के विषय में लोगों का अनुमान है कि वह बहुत पीछे बना। हो सकता है कि कालिदास के समय में ऋषभ द्वारा अयोध्या का उद्धार होना न प्रसिद्ध रहा हो। अस्तु, इसमें कालिदास का ही अनुसरण किया गया है।

—लेखक

अयोध्या का उद्धार

"नव तमाल कल कुन्ज सो घने
सरित-तीर अति रम्य हैं वने ।
अरध रैनि महँ भीजि भावती
लसत चारु नगरी 'कुशावती" ।।

युग याम व्यतीत यामिनी
बहुतारा किरणालि मालिनी ।
निज शान्ति सुराज्य थापिके
शशिकी आज वनी जु भामिनी ।।

विमल विधुकला की कान्ति फैली भली है
सुललित बहुतारा हीर-हारावली है ।
सरवर-जलहूँ मे चन्द्रमा मन्द डोलै
वर परिमल पूरो पौन कीन्हे कलोलै ।।

मन मुदित मराली जे मनोहारिनी हैं
मदकल निज पीके संग जे चारिनी हैं ।
तहँ कमल-विलासी हँस की पाँति डोलै
द्विजकुल तरुशाखा मे कवौं मन्द वोलै ।।

चित्राधार ।।१।।

करि-करि मृदु केली वृक्ष की डालियो से
सुनि रहस कथा के गुज को आलिया से ।
लहि मुदित मरन्दै मन्द ही मन्द डोलै
यह विहरण प्रेमी पौन कीन्हे कलोलै ॥

विशद भवन माही रत्न दीपावुराली
निज मधुर प्रकाशै चन्द्रमा में मिलाली ।
विधुकर-धवलाभा मन्दिरो की अनोखी
सरवर महँ छाया फैलि छाई सुचोखी ॥

विविध चित्र बहु भाति के लगे
मणि जडाव चहुँ ओर जो जगे ।
महल माहि विखरावती विभा
मधुर गन्धमय दीप की शिखा ॥

कुशराज-कुमार नीद मे
सुख सोये शुचि सेज पै तहा ।
विखरे चहुँ ओर पुष्प के
सुखमा सौरभ पूर है जहा ॥

मुखचन्द अमन्द सोहई
अति गम्भीर सुभाव पूर है ।
अधरानहि-बीच खेलई
मृदु हासी सुखमा सुमूर है ॥

तहँ निद्रित नैन राजही
नव लीला मय शील ओज हैं ।
मनु इन्दुहि मध्य साजही
युग सकोचित-से सरोज हं ॥

तहँ चारु ललाट सिन्धु मे
नहि चिन्ता लहरी विराजही ।
अति मन्दहि मन्द कान म
मनुवीणा ध्वनिसो सुबाजही ॥

बढि पञ्चम राग म जवै
सुविपञ्ची ध्वनि कान मे पडी ।
जगि के तहँ एक भामिनी
अध मदे दृग ते लख्यो खडी ॥

पुतरी पुखराज की मनो
सुचि साचे महँ ढारि के बनी।
उतरी कोउ देव-कामिनी
छवि मालिन्य विषादमो सनी॥

कर बीन लिए बजावती
रजनी मे नहिं कोउ सग है।
वनिता वर-रूप-आगरी
सहजे ही सुकुमार अग है॥

कल-कण्ठ-ध्वनी सु कोमला
मिलि वीणा-स्वर सो सुहात है।
कुश नीरव ह्वै लखै सुनै
जनु जादू सवही लखात है॥

"तुम वा कुल के कुमार हो
हरिचन्द्रादि जहा उदार से।
निज दुःख सह्यो तज्यो नहीं
सत राख्यो उर रत्न-हारसे॥

"अनरण्य दिलीप आदि ने
जेहिको यत्न अनेक सो रच्यो।
रघुवश-जहाज सो लखो
यहि साम्राज्य महाब्धि मे बच्यो॥

"अनराजकता तरग मे
फँसि के धारनि वे अधार है।
तेहि को सबही यही कहै
"कुश" याको वर-कर्णाधार है॥

"तव वश सुकीर्ति को सबै
अनुहास्यो उदधी वहै अजै।
निज कूलन मो वढै नही
अरु मर्य्यादहुँ को नही तजै॥

"जेहि कीर्ति-कलाप-गध सो
मदमाती मलयानिलौ फिरै।
हिम शैल अधित्यकान लौं
सबको चित आनन्द सों भरै॥

"जेहि वंश-चरित्र को लिखे
कवि वाल्मीकि अजौं सुख्यात है।
तुमही ! निज तात सामुहे
शुचि गायो वह क्यों भुलात है॥

"जेहि राम राज्य को सदा
रहिहे या जग माहिं नाम है।
तेहि के तुमहूँ सपूत हौ
चित चेतो बिगरयो न काम है॥

"तुम छाइ रहे कुशवती
अरु सोये रघुवंश की ध्वजा।
उठि जागहु सुप्रभात है
जेहि जागे सुख सोवती प्रजा॥"

नीरव नील निशीथिनी
नोखी नारि निहारि।
विपति विदारी वीरवर,
बोले वचन विचारि॥

"देवि ! नाम निज धाम,
काम कौन ? मोते कहौ।
अरु तुम येहि आराम—
माहिं आगमन किमि कियो ?

"तुम रूप निधान कामिनी
यह जैसी विमला सुयामिनी।
रघुवंशहि जानिहो सही
परनारी पर दीठ दें नहीं॥

"तुम क्यों बनी अति दीन ?
क्यों मुख लखात मलीन ?
निज दुःख मोहि बताउ
कछु करहुँ तासु उपाउ॥

"जब ला करवाल धारिहैं
रघुवंशी दृढ चित्त मान के।
कुटिला भृकुटि न देखिहैं
सुरभि, ब्राह्मण औ तियान के॥

शोचहु न चित्त महँ शक नाही
मोचहु विपाद निज हीय चाहि।
ईश्वर महाय लहि ह्वै सहाय
मेटहुँ तुम्हार दुख, करि उपाय ॥"

सुनि अति सुख मानी सुन्दरी मजु वानी
गदगद सु गिराते यो कह्यो दीन-वानी।
"तुम सुमति सुधारी ईश पीरा निवारी
अब सुनहु बिचारी है, क्या जो हमारी ॥

"सुख-समद्धि सब भाति सो मुदा
रहत पूर नर नारि ये मुदा।
अवध-राज नगरी सुमोहती
लखत जाहि अलकाहु मोहती ॥

"इक्ष्वाकु आदिक की विमल—
कीरति दिगन्त प्रकासिता।
सो भई नगरी नाग कुल—
आधीन और विलासिता ॥
नहि सक्यौ सहि जब दु ख
तब आई अहो लै के पता।
सो मोहिं जानहु हे नरेन्द्र!
अवध नगर की देवता ॥

"जहँ लम्यो विपुल मतग—
तुग मदा झरे मदनीर को।
तहँ निमि लखै बहु वक्त
व्यथ भृगालिनी के भीर को ॥
जहँ हयन हेषा विकट—
ध्वनि, शत्रु-हृदय कँपावती।
तहँ गिद्धनी-गन ह्वै सुछन्द
विहरि के सुख पावती ॥

जहँ वरत कोविद कलित—
सोमरु-नाद अतिहि सुहावने।
सो सुनि सकत नहिका, कावन
मे कुबोल भयावने ॥

जहँ कामिनी कल किंकिनी
धुनि सुनत श्रुति सुख पावही।
तहँ विकट झिल्लीरव सुनत
सुकहत नही कछु आवही ॥

"कुमुद" नाम इक नाग वश है
समुझि ताहि यह बोर अश है।
विगत राम जनहीन दीन है
निज अधीन करि ताहि लीन है ॥

उजरी नगरी तक तहा
मणि-माणिक्य अनेक हैं परे।
तेहि को अधिकार मे किये
सुख भोगे सब भाति सो भरे ॥

रघु, दिलीप, अज आदि नृप,
दशरथ राम उदार।
पाल्यो जाको सदय ह्वै,
तासु करहु उद्धार ॥

निज पूवज-गन की विमल—
कीरति हू बचि जाय।
कुमुद्वती सम सुन्दरी,
औरहु लाभ लखाय ॥'

सुनि, बोले वरवीर
"डरहु न नेरहु चित्त मे
धरे रहौ उर धीर,
कारिह उबारौ अवध को ॥"

भोर होत ही राजसभा मे
बैठे रघुकुल-राई।
प्रजा, अमात्य आदि सबही ने
दियो अनेक बधाई ॥
श्रोत्रिय गनहि बुलाइ, सकल—
— राज दान
सजि,
पयानो

जब अवध की सीमा लख्यो
तब खडे ह्वै सह सैन के।
अरु कुमुद पहँ पठयो तबै
निज दूत, शुचि सुख दैन के॥
"विनु वूझि तुम अधिकृत कियौ
यह अवधि नगरि सुहावनी।
तेहि छोडि के चलि जाहु,
नतु सगर करौ लै कै अनी॥"

वह तुरत आयो सैन लै,
रन-हेतु कुश के सामुहे।
इतहूँ सुभट सब अस्त्र लै
तहँ रोष सो सबही जुहे॥
तहँ चले तीर, नराच, भल्ल,
सुमल्ल सबही भिरि गये।
तरवारि की बहु मारि बाढी
दुहँ दल के अरि गये॥

बढ्यो क्रोध करि कुश कुमार
धनु को टकारत।
प्रबल तेज शरजाल छाडि
चहुँ दिशि हुँकारत॥
अम्बर-अवनिहि एक कीन्ह,
शर सा सब छायो।
अरगिन भरि-भरि नीर नैन
भागे मग पायो॥

कुश प्रभाव लखि हीन होय के,
कुमुद आप हिय माहिं जोय के।
निज निवास महँ जायके छिप्यो
तबहि दूत कुश को तहा दिप्यो॥

परमा रमणी कुमुद्वती
धन-रत्नादि समेत सग लै,
कुश को मिलि ताप दीजिये
नहिं तो सैन सजाव जग लै॥

सुन्दर सहज सुभाव वदन पर मुनि-मन मोहै।
सूधी विमल चितौन मृगन से नैन लजोहैं॥
जेहि पवित्र मुख भाव लखे सबही सुर नारी।
निज विलोल नव-हास विलासहिं करती वारी॥

बैठी मालिनि तीर सुभगवेतसी-कुंज में।
विलसत परिमल पूर समीरन केश-पुंज में॥
युगल मनोहर बनबाला अति सुन्दर सोहैं।
"प्रियम्वदा-अनुसूया !" जाके नाम मिठोहैं॥

"री अनुसूया ! देखु सामुहे चम्पक-लतिका।
भरी सुरुचि सुकुमार अंग अंगन मो कलिका॥
मन-ही-मन कुम्हिलात गिरत बेहाल विचारी।
'प्रियम्वदा' दृग भरि बोली उसास लै भारी॥

"कोमल-किसलय माहिं कली धारति अलबेली।
कुंदन-सो रंग जासु गढन मन हरन नवेली॥
अपर कुसुम-कलिका सो करत फिरे रंगरेली।
याहि न पूछत कोउ मधुकर सब ही अवहेली॥

"याम मधुर मरन्द, पराग,सुगन्ध भरे हैं।
सुन्दर रूप, सुरंग, जाहि-लखि और लजे हैं॥
पै रूखे परिमल पै सबही नाक चढावत।
जैसे सूधो भाव न सब को हिय ललचावत॥

"मातो मधुकर ह्वै मधु-अंध, विवेक न राखै।
मुरि मुसुक्यान मनोहर कलियन को अभिलाखै॥
सूधी चम्पक-लता नही जानत रस केली।
यहि विचार कोउ मधुकर नहिं अकहि निज मेली॥

"इनको कुटिल स्वभाव कोऊ इनको का दोखै।
स्वारथ रत परपीर नही जानत किमि तोखै॥
पाइ समीपहिं जाही सो वाही सो पागै।
ये ता परम विलासी, नहिं जानत अनुरागै॥'

बोली 'अनुसूया' यों—अनखि-"तोहिं का सूझी।
जो बिनही बातन पर, बातन माहिं अरूझी॥
तुम बनवासी काउ दूजा—नहिं सुनिबे वारा।
बन म नाच्यो मोर कहो किन आइ निहारो ?"

"वहु लतिका तरु वीरुध, जे मम वाल सनेही।
तिनको सिञ्चन करहु, अहै तुव कारज एही॥
यह अशोक को पादप जामे किसलय कोमल।
औरहु परम रसाल लखहु कल्ला कदम्ब भल॥"

"अहै माधवी लता मृदुल-कलिका-नव धारति।
'शकुन्तला' के विरह-अश्रु की बूंद पसारति॥
निज मनाल सी वाहनि सो भरि गागरि आनी।
जाको साझ-सवेरे सीचति दै-दै पानी॥"

"ये सब सीचन हेतु अबहिं-यातैं तुम करती।
कुसुम चूनिवो और यहै, क्यो वरमत अरती॥"
शकुन्तला को नाम सुने दूजी यो वोली—
क्यो हक नाहक दवी आग यो कहि पुनि खोली॥

पाइ राज-सुख सखियन को निज हाय! बिसारी।
बहुत दिवस वीते, निज-खबर न दीन्ही प्यारी॥
अहो गौतमी हू कछु कहत न रजधानी की।
मम वन-वासिनि सखी जु शकुन्तला रानी की॥"

"नगर नागरी महरानिन के सैन अनोखे।
वह सूधी वन-वाला पिय को कैसे तोखे॥
जाने दे, बिन काज कहा बैठी वतरावत।
पाइ पिया को पेम मगिहिं बिन पूछन आवत!

अबहिं गुरुहिं आहार देइबो हैं हम वारी।
वहुत अबेर भई सु कुटीरहिं चलिये प्यारी॥"
तब कश्यप को शिष्य तहा गालव चलि आयो।
"कण्व कहा है?" पूछ्यो तिनसो अति हरपायो॥

"अग्निहोत्र-शाला मे"—कहि दोनो वन वाला।
कुसुम-पात्र लीन्हो उठाइ मालति की माला॥
लजत मराली गमन लखे, वे दोनो आली।
वल्कल-वसन समेटि चली लै कुसुम उताली॥

कोकिल सो निज स्वर मिलाइ वहु बोलत बोली।
निज आश्रम पै पहुँची वे मग करत ठिठोली॥
कुसुम-पात्र धरि गुरु-समीप निज सिरहि झुकाई।
वन्दन करि बैठी वे, मनकी मनहिं दुराई॥

बोल्यो गालव करि प्रणाम ऋषिवर को कर सो—
"ले सँदेस हम आये हैं अपने गुरुवर सो॥
महाराज दुष्यन्त सहित निजसुत प्रियवर के।
शकुन्तला-संग मिले, शाप छूट्यो मुनिवर के॥

"बहु व्रत धारि अनेक कष्ट सहि पुनि सुख पायो।
सुखद पुत्र मुख चन्द्र देखि अति हिय हरषायो॥
दलित कुसुम अपमानित-हिय, बाला बेचारी।
शकुन्तला निज पति-सुख पायो पुनि सुकुमारी॥

गद्गद कण्ठ, सिथिल-बानी अति ही सुखसानी।
बोले कण्व-महर्षि अनूपम, अविकल ज्ञानी॥
"सबही दिन नहिं रहत दुःख संसार मँझारी।
बहु दिन की है जोति बहूँ है चन्द्र उजारी॥"

प्रियम्वदा अनुसूया हूँ अति ही हिय हरषी।
आनन्दित ह्वै सुखद अश्रु निज आखिन बरषी॥
पायो जब संवाद मनोहर निज अभिलाषित।
भयो प्रफुल्लित तबहि वहै, तप-वन चिर-तापित॥

"हेमकूट ते उतरि मरीची के आश्रम सो।
आवत है दुष्यन्त-सहित निज श्री अनुपम सो॥"
मातलि आय कह्यो ज्यो ही, सब ही हिय हुलसे।
तह अनन्दमय ध्वनी उठी तबही ऋषिकुल से॥

शकुन्तला दुष्यन्त, बीच म भरत सुहावत।
धर्म, शांति, आनन्द, मनहुँ साथहिं चलि आवत॥
देखत ही अकुलाय उठी, तुरतहिं वन बाला।
प्रियम्वदा, अनुसूया, विकसी ज्यो मृदु माला॥

भाट सखी गन सो, तबही वह रोवन लागी।
हर्ष विषाद असीम, अनन्दित ह्वै पुनि पागी॥
शकुन्तला निज बाल-सखी गल सो कहुँ लागै।
बढ्यो अधिक आवेग माहिं, नहिं गल भुज त्यागैं॥

करुण, प्रेम प्रवाह, बढ्यो, वा शुद्ध तपोवन।
बरसन लग्यो मनोहर मंजुल मुँद आनँद-घन॥
श्रद्धा, भक्ति, सरलता, सब ही जुरी एक छन।
चित्र-लिखे-से चुप ह्वै देखत खड़े एक मन॥

कछुक बेर पर कण्व-चरण पर निज सिर नाई।
करि प्रणाम कर जोरि, खड़े भे बिधुकुल-राई॥
कुशल पूछ पुनि कण्व, दियो आशीष अनूपम।
भरतहु पुनि कीन्ह्यो प्रणाम, लहि मोद महातम॥

शकुन्तला सो पालित तब, वह मृग तहँ आयो।
सिर हिलाई अरु चरण चूमि आनन्द जनायो॥
माधवि लता मनोहर को निज करते परस्यो।
वह तप-वन तब अधिक मनोरम ह्वै सुचि दरस्यो॥

यज्ञ-भूमि को करि प्रणाम, आनन्द समेठे।
पूर्व मिलन के कुन्ज माहिं, कछु छन सब बैठे॥
शकुन्तला दुष्यन्त, भरत, मालिनि के तीरन।
वन-वासिनि वाला युग के सँग लागी विहरन॥

प्रियम्बदा मुख चूमि भरत को लेत अंक मे।
शकुन्तला अनुसूया सँग विहरत निशंक में॥
निजि बीते दिवसन की सुमधुर कथा सुनावत।
चुप ह्वै के दुष्यन्त सुनत, अति ही सुख पावत॥

सरल-स्वभावा वन-वासिनि, वे सब वरबाला।
यथानुकूल सुधारत भाव—अनेक रसाला॥
पति सो बिछुरन-मिलन समय की कहि बहु बातें।
चिर दुखिया आनन्दित ह्वै सब मोद मनाते॥

प्रियम्वदा तब दुष्यन्तहिं दीन्हा उराहनो।
"अहा परम धार्म्मिक, तेरी है बहु सराहनो॥
शकुन्तला को शाप हेतु विस्मृत तुम कीन्हो।
याही वन हम रही, खोज हमरो हू लीन्हो?
"अहो होत है अधिक निठुर—नर सब, नारी सो।
जौ लौं मुख सामुहे रहैं तौ लौं प्यारी सो॥
नहिं तो कौन यहाँ को, कैसो, कासो नाते।
वहु दिन पै जो मिले,—तऊ पूछो नहिं बाते॥"

अनुसूया हँसि बोली—"ये तो अति सूधे हैं।
इनको यहै स्वभाव कहा यामे तू पैहैं॥
शकुन्तला मुसक्याइ कह्यो—"जाने दे सखियो।
इनके सब बातन को अपने हिय म रखियो॥

विद्याधर॥ २१॥

अब यह मेरी एक विनय धरि ध्यान सुनो तू।
इनके विमल चरित्रन को नहिं नेक गुनै तू॥
जामें फिर नहिं बिछुरैं, सब यह ही मति ठानो।
सदन हमारे संग चलो अति ही सुख मानो॥"

यज्ञ प्रज्ज्वलित वन्हि, लखे सब ही प्रणाम किय।
कण्व महर्षि अनन्दित का अभिवन्दन हू किय॥
शकुन्तला कर जोरि पिता सो हिय सकुचाती।
कह्यो—"विनय करिबो-कछु है पै नहिं कहि आती॥"

बोले कण्व—"कहो, जो कुछ तुमको कहनो है।"
शकुन्तला ने कह्यो—"सखी-संग मोहिं रहनो है॥
इन सखियन के बिना यहा हम अति दुख पायो।"
कण्व "अस्तु" कहि, सबको अति आनन्द बढाया॥

कञ्चन कङ्कन किंकिनि का कलनाद सुनावत।
नन्दन-कानन-कुसुमदाम सौरभ सो छावत॥
निज अमन्द सुचिचन्द—वदन सोभा दिखरावत।
जगमगात जाहिरहि जवाहिर को चमकावत॥

निज अनूप अति ओपदार आभा दिखरावत।
चञ्चल चीनांशुक अञ्चल को चलत उडावत॥
केश कदम्बन कलित कुसुम-कलिका बिखरावत।
मञ्जु मेनका को देख्यो सब उतरत आवत॥

यथा उचित अभिवन्दन सब ही कियो परस्पर।
शकुन्तला माता सो लपटी अतिहि प्रेम भर॥
भरत चन्द्रमुख चूमि भई वह हिय सो हरषित।
प्रियम्वदा-अनुसूया सिर कीन्हो कर परसित॥

कण्व दियो आसीस जाहु सब सुख सो रहियो।
जीवन के सब लाभ प्रेम परिपूरित लहियो॥
चिर बिछुरे सब मिले हिये आनन्द बढावन।
मालिनि-तरल-तरंग लगी मंगल को गावन॥

प्रेम-राज्य

(पूर्वार्द्ध)

बाल विभाकर सोहत, अरुण किरण अवली सो।
कृष्णा क्रीडत निजनव, तरलित जल लहरीसो॥
मलयजशीर पवन वन—उपवन महँ सञ्चरहीं।
कोकिल कुल कलनाद करत अति मधुर विहरहीं॥

टाकीरोट सुयुद्धभूमि म प्रगट्यो दल।
सूर्य्यकेतु महराज, विजयनगरेश महाबल॥
प्रतिपक्षी बहु यवन राज मिलि सैन सजायो।
वीरक्रम अरु कादरता, जा दृश्य दिखायो॥

सिंहद्वार पर खड़े नरेश लखैं सेना को।
वायवराजे यूथप सँगघेरें वह्नाका॥
सेनापति सह सैन्य, युद्धभूमिहि चल दीन्हा।
पार वय का बालक इव आगमन सुकीन्हा॥

चन्द्रोज्ज्वल मुख मधुर, मिलन हाँसी को धारत।
सहज सलोने अंग, मनोहर ताहि सँवारत॥
सर्व नरेश निज सुन्दर सुत मुख म अति पागे।
हिये लाइ आनन्द मगन्ति, मुख चूमन लागे॥

कह्यो "प्रिया को विरह, तुमहिलखि सबहि बिसारी
किन्तु वत्स यह वीरकम्म, कुलप्रथा हमारी ॥
सो अब तुमहि त्राण की आशा हिय महँ धारी।
काहि समपहुँ तुमहि, चित्त नहि कुछ निरधारी ॥'

आयो तहँ इक भील—यूथपति दुहँ करजोरे।
चरनन पै सिरनाइ, कह्यो अति वचन निहोरे—
"महाराज! यह राजकुँवर हमको दै देहू।
राखैंगे प्रानन प्यारे को सहित सनेहू॥

अनुज एक सह भील, सैन्य आज्ञा पालन को।
आपहि की सेवा मे है सेना चालन को॥
हिम गिरि कटि महँ, इनका लै हमहूँ चलि जैहैं।
शत्रु न कोऊ इनको, खोजनते, कहुँ पैहैं॥

जब हम सुनिहैं विजय आपकी तौ पुनि ऐहैं।
कीन्हैं नेक बिलम्ब न याम कछु फल ह्वै हैं॥
"अस्तु' कह्यो पुनि शिरहि सूधि आलिंगन कीन्हो॥
बालक को मुख चूमि, तुरत भीलहि दै दीन्हो॥

"दादा" कहि अकुलाइ उठ्यो तबही वह बालक।
नैनन मो भरि नीर कह्यो नरगन के पालक॥
"दादा' येही हैं तुम्हरे, इनही को कहियो॥
मेरे जीवन प्रान, सदाही सुखसे रहियो॥"

या कहि के मुख फेरि, अश्व पै निज चढ़ि लीन्हो।
खीचि म्यानते खड्ग, युद्ध सम्मुख चलि दीन्हो॥
आवतही नरनाह, देखि सब छत्री सेना।
अति उमगित भइ अग आनन्द अटैना॥

वीर वृद्ध महराज, वदन पर हासी रेखा।
सब को हिय उत्साहित कीन्हा सब ही देखा॥
जयतु जयतु महराज, कह्यो तब सबही फौजैं।
जलधि वीर रस मे, ज्यो उमडि उठी बहु मौजैं॥

फरकि उठे भुजदण्ड, वीर रससा उमगाहे।
चमकि उठी तरवार, बम्म अरु चम सनाह॥
सैना करि द्वै भाग, एक सैनप को सौंप्यो।
अरु एकहि लै आप अकेले रनको रोप्यो॥

तब हर हर कहि कीन्ह्यो धावा शत्रुन ऊपर।
गरुड करत जिमि धावा, पन्नग प्रबल चमू पर॥
भिडे वीर दुहुँ ओर चली, कारी तरवारैं।
एक वीर सिर हेतु, अप्सरा तन मन वारैं॥

दाबि लियो क्षत्रीन, यवन के सब सेना को।
भागन को नहिं राह, घेरि लीन्ह्यो सब नाको॥
विकल कियो तरवार मारमो व्यथित भये सब।
भागे यवन अनेक, लखैं जहँही अवसर जब॥

है रणमत्त परे तबही सब पीछे छत्री॥
तुरतहिं मारैं ताहि, जबहि देखैं कोउ अत्री॥
करि कादरता कछुक, यवन जे रन सो भागे।
तेऊ मिलि तब लीन्ह्यो, घेरि वीर-पथ त्यागे॥

उन क्षत्रिन सग महाराज, तिनमह घिरि गयऊ।
सेनापति तह तिनहि, छुडावन को नहिं अयऊ॥
अहो! लोभ बस करत, काज कैसे नर नारी।
करत आत्म-मर्यादा, धम्म सबहि को वारी॥

राखत कछुक विचार नही यह पुन्य पाप सो।
निज तृष्णा को सींचत, नर नित आस "भाप" सो॥
नित्य करत जो पालन, तासो करत महाछल।
बहु विधि करत उपाय, बढावन को अपनो बल॥

चाहत जासो जौन, करावत है यह तासो।
याको कोउ जीतत नहिं हारे सब यासो॥
करिये वीर कर्म्म अरु लखिये निज अरिगन सो।
राखि स्वधर्म महान, टर्‌यो नहिं अपने पन सो॥

मारि म्लेच्छनगन करि, अनूप कछु वीर काम को।
सूर्यकेतु तब गये, सुगद निज अस्तधाम को॥
विश्वम्भर पै शान्त अरु तहँ आश्रय लीन्हो।
आशुतोष तब आशु शान्ति अभिनव तेहि दीन्हा॥

''भारतभूमि धन्य तुम, अनुपम ज्ञान।
भये जहा बहु रतन, अतुल महान॥

चित्रापार॥ २५॥

भये नृपति जह इक्ष्वाकु वलवान।
जहा प्रियव्रत जनमे, विदित जहान॥

भये नृपति सिरमौर जहा दुष्यन्त।
जन्म लियो जहँ भरत सुकीर्त्ति अनन्त॥

जम्बूद्वीपहिं वाट्यो, करि नवखण्ड।
निज नामते वसायो, भारतखण्ड॥

जिनके रथ सहसारथि, नभला जाहि।
जिनके भुजवल-सागर को नहिं थाहि॥

जिनके शरण लहे, निर्विघ्न सुरेश।
अमरावती विराजहिं, चारु हमेश॥

जिनके प्रत्यञ्चा की, सुनि टनकार।
अरिशिर मुकुटमणिन को सहै न भार॥

भये भीष्म रणभीष्म, हरण अरिदप।
जामदग्निते रच्यो समर करि दप॥

जिनकी देव प्रतिज्ञा की सुख्याति।
गाइगाइ नहिं वाणी अजहुँ अघाति॥

विजय भये जिन भये पराजय नाहिं।
जिनके भुजवल ते, प्रसन्न ह्वै चाहि॥

दियो पाशुपत व्योमकेश त्रिपुरारि।
किया दिग्विजय डारयो शत्रुन मारि॥

जिनके क्रोध अनल महँ, स्रुवा नराच।
आहुति अक्षौहिणी, भई सुनु साच॥

वसुन्धरे तव रक्त—पिपासा धन्य।
मरी जहा चतुरगिनि सैन अगन्य॥

करि कुकर्म यह जय वह, क्षत्री-कुल-कलक-अति।
सेनापति यवन के, सैनप यह निशक मति॥
गयो लेन निज पुरस्कार, तव सब उठि धाये।
मातृ भूमि द्रोही कहि, अति उपहास बनाये॥

तव अति क्षुब्ध चित्त, गृहको वह लौटन लाग्यो।
देख्यो गृह के द्वार, एक बाला मन पाग्यो॥

गृह मे देख्यो नाहिं कोउ अति कुण्ठित भो हिय।
ललिता को लीन्ह्यो उठाइ, अरु मुख चुम्बन किय॥

रोइ कहन लागी बाला, तब अति दुख सानी।
छाडि मोहि जननी हू, गई कहा नहिं जानी॥"

पुनि लखि बाला कर महं, पत्र एक अति आकुल।
लीन्हो ताहि पढन को, तब वह सैनप व्याकुल॥

पढ्यो ताहि "नहि अहो-अहो तुम पती हमारे।
तुम्हरे सन्मुख महाराज, किमि स्वग सिधारे॥
तुम आशा मय बाला को, लीन्हे हिय पोम्यो।
तुमहि क्षमा हित स्वग-माँहि महराजहिं तोषो॥

वह निराश निज हृदय, लिये तबही कुलघालक।
कीन्हा उत्तर गमन, तबै सेना को पालक॥
कृष्णा की नव तरल वीचि, अति कृष्णा लागे।
अरु वह मलयजपवन नाहिं वहि हिय अनुरागे॥

o

प्रेम-राज्य

(उत्तरार्द्ध)

सुरसरित्-तीर तमाल कुञ्ज, श्यामल वनराजी।
हिमगिरि धवल उतुंग, सुछाया जल महँ छाजी॥
कुसुम सहित तरवर, की साखा जल भल परसत।
परिमल पूर प्रभञ्जन सों जहँ जन मन हरपत॥
कोकिल, कीर, मराल कलनाद करत जहँ विलसही।
विकच कमल मकरन्दभरि, मधुकर को मन हुलसही॥

नवल प्रफुल्ल रसाल, बाल पादप के छाहीं।
बैठी बाला! एक सुभग, श्री अंग अँग माही॥
कुसुम कलिनसों बने, मनोहर भूखन सोहैं।
सहजहिं छवि छलकति, जह दोऊ नैन हँसोहैं॥
कलसी जल भरि धरि रही, मृगछौना थिर सामुहे।
कर पर कीर मराल ढिग, सिखी वृन्दहू जहँ जुहे॥

चकित नयन ते लखत, पवन क्रीडत अलकन सो।
विमल वीचि के वीच झुकत झूमत कमलन सो॥
कोकिल को कलनाद, सुनत धरि ध्यान रसाला।
चतुर चितेरे चित्रित, सो ह्वै रहि वह बाला॥
लखि मूरति शान्त सुरसरी हू को मन्द प्रवाह है।
कुञ्जन मे छपिके सुमन, देखत सहित उछाह है॥

उठी बाल धरिगति मराल-सी चली बकुलतर।
लागी अवचय करन, कुसुम सुकुमार निजहिं कर॥
कदली पात बिछाइ जतन-सो धरि ता ऊपर।
लागी गूँथन माला, छोटे बडे मनोहर॥
कीरहिँ, मगछौनहिँ, सिखिहि, यथा उचित पहिरावही।
वेऊ नीचे गल किये, पहिरि मनो सुखपावही॥

यद्यपि मुख मुसुक्यात, छिपावत है कपोल म।
तद्यपि हासी उछलि रही है दृगविलोल मे॥
सुघर दन्त की पाति, मनो मुकता चुनिराखे।
विमल कान्ति विधुमाहि, सुधाके विन्दुहि राखे॥
सहज सुघद बालक वदन, रुचिसो देखत बनतही।
आवत है पग चापिके, तरुओटन मे छिपतही॥

कलकिशोर वय चारु, नवल यौवन के रँगसो।
वीर रसोज्ज्वल व्यञ्जक मजुल गठा सुअंगसो॥
दया वीर को प्रगट रूप सुमनोहर मोहत।
मदनहु वदन जुलखै, रहे ठाढो नहि जोहत॥
मोहत को नहिं माधुरी, छवि लखि हिय हरखात है।
तरुवर हरियालीन मे, बालक विमल विभात है॥
बाला के दृग मीँचि, कह्यो "हमको न जु बोलो?"
"चन्द्रकेतु" कहि पुनि बोली, बाला "दृग खोलो॥"
उठे युगल हँसि दै दै, ताली मनसो हरषत।
मनहुँ सरदघन मोती की बूँदैं ज्यो बरसत॥

तारागन सह चन्द्र, लसै उज्ज्वल अम्बर म।
हीरन के ज्यो हार, निशा रानी के गर मे॥
नवल चन्द्रिका की लहरैं, तरलित हिय करती।
विधु मण्डल ते विमल, सुधा बूँदै ज्यो परती॥

नील समुज्वल गगन, नील तरवर की श्रेनी।
छाया सो नीलिमा-मयी सुरसरि सुखदेनी॥
हँसत सुधाकर तामे, रचि प्रतिविम्ब मनोहर।
लखि स्वरूप गर्विता, आरसी ज्यों निज मुखवर॥

अमर तरंगिनि पुलिन, सिला पर युगल सुधाकर।
चन्द्रकेतु ललिता, सेवत समीर सुखआकर॥
भील बालकन की अवली, नीरद की पाँती।
घिरि बैठे हैं एक संग, अति छटा लखाती॥

भील बाल इक बोल्यो, "सुनिये सखा हमारे।
आजु मनोहर निशा, करो क्रीडा मिलि प्यारे॥
चन्द्रकेतु ललिता को, साजें राजा रानी।
अरु सब सहचर प्रजा, आमात्य, सैन्य, सेनानी॥

कुसुम कलिनसों गाछि, मनोहर मुकुट बनाई।
ललित मल्लिका हार, दियो गलमहं पहिराई॥
कोमल किसलय रासि, मिलहि सिंहासन साज्यो।
चन्द्रकेतु राजा बनि, ललिता-महं तहँ राज्यो॥

छोटे तीर कमान लिये, छोटे सब बालक।
छोटी सैन्य सजाइ, खडे तहँ सेना पालक॥
भील बाल मिलि राज, साज अति सुघर सजायो।
चन्द्रकेतु ललिताहूँ, तिनमहं मिलि सुख पायो॥

कोउ कहत "अब सब हम, वन आखेट करेंगे।
अरु नहिं जन काहूसों, अब हम कबहुँ डरेंगे॥'
कोउ कहत "अब पथिकन कहँ निभय लूटेंगे।
ऐसो राजा पाय, महोत्सव म जूटेंगे॥'

चन्द्रकेतु सुनि ये बातें बोल्यो अकुलाई।
"तुम सब क्यों पापाणहृदय, कैसी कठिनाई॥
अहो लखो यह विश्वेश्वर की सृष्टि अनूपम।
शिवस्वरूप तिनमाहिं, विराजत लखि सबही सम॥

यह विराट संसार तासु, अव्यक्त रूप है।
यामे जगत की आभा, राजत अनूप है॥
शान्तिमयी दिग्वस्त्र सहित वह मनहर मूरति।
चिताभस्म तममय, पै शुचि हिमगिरिसो पूरति॥

चन्द्र सूर्य युगनैन, जबहिं वह अपने पेखत।
तबही तममय जगत माहि नर आखिन देखत॥
लखहु अहै यह व्योमकेश, अवली अति उज्ज्वल।
तिनमहँ नागमणि सम तारे लसत समुज्ज्वल॥

गरल कण्ठ सवजन को दोष रहत धारे हौ।
अग्नि नयन तीसरो, रहत पलकन आडे हौ॥
पराशक्ति वह प्रकृति, अंक महँ अति छवि छावत।
धर्म्म-वृषभ की असवारी, मन मँह शुचिभावत॥

लसत समीप षडानन, वाहनहूँ को देखो।
वीर सिंह चुप साधि, अहो बैठ्यो अवरेखो॥
तहँ गणेश को मषक हू को करहु कल्पना।
पन्नगहू मन मारि, करत नहिं कछुक जल्पना॥

लखहु परस्पर परम, विरोधी कैसे शुचि सो।
पान करत वह प्रेम-सुरसरी धारा रुचि सो॥
भूतनाथ सब भूतन सँग क्रीडत है अविरल।
पशुपति निज पशुगन, प्रतिपालत प्रेम सहित भल॥

विश्वम्भर नित भरत और पोषत निज जन को।
तुम सब व्यय निरोध सहित धारत निज मन को॥
जो यह अनुचित करहु, विरोध तबै सुनि लीजै।
निज विरोध मय राज्य, और काहू को दीजै॥"

तहि छिन तहँ इक वृद्ध, भील सन्मुख चलि आयो।
सजल नयन कर बाँधि, कह्यो मनसों हरषायो॥
"अहो अहै यह राज्य सबै विधि तुम्हरे लायक।
अब सो तुमहिं बनोगे, हम सबके वरनायक॥'

सौशव सरल सँकोच सहित बोल्यो तब बालक।
"दादा" तुम तो सबही विधि हो हमरे पालक॥
धाइ लग्यो अकुलाइ, अंक सो हूँ आनन्दित।
वृद्ध रुमाली अश्रुन सीचि दियो अति पुलकित॥

शान्त मुखाकृति तापस-वेश तहाँ इक आयो।
जेहि को देखत ललिता मुख लज्जा सों छायो॥
चरण गह्यो अति आकुलता, सकोच भरी सो।
तापस लियो उठाइ ताहि, सुचि सुमन छरी सो॥

धोरयो तापस आशिष-मह आनँद हिय भर को।
चन्द्रकेतु के करपै धरि, ललिता के कर को॥
"वनदेवी स्वर्गीया-सुसमा ललिता तू है।
यह अनुरूप कुमार-हेतु सब लायक तू है॥
येहि सो तुम दोनो मिलि, प्रेम सुगाठिहि बाँधो।
निज सुकुमार हृदय-मँह पेमहि को आराधो॥
गंगा यमुना के संगम सो प्रेम की धारा।
सो सीचो या वन्य देश को मधुर अपारा॥
ईश कृपाते नवविद्या, इन महँ परचारो।
इन असभ्य भीलन महँ राज्य थापि विस्तारो॥
"जय राजा की" जय रानी की बोले बालक।
तब हँसि बोले भील वृद्ध बालक के पालक॥
"सूर्य्यकेतु निज सुतहिं, निसानी सम मोंहि दीनो।
आजु मिली जोडी विधि, यह अति सुन्दर कीनो॥"
"चन्द्रकेतु मम स्वामी सुत, धन धन विश्वेश्वर।
चिरञ्जीव मम वत्स, होहु तुम श्रीराजेश्वर॥
दृग उठाइ लखि व्योम, कह्यो तापस कर जोरे।
"नाथ दास तुम्हरो यह, कीन्हो पाप घनेरे॥
क्षमा करहु अब कोप दृष्टिते नहिं मोंहि देखो।
निज सुत औ सुत पत्नी को कृपया अवरेखो॥
सहित स्नेह पुनि कह्या, "सुखद" तुम सुखसो रहिये।
क्षमा प्रार्थना करन मोंहि, ईश्वर सों कहिये॥'
चन्द्रकेतु ललिता तब, दोना कर धर लीनो।
कह यो "अवज्ञा भई कौन, जो तुम तजि दीनो॥'
भीलहि लखि पुनि कह्यो, "यतन हमहूँ ते करिहैं।
लहि इकन्त हम कर्म्म हेतु अनुतापहि जरिहै॥"
या कहि तापस दोनो के सिर पर कर राख्यो।
"विश्वेश्वर अब क्षमहु" अमृतमय मुखसो भाख्यो॥
चन्द्रकेतु को रतन, जटित सिर मुकुट पिन्हायो।
ललिता को मौक्तिका हार, गलमँह अतिभायो॥
पहिरतही वह रतन मुकुट मोती की माला।
अद्भुत् परिवर्त्तन को धारयो बालक बाला॥

यह किशोर नवचन्द्रकेतु ललिताहु किशोरी।
तन्मय लखत परस्पर इकटक अद्भुत जोरी॥
लखे नवल यह "प्रेमराज्य!" अति ह्वै आनन्दित।
चमकि उठ्यो नव चारु—चन्द्र तारागन वन्दित॥



पराग

अष्टमूर्त्ति

सुरम्य शस्यावलि सो प्रपूरिता।
अनन्त सौन्दय्य विभा विराजिता॥
सुअन्न ते पालत है जहान को।
"धरा" धरै मूर्ति महा विधान को॥

उपाधि है जीवन जासु जीव की।
महान्ति ह्वै रक्षन सर्व जीव का॥
असीम आनन्द तरंग पूर है।
प्रसन्न "कीलाल" मुदित्व मूर्ति है॥

विशाल ज्वालावलि सो प्रभा भरी।
अमन्द आलोकहु ते जु सुंदरी॥
हविष्य को चारु सुगन्ध है खरी।
लसै सु "वैश्वानर" मूर्त्ति माधुरी॥

अखण्ड ब्रह्माण्ड विभात है जहा।
अनन्त औ दूर सुर्नाद है महा॥
सहस्र संसार उगे मने रहैं।
असीम "आकाश" सुव्याप्त ह्वै रहैं॥

त्रिनामार ॥ २०

प्रभात मे सुन्दर रूप धारिकै।
श्रमे हुए पान्थ श्रमै निवारिकै॥
सु प्राणधारी-गन हेतु प्रान है।
"समीर" सौन्दर्य भरो महान है॥

असख्य नक्षनन के सुलोक का।
विराट-राजा-सम है अशोक को॥
प्रकाश सो पूर प्रभा पसारि कै।
"दिनेश "नाशै अघ को प्रचारि कै॥

निशा सुराका मह मञ्जु भासि के।
कला दिखाव सुखमा प्रकासि के॥
सुधा-झरी-सी वरसै अमन्द है।
महान राजै नभ चार "चन्द्र" है॥

दुखी जनो के दुख को निवारि के।
सुखी करे धम्म महा प्रचारि कै॥
आतिथ्य-सेवा-रत मोद को भरै।
मनुष्य सत्कम्म सुयज्ञ को करै॥

वसुन्धरा अम्बु, धनञ्जयादि मे।
बिहायसी, पौन, दिनेश आदि मे॥
शशाक औ सज्जन म सुभावती।
प्रभो, तिहारी सुखमा प्रभावती॥



कल्पना-सुख

हे कल्पना—सुखदान। तुम मनुज जीवन प्रान ॥
तुम विसद व्योम समान। तव अन्त नर नहिं जान ॥
प्रत्यक्ष, भावी, भूत। यह रगे त्रिविध जु सूत ॥
तव तानि प्रकृति सुतार। पट बिनत सुचि ससार ॥
येहि विश्व को विश्राम। अरु कछुक जो है काम ॥
सबको अहो तुम ठाम। तव मधुर ध्यान ललाम ॥
तव मधुर मूर्त्ति अतीत। है करत हीतल सीत ॥
व्याकुल करन को मीत। तुम करहु कबहु सभीत ॥
शैशव मनोहर चित्र। तुम रचहु कबहुँ विचित्र ॥
मनु धूल धूसर बाल। पितु गोद खेलत हाल ॥
तव सुखद भावी मूर्त्ति। जेहि बहत आशा-स्फूर्त्ति ॥
मनुजहिं रखै विलमाय। जासो रहैं सुख पाय ॥
नवजात शिशु को ध्यान। हुलसावही पितु प्रान ॥
वह कमल-कोमल-गात। जनु खेल्हि कहि तात ॥
कहुँ प्रेममय ससार। नव प्रेमिका को प्यार ॥
कल्पित सुछाया चित्र। बहु रचहु तुम जग भित्त ॥

तव शक्ति लहि अनमोल । कवि करत अद्भुत खेल ॥
लहि तृण—सबिन्दु तुषार । गुहि देत मुक्ताहार ॥
जहँ सुन्दरी के नैन । वह रचत तहँ सुख दैन ॥
जलजात के जुग पात । तहँ नील मनि सुविभात ॥
येहि भाँति कौतुक केलि । सब नियति को अवहेलि ॥
जो करत नर सुख मानि । सो तव कृपा को जानि ॥
तुम दान करि आनन्द । हिय को करहु सानन्द ॥
नहिं यह विषम संसार । तहँ बहा शान्ति बयार ॥



मानस

मानस ! तुम मानस सम विमल विशाल।
अगिनित वीचि बिलोल मनोहर माल ॥
उठत, चारु मिलि जात करत अति केलि।
तव तरंग अति मधुर सुधा अवहेलि ॥
तव पुलिनोपरि बैठि मनुज मनमान।
सुनत अनोखी तव तरंग की तान ॥
चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, निर्वेद।
लोभ, मोह, आनन्द, आदि बहु भेद ॥
है यह मकर-निकर अरु मत्स्य महान।
भरे रतन आशा मुकता की खान ॥
चुंगत मोज भरि तेंहि कल्पना-मराल।
विहरत बहु विधि "शोच" मरालिनि जाल ॥
ग्रसत कबहुँ कल्पनाहि मकर महान।
व्यथित होत यह मानि दुःख अनजान ॥
सूक्षम अति तव कज-नाल को तन्तु।
तवहूँ है फँसि जात भयावह जन्तु ॥
तव तरंग की सीमा यहि विधि नाहि।
खेलत जामहँ चित-मराल सुख चाहि ॥

शारदीय शोभा

प्रभात

विलसत मधुर समीर प्रवास,
मानहुँ प्रभात को सीरो।
कलरव मधुर विहग-सग,
परि मुदित करत चित धीरो॥

औरहु मधुर दिवाकर,
करहिं पसारत जब निजु सुन्दर।
अलिकुल-मिपित सरोरह—
गन को पीत करत सुमनोहर॥

जलकण-भूपित शस्यश्यामला
धरनी तरु फल पूरा।
सुमन सौरभित शिखर
वनाली, जल-लहरी पर सीरो॥

रजनी

औरहु सुन्दर अति लखात
आगमन सुसन्ध्या केरो।
तापर शात विहगम-सग
मनोहर रजनी हेरो॥

इन्दु - कला - परिवेष्ठित
तारा-निकर व्याम-मुक्ता-सम।
पै वा रजनी राज्य माहि
नहि वायु प्रभात मनोरम॥

नाहि विहगम कलरव,
नाहि सुबाल दिवाकर किरनें।
नहि अरविन्द-विकास-महित
नव ओसकणा की झरनें॥

ये मिलि करत अराम सग
ये सब सहचर हैं नाही।
चन्द्रकला शोभत अपने मो,
या शुचि रजनी माही॥

चन्द्र

निसि फलि रही निसिनाथ-कला।
किरणावलि कान्ति लसै अमला॥
बिलसै चहुँ ओर लखात भला।
निधि छीर मनो बिहरै कमला॥
अमला किरणावलि पूर सभी।
सुरनारि कपोल-कला हुलसी॥
बिलसै रतनाकर, अम्बर मे—
रतनेस न जासु काऊ बर मे॥
कमला जल केलिहि हेतु रमे।
उडुराज किधौ नलिनीगन मे॥
शुचि व्योम-सरोवर के जल मे।
शशि कै मुख-कंज विकासन मे॥
सुमहोत्पल है कि मयंक कला।
यह बारिधि के शुचि व्योम झला॥
यह चारु पराग मरन्द सनो।
बरसैकि जुन्हाइहि चन्द मनो॥



रसाल-मंजरी

ऋतुनायक के कृपा दृष्टि ते यह अति लोनी।
धारयो नवल "रसाल मञ्जरी" सुधर सलोनी॥
मधुर मधुर मकरन्द अबहिं यामें भीन्यो है।
अब लो कोउ मधुकर मरन्द नाहिं लीह्यो है॥

अहो विमल मलयानिल! नेक धीर धरि आवो।
कावेरी के रम्य तीर सों वेगि न धावो॥
वसन्त कुलकामिनि अञ्चल को नाहिं उडावो।
नव मुकुलित मञ्जरी अहे इत धीरे आवो॥

अरे नेक हटि बैठु डार पै ते सुन कोकिल।
सुनि तव पञ्चम राग जात मञ्जरी अहे हिल॥
तव नैनन की लाली यह तो सहि ना सकि है।
नेक मधुर स्वर वालु पास रहि कैसे बचि है॥

क्यों इतनो इतरात चले आवत हौ इतनो।
नेकहु रचन विचार नही हौ अपने हितको॥
पुञ्ज कुमुद वन माहि कीजिये सो त्यों सेनी।
मलयानिल! जौ नों निकसै मजरी नवेली॥

पीत-पटी कटि माहि रग सावरो निहारो।
सबही भाति नन्दनन्दन को ही अनुकारो।।
करत फिरत मधुपान कुसुम नित नित प्रवीन सा।
मधुकर! यह मञ्जरी अहै समुदित नवीन सो।।

बिनवौं तुमसो नेक कृपा करिकै सुनि लीजे।
समुझि सिखावन भलो चित्त मे ठाव सुदीजे।।
चचलता तजि देहु अजू अपनी विचारि के।
मजु मजरी पाइ भार दीजे सम्हारि के।।



रसाल

समीरन मन्द मन्द चलि अनुकूल,
खेलत रसाल संग अति सुखमूल।
उदार चरित तुम तरुवर राज,
तुम्हरे सहाय बली होत ऋतुराज।
मञ्जरी मधुर गन्ध कानन पूरित,
मधु लोभी मधुकर निकर गुञ्जित।
करत मुदित मन नवल सृजन,
तुमसो सुखद और कौन है सुजन।
ग्रीषम-निदाघ महँ शीतल सुछाया,
श्रमित पथिक वह देह मन भाया।
हरित सघन रूप तन निरखत,
पथिक हृदय महँ सुख बरसत।
निहारि नवल घन पुलकित तरा,
पल्लव, कोपल नव धरि वितरा।
रहत अपार यश परम रसाल,
विहँग करत गान बैठि तव डाल।



वर्षा मे नदी-कूल

सघन सुन्दर मेघ मनहर गगन सोहत हेरि।
धरा पुलकित अति अनन्दित रूप धरि चहुँ फेरि॥
लता पल्लवित राजै कुसुमित मधुकर सो गुञ्जित।
सुखमय शोभा लखि मन लोभा कानन नव रञ्जित॥
विज्जुलि मालिनि नव कादम्बिनि सुन्दर रूप सुधारि।
अमल अपारा नव जल धारा सुधा देत मनु ढारि॥
सुखद शीतल करत हीतल विमल अनिल सुधीर।
तरंगिनि-कूल अनुकूल आइ चलत मेटत पीर॥
तरग तरल चलत चपल लेत हिलोर अपार।
कूलन सो मिल करै खिल खिलि तटिनि विस्तृत धार॥
वत्ति वेगवति चलत ज्यो अति मनुज ता वस होत।
तरंगिनी-धारा चलत अपारा चारु कल कल होत॥
कूल-तरुस्रनी अति सुख देनी सुन्दर रूप विराजै।
वर्षा नटिनि के पट मनोहर, चारु किनारे राजै॥



उद्यान-लता

सुमनावलि सो लदि मोद-भरी,
पतिया सुलसात नवीन हरी ॥
भरि अंक अहो तुम भेंटति को,
तरु के हिय दाह समेटति को ॥
टक लाइ सनै दृग फूलन ते,
मकरन्द भरे असुवा-कन ते ॥
तुम देखति हो केहि आस-भरी।
नहिं बोलति हो तरु-पास खरी ॥
यह नीरस है तर जानत ना।
अति रोमन जानि अजान तना ॥
जितनी भुज-लच पसारति हो,
तितनो यह रूख निहारति हो ॥
मलिया जहँ सींचि लगावत है।
तहँहो तुमको मन भावत है ॥
तर पाइ समीपि सुपासति हो।
तेहि के सर धाइ सुलागति हो ॥

प्रभात-कुसुम

धरे हिय माहिं असीम अनन्द।
सने शुचि सौरभ सो मकरन्द।।
समीरन मे सुखमा भरि देत।
प्रभातिक फूल हियो हरि लेत।।
मनो रमनी निज पीय प्रवास।
फिरी लखि कै निज वैठि निवास।।
निरेखत अश्रु भरे निज नैन।
अहो इमि राजत फूल सचैन।।
कहो तुम कौन लख्यो शुभ-रूप।
गहो इतनी प्रतिमा सुअनूप।।
पड्यो तुम पै कहु कौन प्रकाश।
इतो तुम माहिं लखात विकास।।
दिवाकर को कर सगम पाइ।
अहो तुम फूल फिरो इतराइ।।
अरे नहिं जानत फूल अजान।
यहै करिहैं तव मदन मान।।



विनय

जो सब व्यापक तऊ सबसे परे हैं।
जो सूक्ष्म हैं पर तऊ वसुधा धरे हैं।
जो शब्द मे रहत शब्द न पार पावै।
ताकी महान महिमा कवि कौन गावै॥
जो भानु मध्य नित भासत ओज धारे।
शीतांशु जासु लहि कान्ति प्रभा पसारे॥
जाको सुगन्ध मलयानिल पाइ डोलै॥
ताके महान गुण - ग्रंथिहिं कौन खोलै॥
जाके कृपा कणहिं पाइ तरंगशाली।
गम्भीर गर्ज्जन करै निधि फेन माली॥
कैसो अनन्त वह देव दयालु सोहै।
जो बैठि के सुमन मन्दिर माहिं मोहै॥
जो नित्य सौरभ सने मणि-पद्मवासी।
जो हंस मानस सरोवर को विलासी॥
जो पुण्य छीर पय पावन को विचारै।
आनन्द के तरल वीचिन मे विहारै॥
जो कल्पवृक्ष नित फूलत मोद भीने।
जा देत स्वच्छ मंगल ह नवीने॥
संसार को सदय पालत जौन स्वामी।
वा शक्तिमान परमेश्वर को नमामी॥



शारदीय महापूजन

विश्व म आलोक चार लखात नव चहुँ ओर।
धीर शीतल पौन पूर पराग वहत अधोर ॥
नील निमल नत्रल सोहत सुखद मञ्जु अकाश।
सुप्रसन्न महेश की लहि महाशक्ति विकाश ॥
शारदीय स्वरूप धरि आगमन जननी कीन्ह।
धान्य सो भरि के धरा को अमित सुख फल दीन्ह ॥
देखिये यह विश्व-व्याप्त महा मनोहर-मूर्त्ति।
चित्तरञ्जन करति आनन्द भरति है धरि स्फूर्त्ति ॥
देवबालागन सबै पूजन करत सुख पाइ।
तारकागन कुसुम माला देत है पहिराइ ॥
चन्द्र का कपूर-नीराजन विमल आलोक।
साजही सब शील संयुत धारि हृदय अशोक ॥
स्वच्छ नीर सुस्वादु सो मानहुँ दया की धार।
मोद को है लहत सब ही गहत गुनहिं अपार ॥
कोटि कठन सो कढत कल कीर्ति नाद महेशि।
विश्वधारिणि विश्वपालिनि जयति जय विश्वेशि ॥



विभो

आलाकपूण सव लोकन म विहारी।
आनन्द कन्द जगवन्द्य विभो पुरारी॥
ब्रह्माण्ड मण्डल अखण्ड प्रताप जाके।
पूरे रहं निगम हूँ गुण गाइ थाके॥
ईशान नाम तव, नाथ अनाथ के हा।
विख्यात है विरुद सद्गुण गाथ के हो॥
जो पै निहारि मम कर्महि ध्यान दैहौ।
तौ आशुतोष पद ख्यातहि को नसैहौ॥
जानी न जाय केहि कारण रीझते हौ।
क्यो मूढ मानव जनो पर खीझते हो॥
प्यारे मनुष्य उरमध्य निवास तेरो।
सन्माग क्यो नहि बतावहु जाहि हेरा॥
वीणा सुतार नहि सुन्दर साजती है।
आनन्द राग भरि क्या नहि बाजती है॥
गावो सुचित्त शुचि मन्दिर माहि मेरे।
पावो असीम सुख मोद महा घनेरे॥
हौ पातकी तदपि हौं प्रभु, दास तेरो।
हौ दास नाथ तव है हिय आस तेरो॥
है आस चित्त महँ होय निवास तेरो।
होवै निवास महँ देव! प्रकास तेरो॥

विदाई

सोयो सोया जागिके, करि आगम पहिचान।
काहि पुकारयो वेग सो, अहो पपीहा प्रान॥
हौं नहिं जातो कहा ते, आय परे तुम मीत।
अबही जो तुम जात हौ करत यहै अनरीत॥
प्रकृति सुमन बरसत रही, भली रही अवरात।
वा मिलिबे के समय मे, तेहि जनि करहु प्रभात॥
नव वसन्त सो अतिथि तुम, आवहु हिय हरखाय।
छोडि जात ग्रीषम तपन, जामा जिय जरि जाय॥
आवत बरसत नेहरस, अहा प्रेम घन मीत।
करि लकीर दुरि जाहुगे धरि चपला की रीत॥
तुमते बढि कोऊ नही, छली अहै जग माहिं।
आवतही अधिकार म, करत सबै चित चाहि॥
मनमानिक चित चाहिके, पहिले लीन्हा छीन।
जान समय नीलाम करि, किय कौडी को तीन॥
प्रिय जबही तुम जाहुगे, कछुक यहाँ ते दूरि।
आखिन मे भरि जायगी, तव चरनन की धूरि॥

इन पुतरिन पै आपने चरनन के रज गार॥
निठुर, हृदय तुम ले चले, इत आसू के धार।
तेरे पथ को सींचिहैं, रखिह ताहि सँवार॥
क्रीडा कमल हृदय भयो, तेरे करको मीत।
सर सो बिलगानो अहै, सींच्यो दै रस प्रीत॥
जाहु, हमारे आह ये, रच्छक तुम्हारे पास।
जो लेऐहै खींचि पुनि, तुमको हमरे पास॥



नीरद्

अहो नवल नीरद नवनीर नीर विधि सा भरि।
बैठि समीरन वाहन पै गम्भीर गरज धरि॥
अम्बर-पथ-आरुढ कृषक-गन को हरखावत।
लोक दृष्टि ते सबहिं लखत जबही तुम आवत॥
भरे विमल जल झलकत नील नलिन अवली सो।
अम्बर छाया है कादम्बिनि की पटली सो॥
लखे नचत ह शिखी मगन मदमत्त भये से।
अहो समीरन नेक रहन दे इन्हे ठये से॥
हरित भूमि सकुलित शस्य सा सुरस रम्य बन।
तिन महँ विहरत इतउत इन्द्रवधूटी गन घन॥
मेघ मण्डली मण्डित उत अम्बर शुचि राजत।
तिनम दामिनि छटा सलोनी सुघर विराजत॥
लखो अबहिं ये लगे परन पुनि सघन फुहारे।
परिमल सुरभित वारि बूंद पुनि बाधि कतारे॥
अब तो इन राख्यो न भेद अम्बर धरती मे।
वारि सून सो बाधि दियो है एकतती मे॥

प्रबल पवन लहि सग जलद के जल की धारा।
धारत अद्भुत रूप मनोहर अति विस्तारा॥
बेलिन को हहराइ छुडावन चहै तरुन सो।
व्यथित होइ लपटाइ रही जे भरी करुन सो॥

× × ×

इत चातक चित लाइ लखत हैं तेरे मुख को।
मधुर बारि शीतल की आशा धारे सुख को॥
क्यो इतनो तरसावत हौ निज प्रेमीगन को।
स्वाती लौ पछताइ देहुगे जल सुखमन को॥
यह तुम लीन्हे अंक माहि दामिनि सो।
गरजत पुलकि पसीजत धावत सग मानिनि सो॥
नेक न रखहु विचार पथिक अरु विरही जन को।
गरज न जानत, तेहिं रहत है धुन गरजन को॥
जान परत नहि है गम्भीराशय तव मन को।
करत कहा हौ काह करोगे अपने मन को॥
पै हम हिय ते देत असीस अहैं तुम को नित।
समय समय पुनि आय सुधारस को बरसहु इत॥

शरद-पूर्णिमा

सु पूरब माहिं उग्यो छबि धाम।
कला बिखरावत है अभिराम॥
अकास विभासत पूरन चन्द।
समीरन डोलत मन्दहिं मन्द॥
न बोलत है कहुँ कोकिल कीर।
सबै चुप साधि रहे धरि धीर॥
कवौं हिलिजात अहै द्रुम पात।
समीर जबै तिन मे सरसात॥
सुधा बरसावत है नभ चन्द।
मनो प्रकृती हिय धारि अनन्द॥
सु मोहनि मन्त्र सुधारि सराग।
बिखेरत है जग माहिं पराग॥
निसापति को लखि कै बधराज।
भग्यो तम अंग छिपावन काज॥
मनो द्रुम कन्दर मे थल पाइ।
लियो बिसराम अगमहिं जाइ॥
नदी धरनी गिरि कानन देश।
सु छाजत है सब ही नव भेश॥
धरे सुख सा सबही शुभरूप।
लखात मनोहर और अनूप॥



संध्या तारा

सन्ध्या के गगन महँ सुन्दर वरन।
को हौ झलकत तुम अमल रतन॥
तारा तुम तारा अति सुन्दर लखात।
तुम्हे देखिबे को नहिं आनँद समात॥
अनुकूल प्रतीची सो लखि दिनकर।
लहि मलिनाभ छाया वारि मनोहर॥
प्राची सन्ध्या सुकुमारी अति अनुपम।
गहत अपूव एक तारा आशा सम॥
निराश हृदय शून्य विस्तृत गगन।
आलोकित तारा आशा देखि ह्वै मगन॥
प्रभात मिलन आशा मनु हिय करि।
एक टक देखै प्राची तरुणि सुमिरि॥
नीलमनि माला माहिं सुन्दर लसत।
हीरक उज्ज्वल खण्ड विकाश सतत॥
कामिनी चिकुर भार अति घन नील।
तामे मणिसम तारा मोहत सलील॥

भ्रान्त तरंग तुंग माला निर्गर्जित ।
फेनिल गम्भीर सिंधु निनाद बाधित ॥
हेरि बुद्बुद सम नाविक जिमि भयभीत ।
दीप पथ दर्शावहिं लखत सप्रीत ॥
घमार तरंग लगि भीत तिमिजन ।
निराश हृदय धारि संतापित मन ॥
शान्ति निशा महिषी का राज चिन्ह रूप ।
तुमहि लखत संध्या तारा शुभरूप ॥



चन्द्रोदय

विशद विमल आलोक जासु थलि ही मुद मंगलकारी।
चन्द नवल सुखधाम सोइ नभ मे निजकर विस्तारी॥
कुमुदिनि पूरन काम महा छविधाम निशा को स्वामी।
मधुकर गन हुल्सावन जन-मन भावन शुचि नभगामी॥
गहन विपिन सम गगन तासु वरवीर केसरी भारी।
केसर वर विखराइ चन्द्र घूमत है वनि वनचारी॥
तम आखेट करत है डोलत सो लगि के भयभाजे।
मनु श्रम युद्ध करत ते उपज्यो सो तारागन राजे॥
देव गोप जन मह्यो मही सम छीर सिन्धु चितलाई।
नव नवनीत अंश उडि लाग्यो पै अम्बर छवि छाई॥
प्रकृति देवि निज लीला कन्दुक विधा किये कलवेली।
दियो उछाल गगन महँ राजत सो करिखे रँगरेली॥
नील गगन वर कुन्जर को यह सोहै घण्टा भारी।
ध्वनि तासो नलिनी विकास लहि मधुकर को गुंजारी॥
उज्ज्वल नव घन नील गगन महँ चन्द अमन्द प्रकासी।
राजै जिमि नदनन्द गले मे कौस्तुभ शुचि सुखरासी॥

चित्राधार ॥६१॥

श्याम सलोने गगन हृदय महँ चन्द महाछवि पावै।
श्याम सुंदर हिय मनु व्रजबाला प्रेम बिम्ब दरसावै॥
शून्य हृदय विरही को तामें प्रिया बदन सुख देवै।
तैमहि शून्य विशाल गगन महँ चन्द हिलोरे लेवै॥
राजत सुन्दर चन्द अमन्द सुअक महा छविधारी।
चन्दवदनि के भाल विन्दु सुख सदन सुज्यो मनहारी॥
राका निशि ललना को सुन्दर कै कपोल मनभावै।
अक तासु तिल रूप धारि अति माधुरता मरसावै॥



इद्र-धनुष

लखहु नील सित असित पीत आरक्तिम शोभा।
मिलि एकहि सँग अद्भुत प्राची मे मन लोभा॥
छितिज छोर लो कोर दाबि धनुपाकृति सोहै।
सन्ध्या को आलिंगित वह सबको मन मोहै॥
काञ्चनीय निज करन डारि भूमण्डल ऊपर।
पश्चिम दिशि को जात लखहु यह भानु मनोहर॥
इत प्राची मे धनुप लखायो रँग अनुपम री।
भेंट देत जनु भानुहि रतनन गगन जौहरी॥
नन्दन यानन विहरण शील अप्सरागन को।
सूखत पट वहु रग हरत है जे मुनिमन को॥
किधौ गगन तारकस तानि वहु रग तार को।
फेरत तिन पर रग सुघर अनगिनित वार को॥
पावस घनहिं विदारन हेतु लियो जिमि दिनकर।
पश्चिम दिशि को गये गगन मे धनुप रविकर॥
किधौ सघन घन को कमान है अति सुन्दर यह।
जेहि छिपाइ पुनि साधि चलावत वारि वान यह॥
पावस ऋतु को विजय वैजयन्ती कै फहरत।
नवल चितेरो सब रगन को लिखि जनु विहरत॥
किधौ भानु के सप्त अश्व की है वल्गा यह।
किधौ मेघ-वाहन वाहन पै धरे धनुप यह॥



कवि नियोजित सुन्दर कल्पना।
जब धरै प्रतिमा छवि अल्पना ॥
जलद माल तरंगिनि धार मे।
प्रविसि कूलन और पहार मे ॥
तरल वीचि निनादन मे कढ़ै।
प्रकृति के मधुराक्षर को पढ़ै ॥
करन व्यक्त चहै वहि भाव को।
पर न पावत कोउ उपाव को ॥
तिमि करो तुम केलि अमन्द सो।
हृदय मे करिके छल छन्द सो ॥
तदपि नाहि कवौ दरसात हौ।
प्रगट होन चहौ छिपि जात हौ ॥
गगन सो बिन अन्त गँभीर हौ।
जलधि सो तुम नीरद नीर हौ ॥
बहुल नक्र - कुलाकुल भी रहौ।
तदपि लेहु उसास न धीर हौ ॥
कबहुँ बह्नि विलोडित होय के।
धरत धातुहि ज्यो गिरि गाय के ॥
तिमि रहौ मनहो मन रोय के।
सब विषाद बिसारहु सोय के ॥
निज लहे मृगनाभि सुगन्ध सो।
मृग फिरै बन मे मद अन्ध सो ॥
(कुसुम सौरभ जानि) निराश ह्वै।
पुनि सुधारत भूल उदास ह्वै ॥
तिमि लहे निज सौरभ मोद मो।
कछुक खोजत काहि विनोद सो ॥
पुनि रहौ धरि कै तुम मौन को।
तुरत त्यागत हौ भ्रम गौन को ॥
कल निनादिनि धीर तरंगिनी।
जबहि गावति है रस रंगिनी ॥
तुम मिलावत बीन तबै चहौ।
कोउ सुनै तब तो चुप ह्वै रहौ ॥

सुमन देखि खिले खिल जात हौ।
अलिन मे तुरतै मिल जात हौ॥
कलिन खोलत हौ रस रीति सो।
पर न गूजत हौ नव नीति सो॥



विस्मृत प्रेम

अभिनवेन्दु कला दरसाति है।
सुखभरी विमला अधराति हे॥
सब लखात वहै छबि पूर ह्वै।
तदपि क्यो हिय है चकचूर ह्वै॥

सबहिं विस्मत सिन्धु तरग मे।
प्रणय की लिपि धोइ उमग म॥
यदपि उज्ज्वल चित्त कियो निजै।
तदपि क्यो नहिं राग अजों तजै॥
हिय कहो तुममे कहँ बानि है।
नहिं बिसारत जो निज आनि है॥
सुमेहदी जिमि ऊपर है हरी।
अरुणिमा तउ भीतर है भरी॥
शुचि समीरन सौरभ पूर को।
परसि चेतत कौन सुदूर को॥
कमल कानन के मकरन्द को।
विमल आनन पूरन चन्द को॥

प्रकृति की सुखमा लखते मुदा ।
सुख समूह जुरे रहते सदा ॥
विमल तारन की लखि ज्योति यो ।
तम विभास कहो अब होत क्यो ? ॥

कुसुम पे लखि मञ्जु विकाश को ।
भ्रमर गूजत है लहि आश को ॥
हृदय अस्फुट गूजत क्यो कभी ?
लखत फूल सुकौन कहो अभी ॥

घन तमावृत शून्य आकाश सो ।
हिय भयो यह हाय निराश सो ॥
तबहुँ रश्मि लखात विभा भरी ।
ध्रुव समान सुकौन प्रभाधरी ?



विसर्जन

तारकागन क्या गगन म हँसत मन्दहि मन्द ।
क्या मलिन कर कान्ति ह्वै ये धावते ही चन्द ॥
रे निलज्ज न लाज तोहिं विचारि के यह आज ।
जौन दशन म तिहारे मिल्यो है सुखसाज ॥
सौ सबै ही मलय-मारुत-सग दीन उडाय ।
फूल है अवशेष सौरभ-हीन कोमल काय ॥
क्यो कमलिनि कुञ्ज पुञ्ज पराग सरवर माहिं ।
घोरि के सुरभित करो जल कौन हित चित चाहि ?
सो न वेगवती नदी अब हाय, हिय यह मान ।
जो करेगी बात वीचिन के तुम्हारे कान ॥
हाय, मृगतृष्णा भ्रमावत रह्यो जो चहुँ लेरि ।
सो चमक हूँ वालुका-कण धारिहै नहिं हेरि ॥
सबहिं विस्मृति कियो हे प्रिय ! चन्द्रिका-निधि माहिं ।
कोकिले ! कहु कोन कहिबे चेतिहो अब नाहिं ॥
यदपि है भूलन चहति चित चैति के गुन गाथ ।
तदपि भूलहिं चेतिहै चित चेति पूरब साथ ॥
वा मधुर तम माहिं जौन प्रकाश ते तुम चन्द ।
चित्तरञ्जन करत ताको काज नहिं अब मन्द ॥
जाहु विस्मति अस्त शैल निवास को चित चाहि ।
शान्ति की नव अरुण कान्ति प्रकाशिहै हिय माहिं ॥



राते नैन कीन्हे तू कहा ते मदमाते पिक,
सीखी यह बातें नेक धीर धरिके कहो ॥
सुनत न और की गुनत कछु और ही,
'प्रसाद' कौन बात जो अधीरता इती गहो ॥
किंसुक विसेखि कचनार को निरेखि तेहि,
डार बैठि ऐठि कौन रगराते ह्वै रहो ॥
हेरौ मलयानिल, बसन्तहि को टेरौ हौ,
लगाये धुन कौन की, कहो तो कौन को चहो ॥

कौन सुख पाय टक लाय अहो चातक यो,
घन ओर देखत सबै सुधि बिसारि कै ॥
दीन देखि दया जोगि जानि के कबौ तो वह,
एक दया दीठि सम बूँद देहै डारिकै ॥
सोऊ ना पिघलिहै पखान बनि सीपी हिये,
मोती जानि राखिहैं 'प्रसाद' निरधारि कै ॥
फारिकै निकरिहै तऊ वा बेधो जाइहै, ना
फल कछु पाई है यो प्रीति को पसारि कै ॥

सीचे जौन प्रेम सो प्रमोद ताके उर होत,
सौरभ उदोत अति सुन्दर हो नेम के ॥
परम पुनीत परिमल के निकेत जासो,
सीतल है हीतल 'प्रसाद' अति छेम के ॥
सिरिस सुमन सुकुमार तुम जैसे वैसे,
भ्रमर विनोद मे घरैया नव नेम के ॥
कल कुसुमाकर के केवल रतन तुम,
कानन मे पुय पूर पोखे पुन्ज प्रेम के ॥

सरिता सुकूलन मे तपसी बने से तरु,
सरल सुभाव खडे हृदय उदार ते ॥
छाया देत काहू को पथिक जौन तापित है,
तीछन दिवाकर ते दुखित दवार ते ॥
नवल प्रमोद सो करत हिय मोद मय,
सुन्दर सुस्वादु फल देत निज डार ते ॥
स्वारथ मे मूढ नर थोडे निज लाभ हेतु,
तऊ ताहि काटत है कुमति कुठार ते ॥

फेरि रुख जात हौ कहाँ को प्रिय नेक इतै,
चितै चित चैन देहु लेहु सुधि आओ तो ॥
अमल कमल हिय प्रेम बिन्दु सिञ्चित है,
आसन सुबैठि के 'प्रसाद' सरसाओ तो ॥
चरन कमल इन नैन जल धारन ते,
सीचिहौं तिहारे अब हिय हरखाओ तो ॥
नाहिं तरसाओ नेक दया दरसाओ आओ,
वेगि प्रानप्यारे नेक कण्ठ सो लगाओ तो ॥

पुलकि उठे हैं रोम-रोम खडे स्वागत को,
जागत हू नैन बम्नी पै छवि छाओ तो ॥
मूरति तिहारी उर अन्तर खडी है तुम्है,
देखिवे के हेतु ताहि मुख दरसाओ तो ॥
भरिषै उछाह सो उठे है भुज भेटिवे को
भेटिबे को ताप, क्यो 'प्रसाद' तरसाओ तो ॥
हिय हरखाओ प्रेम रस वरसाओ आओ
वेगि प्रानप्यारे नेक कण्ठ सो लगाओ तो ॥

अलक लुलित अलि अवली समान वनि,
हिय के रसाल सुधारस वरसाओ तो ॥
प्रेम परिमल-परिपूरित दिगन्त करि,
किसलय अगुली सो निकट बुलाओ तो ॥
खिलैगो हृदय-बन नव राग रञ्जित ह्वै,
परसि 'प्रसाद' यो वसन्त बनि आओ तो ॥
कोकिला कलित कण्ठ प्रीति राग गाओ आओ,
वेगि प्रानप्यारे नेक कण्ठ सो लगाओ तो ॥

रञ्जित कियो है कुसुमाकर ने कानन को,
नैन अनियारे अरुनारे जनि कीजिये ॥
कीजिये जो रञ्जित तो जीवन अधार! मेरे,
हिय अनुराग भरि नवरग भीजिये ॥
प्रानन के प्यासे क्यो भये हो इतो रोप करि,
भरि-भरि प्याले प्यारे प्रेम रस पीजिये ॥
दीजिये 'प्रसाद' सुख सौरभ को लीजिए जू,
नेकहू तो चित्त मे दया को ठौर दीजिये ॥

आवत हो अन्तर मे अन्तर रखत तऊ,
जपत निरन्तर हो अन्तर न जानिबे ॥
नैनस बसत काहे कसत कसौटी, यहा
सबे खरे सुबरन परें अनुमानि के ॥
बैनन कहत हिये चैन न परत, तुम
सैनन 'प्रसाद' क्यो कहत अनजानि के ॥
पञ्च नहि जानो, हौं विपञ्ची वृक्ष देखौ, किन
राग है बजत गुनी लीजो पहिचानि के ॥

देखिके अमल मुखचन्द हिय भीतर हू,
अतिहि अमन्द कहो होत उजियारो क्यो ?
नूपुर मधुर धुनि सुनत विहाल होत,
चचल कुरग मन चौकडी बिसारो क्यो ?
कौन सो भरा है जादू नैनन की सैना म,
चैन छन नाहि जात गात ना सभारो क्या ?
देखत ही ताहि पहिचानो सो परत, कहो
बरबस ही लागत 'प्रसाद वह प्यारो क्यो ?

मानस की तरल तरग उठे रग भरी,
पाइके बयार सुख सार स्वच्छ जल पर ॥
रूप के प्रभाव भरि आमोद अपार खिल्यो,
हृदय स्वभाव मकरन्द ले अमल पर ॥
सीचत युगल दृग-कुम्भ सुधा-वारन ते,
पूजत 'प्रसाद' प्रेम पूरन अचल पर ॥
को हो तुम आइके हृदय म निवास कियो,
आसन जमायो जनु कमला कमल पर ॥

फूलें भले फूल करि कोटिन उपाय निज,
वदन दिखाय दरसावें अभिमान को ॥
मल्यज भ्रमर फिरत चहूँ ओर तापे,
माली नित फेरा करे करि गुण गान को ॥
एरी कली भली हो छिपाये रहो अग,
मकरन्द अभिलाष को करत पहिचान को ॥
ये तो सब आप ही फिरेंगे तेरे आस पास,
आप ही ते ग्रहण करत सनमान को ॥

करुणानिधान सुन्यो तेरी यह बान,
निज दीन दुखियान पै तिहारी कृपा कोर है ॥
तऊ ये पुकारत हैं आरत भये से क्या,
सँवारत न काज निज देखि दीन ओर है ॥
साँचे ही भये हो नाथ पाहन के, जौन तुम्हे
दीनन की आह न हिलावै करि सोर है ॥
करुणा-समुद्र जो पै तरल तरंग करि,
तुमही डुबाओ तो बताओ कौन जोर है ॥

पाइ आंच दुख की उठत जब आह,
सब धीरज नसाय तब कैसे थिर होइये ॥
पावत न और ठौर तुम्हरी सरन छोड,
रहे मुख मोड तुम, काके सौहैं रोइये ॥
छाय रही आह तिहुँ लोकन में मेरे जान,
तेरी करुना ते ताहि कैसे करि गोइये ॥
हिलि उठै हिय जहाँ आसन तुम्हारो,
तऊ तुम ना हिलत ऐसे अचल न होइये ॥

आसुन अन्हात तिन्हैं आसुतोष देत,
जो पुकारत निरीह, तबै बेग उठि धावते ॥
आरत अधर्मी अति कूर जो पतित होत
दुखके समुद्र, तिन्हैं आयके बचावते ॥
अतिही मलीन जिन्हे आशा कछु नाहिं,
करि करुना कटाक्ष हँसि हेरो तिन्हैं चावते ॥
दीन-दुख देखिबे की परी तुम्हे बान,
दीनबन्धु तुम्हे नाहक खुसामदी बतावते ॥

भूलि भूलि जात पदकमल तिहारो कहा,
ऐसी नीच मूढ मति कीन्ही है हमारी क्यो ?
धायके धसत काम क्रोध सिन्धु संगम मे,
मनको हमारे ऐसी गति निरधारी क्यो ?
झूठे जग लोगन मे दौरि के लगत नेह,
साँचे सच्चिदानँद मे प्रेम ना सुधारी क्यो ?
विकल विलोकत, न हिय पीर मोचत हो
एहो दीन-बन्धु दीनबन्धुता बिसारी क्या ?

चित्राधार ॥ ७७ ॥

मिलि रहे माते मधुकर मनमोद भरे,
खिलि रहे सुमन सुगन्ध सरसाये, देत ॥
सीरी कछु भीनी-सी समीर हू चलत जौन,
मिलित पराग ह्वै गुलाल धगराये देत ॥
बरखा-सी कीन्ही है बसन्त मकरन्द बिन्दु,
कमल-कली की पिचुकारियाँ चलाये देत ॥
बैठिके रसालन की डालन पै कूकि-कूकि,
तैसी पिकपाति हू धमार धुन गाये देत ॥

भले अनुराग मं रगे हो प्रियप्रान आज,
ऐसो अनुरूप दरसन मिल्यो भाग सो ॥
प्रेम-कुञ्ज भीतर चलो तो, हृदयासन पै
बैठो नेक रुखे ह्वै भरो नहिं विराग सो ॥
गालियाँ सुनोगे जापै आज याते सचित ह्वै,
तोरो न मनामुकुल माल काचे ताग सो ॥
अकभरि भेटा तो 'प्रसाद' परिपूरित हो
लीलाही ते मन मरुभूमि खिलै बाग सो ॥

आवे इठलात जलजात पात को सो बिन्दु,
कैधौं खुली सीपी माहि मुक्ता दरस है ॥
कढी कज-कोश ते कलोलिनी के सीकर सो,
प्रात-हिमकन-सो, न सीतल परस है ॥
देखे दुख दूनो उमगत अति आनद सो,
जान्यो नहिं जाय यहि कौन सो हरस है ।
तातो-तातो कढि रूखे मन को हरित करे
एरे मेरे आसू ! तैं पियूष ते सरस है ॥

प्रेम की प्रतीति उर उपजी सुखाइ सुख,
जानियो न भूलि याहि छलना अनग की ॥
खैचि मनमोहन ते काट-पेंच कौन करे,
चली अब ढीली बाढ प्रेम के पतग की ॥
मूँदे हम खोलें किन छाइ छबि एक तैसी,
प्यासी भरी आखें रूप सुधा के तरग की ॥
उनतै रह्यो न भेद बिछुरे मिल मे,
भई, बिछुरनि मीन की औ' मिलनि पतग की ॥

बदन विलोकै ठाढ्यो विधु बढ्यो व्योम-बीच,
छबि-किरनो की जनु फैली जाल-डोरी है ॥
अनिलहु अन्तरिच्छ ह्वै कै खोलै घूँघट को,
तेरे रूप सो तो मनही की बरजोरी है ॥
कलिया पराग ला गुलाल बगराये देत,
ढारत प्रकृति मकरद बैठि भोरी है ॥
प्रेम-रग बोरि हसि हेरिलै री मेरी लली !
जिय ना जराव जरी जाय रही होरी है ॥

घोर उठे घन रात अँधेरी,
घरे हठ मारुत है पुरवैया
छाडिके कूलहि मातु को अक,
सरै भवसिन्धु मे होत खेवैया ॥
पाय 'प्रमाद' तिहारो सबै सुखी,
होत तुही पतवार धरैया ॥
नाथ तिहारे सहारे चलावत,
लक्ष्य तुही यह जीवन-नैया ॥

जो तुमसे कियो नेह अहो,
सब लोक कहावति जानि बिसारी ॥
धायो रुखाई यहो परिणाम,
लह्यो सब सीखके प्रीति तुम्हारी ॥
'लोग गवाइ के पावत हैं'
यह साँची कहावत आगे उतारी ॥
आपनी देखि बड़ाई अहो,
अब माफ करो यह चूक हमारी ॥

भई ढीठ फिरे चल चञ्चल-सी,
यह रीति नही इन की है नई ॥
नई देखि मनोहरता कतहूँ,
थिरता इनमे नहिं पाई गई ॥
गई लाज सम्प-सुधा चखि के,
इनकी न तबौं कुटिलाई गई ॥
गई खोजत ठौर-ही-ठौर तुम्हें,
अँखियाँ अब तो हरजाई भई ॥

अहो नित प्रेम करत दिन गयो।
देखत रह्यो जाहि मन भायो भयो यहै नित नयो॥
कमल वकुल मन्दार जहा ही कछुक कुसुम रस भयो।
सौरभ मिल्यो जहाँ मनमोहन मनमधुकर रमि गयो॥
पाहनहूँ मे देखि चिकनई मन यह बिछलि गयो।
कलनादिनी देखि सरिता तेहि मे हू बहि गयो॥
भटक्यो नही भँवर के भयते दूनो साहस भयो।
कुसुमित साखा देखि भुलान्यो तापर बैठि गयो॥
कटक की कठिनाई हूँ का मूरख विस्मृत कियो।
चढ्यो कढ्यो सबभाति छिद्यो पुनि बिध्यो नही हटिगयो॥
तो यो आनँद पायो याही मेँ सब सुख को ढयो।
सहने परे जऊ ये दुख बहु तऊ न साहस छयो॥

• • •

देखि निठुरता प्रेमास्पद की पीछे पगि जनि दयो।
प्रेम 'प्रसाद' समुझि यहि रे मन हिये लगाय लयो॥

दियो भल उत्तर ह्वै के मौन।
कह्यो सबै मन दूत समुझि के जो तुम सोच्यो तौन॥
रह्यो नही बोलन हूँ लायक तासो बोल्यो जौन।
ताको लाज निवाह्यो चुप ह्वै कहो आचरज कौन?

ढीठ ह्वै करत सबैही पाप।
जानत सब करुना निधान हो, हरिहौ सब सताप॥
होय दुखी इन पाप करन से तुमको जाय पुकरिहै।
करुनानिधि फल देइ सकत नहिं, उनहूँ को दुख हरिहैं॥
कमलहिं चोट देत हैं मधुकर, तिन पर करुना करिकै।
मनमोहन मकरद मधुर ते तिन्हे देत है भरिकै॥
हे पावन! पतितन के सरवस! दीन जनन के मीत।
सब बिसारि दुगुन निज जन को, देहु चरन मे प्रीत॥

पुन्य औ पाप न जान्यो जात।
मन तेरे ही काज करत हैं और न उन्हे मिरात॥
सखा होय सुभ सीख देत कोउ काहू को मन लाय।
सो तुमरोही काज सँवारत ताको वडो वनाय॥
भारत सिंह शिकारी वन-वन मृगया को आमोद।
सरल जीव की रक्षा तिनसे होत तिहारे गोद॥
स्वारथ औ परमारथ सवही तेरो स्वारथ मीत।
तव इतनी टेढी भृकुटी क्यो ? देहु चरण मे प्रीत॥

छिपि के झगडा क्या फैलायो ?
मन्दिर मसजिद गिरजा सव म खोजत सव भरमायो॥
अम्वर अवनि अनिल अनलादिक कौन भूमि नहिं भायो।
कढि पाहनहूँ ते पुकार वस सवसो भेद छिपायो॥
कूवा ही से प्यास बुझत जो, सागर खोजन जावैं—
ऐसो को है याते सवही निज निज मति गुन गावैं॥
लीलामय सव ठौर अहो तुम, हमको यहै प्रतीत।
अहो प्राणधन, मीत हमारे, देहु चरण मे प्रीत॥

ऐसो ब्रह्म लेइ का करिहैं ?
जो नहिं करत, सुनत नहिं जो कछु, जो जन पीर न हरिहैं॥
होय जो ऐसो ध्यान तुम्हारो ताहि दिखावौ मुनि को।
हमरो मति तो, इन झगडन को समुझि सकत नहिं तनिको॥
परम स्वारथी तिनको अपनो आनँद रूप दिखाओ।
उनको दुख, अपनो आश्वासन, मनते सुनौ सुनाओ॥
करत सुनत फल देत लेत सव तुमही, यहै प्रतीत।
वढै हमारे हृदय सदाही, देहु चरण मे प्रीत॥

और जव कहिहैं तव का रहिहैं।
हमरे लिए प्रान प्रिय तुम सो, यह हम कैसे सहिहैं॥
तव दरवारहु लगत सिपारस यह अचरज प्रिय कैसो ?
कान फुकावै कौन, हम कि तुम ! रुचे करो तुम तैसो॥
ये मन्त्री हमरो तुम्हरो कछु भेद न जानन पावैं।
लहि 'प्रसाद' तुम्हरो जग मे, प्रिय जूठ स्वान को जावैं॥

नाथ नहिं फीकी परै गुहार।
विश्व विदित यह विरद तुम्हारो, मग मे सुनत पुकार ॥
हौ जवही लौ कहो सुनो इतने ही मे मव बात।
और दूसरो कहन न पावै नहिं रहिहौ पछितात ॥
नाव हिलै नहिं तुम्हरी बोझी दृढ धारो पतवार।
बहै बयार जगत मे तेती, खेइ लगाओ पार ॥
शक्तिमती-करुणा करि राखो रहे न कतहूँ हार।
तेरो यह 'प्रसाद' करुनानिधि, तुमही राखनहार ॥

मधुप ज्यो कज देखि मँडरावे।
वैसहि क्यो न होत मन-मधुकर चरण कमल चितलावै ॥
सुख मकरद स्रवत जहँ नितही जहँ नहिं दु ख तुषारा।
आनँद दिनकर-किरण-कलाते मदा जहा उजियारा ॥
सो विहारथल तजि मदमाता अनत कहूँ नहिं जावे।
तव 'प्रसाद' मकरन्द छाकि के भूलि सबै दुख जावे ॥

मेर प्रेम को प्रतिकार।
कीजिये जनि अहो प्रियतम! हृदय! प्राणाधार ॥
हौ करौ सवस्व तजि तुव पद कमल मे प्रीत।
तुम रहो अनखे अनोखे! हे निठुर मम मीत ॥
भुज उठाइ तुम्हे भरन हित अक म जब प्रान।
हम चलै, तुम हटो पीछे, करत मुरि मुसुक्यान ॥
हम करैं अनुसरण तुम्हरो, तुम चलो मुख फेरि।
पद सरोज 'प्रसाद' रज तुम देहु सिर पर गेरि ॥

प्रिय स्मृति कञ्ज मे लवलीन।
रहहु मन मधुकर हमारे, जिमि विमल जल मीन ॥
गहहु चन्द्र चकोर गति, अपरूप छवि सर न्हाय।
मिलि लखो घनश्याम दामिनि सो हिये हरषाय ॥
पियें हिय भरि रूप रस ये नैन प्यासे आज।
श्रुति सुधा सगीतमय हो शान्ति के सुखसाज ॥
नित्य मगलमई मूरति हिय पटल मे देखि।
तृप्त होय 'प्रसाद लहि यह प्राण प्रेम बिसेखि ॥

अरे मन अबहूँ तो तू मान ।
देखि लिए जग के नेही बहु औरन करु अनुमान ।
इनकी रीति यही सब दिनते इनको क्हा प्रमान ॥
जेहि को चित दै चाह्यो चख भरि जेहि देखन की बान ।
सो तो आधेहू दृग तोको देखन मे सकुचान ॥
अब जनु भूलु मधुर बातन म ये सब जग के स्वान ।
प्रभु 'प्रसाद' लखु उर अन्तर मे वाही को करु ध्यान ॥

आज तो नीके नेकु निहारो ।
पावस के धन तिमिर भार मे बीती बात बिसारो ॥
चमकि गयो जो चपला सम यह प्रियतम बिरह तिहारो ।
ताहि बहाओ रस बरषा मे, हे धन आनँद वारो ॥
चातक लो नित रटत रहत हम, हे सुन्दर पी प्यारो ।
हरित करो यह मरुसम मो मन, देहु 'प्रसाद' पियारो ॥

यह तो सब समुझ्यो पहले ही ।
नीच निकाम, निलज, बनि जगमे होय तुम्हारो नेही ॥
ताहू पर करि प्रेम तिहारो तुमहूँ को नहिं पावै ।
ठौर ठौर दिखलावो, प्रियतम ! मन लालच मे धावै ॥
छुटिहै इन उपचारन नाही प्रेम तुम्हारो मेरो ।
स्याम पुतरिया देखि तुम्हारी और ओर नहिं हेरो ॥
मधुरी हँसी, भौंह टेढी मव तव पुलकित ह्वै सहिहौं ।
तुव चरनन म लोटि, जगत के सीस पायँ दै रहिहौ ॥



प्रेम-पथिक

प्रेम-पथिक

सन्ध्या की, हेमाभ तपन की, किरणें जिसको छूती हैं
रञ्जित करती है देखो जिस नई चमेली को मुद से
कौन जानता है कि उसे तम मे जाकर छिपना होगा,
या फिर कोमल मधुकर उसको मीठी नींद सुला देगा ?

विमल मधुर मलयानिल के मिलने से खिल जाती है, जो
हरे पत्र, कोमल किसलय मे अपना अङ्ग छिपाती है,
हरी डाल के सुखद हिंडोले म परिवर्धित होकर जो
अकपट विकसित भाव दिखाती है वैसी आनन्दमयी,
सरल विलोकन मे जिसके आन्तरिक प्रेम है खिला हुआ
निर्निमेष हो हँसती जैसे तन-मन की सुधि भूली-सी,
उस नैसर्गिक सुरभिपूर्ण, उस रूपवती का क्या कहना,
जिसे कि प्रकृति मालिनी बनकर अपने हाथ सजाती है।
अहा, चमेली वही, बताओ कैसे सुख को पावेगी
तोडी जाकर निज डालो से, चिरसंगिनी कली-कुल से—
बिछुडायी जाकर, क्या फूल चँगेर सजावेगी ? किसका ?

जिसे न कुछ परवाह् कली की, उसे तोडकर रखता है
सेज समीप, रात को खिल खिलकर सुख देती जो उसको
जिसका शयनागार सजा है, पुष्पपात्र है बहुत धरे
किसी एक म यही चमेली पडी म्लान हो जावेगी।
जो भर-भर कर सौरभ देकर आकर्पित न किया मन का
बिना स्पश के ही कुम्हिलाकर अपना समय बितावेगी।
अथवा कौन बतावे कैसा होगा इसका फल इसको,
किसी स्वार्थी माली से तोडी जाकर, गूँथी जाकर—
अन्य कुसुम-कलियो के साथ बनावेगी सुदर माला
टके मोल बिक जावेगी। जब सुदर सौरभ ले लेगा,
दूर करेगा उसको, अपने गले कभी न लगावेगा
कौन जानता है या, यो ही पडी रहेगी डाली म
तारा-सा टक लगा रखेगी फूलेगी मन-ही मन म
शून्य माग म विचरणकारी पवन कभी हाँ छू लेगा।
अभिलापा-मकरन्द सूख जावेगा, मुरझा जावेगी,
जिस धरणी से उठी हुई थी उस पर ही गिर जावेगी।

लीलामय की अद्भुत लीला किससे जानी जाती है
कौन उठा सकता है धुँधला-पट भविष्य का जीवन मे
जिस मदिर मे देख रहे हो जलता रहता है कपूर
कौन बता सकता है उसमे तेल न जलने पावेगा
यह भी नही जानता काई वही महल, आशामय के
विशद कल्पना मदिर-सा कब, चूर चूर हो जावेगा,
कुटिल काल के किस प्रभाव से फिर क्या-क्या बन जावेगा
भला जानते हो क्या कानन-कोने म जा बना हुआ
द्रुमदल आच्छादित कुटीर है, जिस पर लतिका चढी हुई
ईश दया-सी छाई है, उसम सामग्री एक नही
सब अभाव के रहते भी क्या कोई वस्तु नही घटती ?
हा, अभाव का अभाव होकर आवश्यकता पूरी है।

सुदर कुटिया वह कैसी है रम्यतटी मे सरिता के
शात तपस्वी-सी वल्लरिया के झुरमुट से घिरी हुई।
फैल रहे थे कोमल वीरुध हरे-हरे तृण चारा ओर
जैसे किसी दुग की खाई मे श्यामल जल भरा हुआ

स्वच्छ भाग था रुका जहाँ था हरी मालती का तोरण
घिरी वहाँ थी नई चमेली की टट्टी प्राकार बनी
कानन के पत्तो, कोमल तिनको की उस पर छाया थी
मृगछाला, कौशेय, कमण्डल, वल्कल से ही सजी रही
शात निवास बनी थी कुटिया और रहा जिसके आगे
नवल मालती-कुज बना दालान, अनोखे सज धज का।

ढलते हुये तृतीय पहर के तपन मधुर हो जाते है
उसी तरह इस मानव की अब शात अवस्था कैसी है ?
'पच्चीसी' के प्रबल भाव अब नही, न वृत्ति अदम्य रही
स्निग्ध भाव मुखमण्डल पर क्या स्वच्छ सुधा बरसाता है !
है बैठा मालती-कुज मे, और बडा आश्चर्य अहो
एक तापसी भी है बैठी दुख पददलिता छाया-सी।
कँपते हुए, रुके गदगद स्वर से बोली तापसी—"सुनो,
भद्र पथिक ! अब रात हो गयी, पथ चलने का समय नही
पण कुटीर पवित्र तुम्हारा ही है, कुछ विश्राम करो
फल, जल, आसन सभी मिलेगा जो प्रस्तुत है मेरे पास
और तुम्हारी शाति न कोई भङ्ग करेगा तृण भर भी।
आत्मकथा हो मुझे सुनाने योग्य तो न वञ्चित करना
सौम्य अतिथि को पाकर फिर यह निशा सहज मे बीतेगी
हा प्रभात होते ही अपने पथ पर तुम लग जाओगे
और दुखिनी यही अकेली ज्यो-की त्यो रह जावेगी।"
कहा पथिक ने—"धन्यवाद है, ठीक कहा, अब समय नही
और लालसा लगी हृदय मे गाथा सुनूँ, सुनाऊँ मै
इससे अच्छा यही कि रजनी आज बिताऊँ कही यही।

प्राय लोग कहा करते ह—"रात भयानक होती है—
घोर कर्म भीमा रजनी के आश्रय मे सब होते हैं।"
किन्तु नही, दुर्जन का मन उससे भी तममय होता है
जहाँ सरल के लिए अनेक अनिष्ट विचारे जाते हैं।
जिसकी सकीर्णता निरख, अन्धकार भी घबराता हो
उस खल-हृदय से कही अच्छी होती है श्यामा रजनी

जहाँ दुखी, प्रेमी, निराश, सब मीठी निद्रा म सोते
आशा-स्वप्न कभी भी तो तारा-सा झिलमिल करता है
चिर विछोहियो को क्रीडा-वश-होकर निद्रा-बीच कभी
कुहक-कामिनी मिला दिया करती है। इतना क्या कम है ?
अस्ताचल जाते ही दिनकर के, सब प्रकट हुए, कैसे
अन्तरिक्ष म गुप्त रहस्य समान अहा धीरे धीरे
स्पष्ट, चण्ड-शासन मे जैसे असल अवस्था खुले नही।
प्रियदशन होकर जब मन्त्री यथाविहित सब सुनता है
हृदय खोलकर दिखलाने को कौन प्रजा प्रस्तुत न हुई ?
जैसे-जैसे तारागण ये गगन-बीच प्रकटित होने
वैसे नई चमेली भी अपनी डाली मे खिलती थी।
परिमलवाही शात समीरण विमल मधुर मकरन्द लिये
चला आ रहा नये पथिक की तरह कुटी की ओर अहो
होकर अब निश्चिन्त पथिक तो बैठ गया समतल थल पर
किन्तु पवन वह लगा उलझने, बार-बार बल खाता था
जहा-जहाँ कलियो को पाता उन्हे हिलाता जाता था।

ताराओ की माला कबरी म लटकाये, चन्द्रमुखी,
रजनी अपने शाति-राज्य-आसन पर आकर बैठ गई।
तेजमयी तापसी कुटी से निकल, कुञ्ज मे आ बैठी,
चन्द्रशालिनी रजनी थी चुपचाप देखती दोनो को।
कहा तापसी ने—"कहिये अब भद्र पथिक, अपनी गाथा—
क्यो यह वेश, छोडकर घर को क्यो वन-वन मे फिरते हो ?'

"शुभे। अतीत कथाएँ यद्यपि कष्ट हृदय को देती है
तो भी वज्र-हृदय कर अपना, उसको तुम्हे सुनाता हूँ।
किन्तु समझना इसे कहानी इस पर कुछ न ध्यान देना
कष्ट न देना अपने मन को"—कहा पथिक ने गद्गद् हो—
"क्योकि हृदय कोमल होता है वनिताओ का, बातो मे,
करुणा-प्लावित होकर दृग झरने को भरने लगता है।

ऊषा की पहली किरणो के साथ स्मरण करता हूँ मैं
उस छोटे से स्वच्छ नगर को जहाँ जन्म भू थी मेरी,

जिससे लगे सुमन कानन में कोमल किसलय प्रस्तुत थे
उन पथिको को पखा झलते, थके हुए जो आते थे।
सच्चरित्र, सन्तुष्ट गृहस्थो की थी जन्मभूमि नगरी
दया स्रोत-सी जिसे घेरकर बहती थी छोटी सरिता।
गोचरभूमि रही विस्तृत नगरोपकण्ठ म हरी भरी
दुग्धशालिनी गायो का जब झुण्ड दिखाई पडता या
तब निरोगिता को प्रत्यक्ष विचरते लोग निरखते थे।
कृषक समूह जहा सन्ध्या को ग्राम्य गीत सुख से गाते।
वे सीमा के खेत शस्य से श्यामल हो लहराते थे।

नगर-बीच मे पण्यवीथिका भरी दिखाई देती थी
क्रय-विक्रय की धूमधाम से जनरव से उद्घोषित थी
जन-स्रोत-सा राजमार्ग चलता ही रहता था दिन-रात
सब प्रफुल्ल थे, अपने-अपने काय्य परिश्रम से करते,
हा मित्रो के मिल जाने पर हँसकर मन से मिलते भी
खेल, तमाशे, पव और त्योहार सभी ये होते थे
और कहाँ तक कहूँ, सदा आनन्द-स्रोत उमडा रहता
इसीलिए—'आनन्द नगर' था नाम पडा उस नगरी का।

'तटिनी के तट पर सुन्दर था एक मनोहर घर अपना
स्वग धरा का, सुदर, जिसमे साथ पिता के रहता मैं।
पास उसी के और एक थे गृहस्थ रहते, सज्जन थे
प्रेम पुत्तली कन्या से खेला करते बूढे होकर।
मेरे पिता रहे उनके परिचित मित्रों मे कौन कहे ?
रहा बडा सद्भाव सदा दोनो मे अच्छी बनती थी।
हम दोनों भी नित्य परस्पर मिलकर खेला करते थे
नदी-कूल मे, कुसुम-कुज मे, ऊषा और सन्ध्या मे भी
खिली चादनी मे खिलते थे एक डाल मे युगल कुसुम।
चकई-चकवे से हम दोनो, रात व्यतीत अलग करते
कीडा कर जब थक जाते तब अपने घर म ले जाते
दोनो ही के जनक। सदा यो ही निज मन बहलाते थे।'
कुछ अज्ञात कारणो से तब पुलकित हो तापसी उठी,
कहा-"पथिक क्या नाम तुम्हारा, यह न कहा तुमने अब तक।"

कहा पथिक ने– 'शुभे ! कथा सुन लो फिर नाम बताऊँगा।
हा, फिर हम दोनो ऐसे ही बहुत दिनो तक मिलते थे
जब कि पिता की जरा अवस्था रोग साथ म ले आई
और हुए वे बहुत दुखी तब सहचर को बुलवा भेजा
पुतली के सब पिता देखकर उन्हे, बहुत ही दुखी हुए।
कहा—'मित्रवर' कहो तुम्हारी क्या आज्ञा है, उसे करूँ।'
कहा पिता ने—'मित्र, देखकर समझ रहे हो सब बातें
तुम्हे सौंपता हूँ अब इसको, इसे पुत्र अपना जानो।'
यो कह मेरा कर उनके हाथो मे देकर सास लिया
कहा उन्होने–'यह तो यो ही है मेरा, हा और कहो
यदि कोई हा काय्य और भी उसे करूँगा सच जानो'
'और नही कुछ, शात चित्त से स्मरण करूँगा अब प्रभु का'
कहा पिता ने प्रमुदित होकर। मित्र पधारे निज गृह का'।

❀ ❀ ❀

कहा मित्रता कैसी बातें ? अरे कल्पना है सब ये
सच्चा मित्र कहाँ मिलता है !–दुखी हृदय की छाया-सा।
जिसे मित्रता समझ रहे हो, क्या वह शिष्टाचार नही ?
मुँह देखे की मीठी बातें, चिकनी चुपडी ही सुन लो।
जिसे समझते हा तुम अपना मित्र भूलकर, वही अभी
जब तुम हट जाते हो, तुमको पूरा मूख बनाता है।
क्षण भर मे ही बने मित्रवर अन्तरग या सखा समान
'प्रिय' हो प्रियवर' हो सब तुम हो काम पडे पर 'परिचित हो
कही तुम्हारा 'स्वाथ' लगा है, कही 'लोभ' है मित्र बना,
कही 'प्रतिष्ठा' कही 'रूप है—मित्र रूप म रँगा हुआ।
हृदय खोलकर मिलनेवाले बडे भाग्य से मिलते है
मिल जाता है जिस प्राणी को सत्य प्रेममय मित्र कही
निराधार भवसिन्धु बीच वह कणधार को पाता है
प्रेम नाव खेकर जो उसको सचमुच पार लगाता है।

"प्रणयाकुर की तरह बालिका, बालक दोनो बढने थे
क्योकि पिता के मरने पर हम पिता मित्र के घर रहते
अभिभावक अब वही हमारे रखते स्नेह सहित मुझको।
नित्य नई क्रीडा होती थी। सुख से था ससार बना।

खेल खेल कर खुली हृदय की कली मधुर मकरन्द हुआ
खिलता था नव प्रणयानिल से नन्दन कानन का अरविन्द
विमल हृदय के छायापथ मे अरुण विभा थी फैली
घेर रही थी नवजीवन को वसत की सुखमय सन्ध्या,
खेल रही थी सुख-सरवर मे तरी पवन अनुकूल लिये
सम्मोहन वशी बजती थी नव तमाल के कुजो मे
हम दोनो थे भिन्न देह से तो भी मिल कर बजते थे—
ज्यो उँगली के छू जाने से सस्वर तार विपञ्ची के।
छोटे छोटे कुज तलहटी गिरि-कानन की शस्यभरी,
भर देती थी हरियाली ही हम दोनो के हृदयो मे
कलनादिनी नवीना तटिनी पूर्ण प्रवाह बहाती थी
प्रेमचन्द्र-प्रतिबिम्ब हृदय मे लेकर वह खेला करती।
व्योम अष्टमी का जो तारो से रहता था भरा हुआ,
उसके तारे भी चुक जाते जब गिनते थे हम दोनो—
सब प्रभात नव जीवन लेकर देते थे हमको उपहार,
मणिशलाक सम प्रथम किरण का गहरे राग रँगी थी जो ।

शीतल पवन लिये अगो को कँपा दिया करती थी जो—
वे जाडे की लम्बी रातें बाता मे कट जाती थी।
नया नया उल्लास कुसुम-अवचय का मन मे उठता था
सन्ध्या और सवेरा दोनो ही प्रकाशमय होता था।
चिढ जाता वसत का कोकिल भी सुन कर वह बोली,
सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासो के सौरभ से,
भद्रे! वे सब बीती बातें कैसे कहूँ, गिनाऊँ मे?

एक दिवस जब हम दोनो ले आये फल अच्छे-अच्छे
अपनी ही फुलवारी से, था एक पहर दिन चढा हुआ,
देखा तो आगन मे था सामान थाल म चादी के
और लोग एकत्र हुए थे, वैसी बातें होती थी।
मैं भी पुलकित होकर दौडा जा पहुँचा चाचा के पास
पूछा उनसे—'यह सब क्या है, क्या कुछ मुझे बताओगे?
उनका मुख गम्भीर हुआ पर एक लगा हँस कर कहने—
'बच्चा! यह फलदान जा रहा है चाचा की पुतली का।'

कहा पथिक ने– 'शुभे ! कथा सुन लो फिर नाम बताऊँगा ।
हा, फिर हम दानो ऐसे ही बहुत दिनो तक मिलते थे
जब कि पिता की जरा अवस्था रोग साथ म ले आई
और हुए वे बहुत दुखी तब सहचर को बुलवा भेजा
पुतली के तब पिता देखकर उन्हे, बहुत ही दुखी हुए ।
कहा—'मित्रवर' कहो तुम्हारी क्या आज्ञा है, उसे करूँ ।'
कहा पिता ने—'मित्र, देखकर समझ रहे हो सब बातें
तुम्हे सौपता हूँ अब इसको, इसे पुत्र अपना जानो ।'
यो कह मेरा कर उनके हाथो मे देकर सास लिया
कहा उन्होने–'यह तो यो ही है मेरा, हा और कहो
यदि कोई हा काय्य और भी उसे करूँगा सच जानो'
'और नही कुछ, शात चित्त से स्मरण करूँगा अब प्रभु का'
कहा पिता ने प्रमुदित होकर । मित्र पधारे निज गृह को' ।

❀ ❀ ❀

कहा मित्रता कैसी बातें ? अरे कल्पना ह सब ये
सच्चा मित्र कहा मिलता ह !–दुखी हृदय की छाया-सा !
जिसे मित्रता समझ रहे हो, क्या वह शिष्टाचार नही ?
मुँह देखे की मीठी बातें, चिकनी चुपडी ही सुन ला ।
जिसे समझते हो तुम अपना मित्र भूलकर, वही अभी
जब तुम हट जाते हो, तुमको पूरा मूख बनाता है ।
क्षण भर मे ही बने मित्रवर अन्तरग या सखा समान
'प्रिय' हो प्रियवर' हो सब तुम हो काम पडे पर 'परिचित' हो
कही तुम्हारा 'स्वाथ' लगा है, कही 'लोभ' है मित्र बना,
कही 'प्रतिष्ठा' कही 'रूप' है—मित्र रूप म रँगा हुआ ।
हृदय खोलकर मिलनेवाल बडे भाग्य से मिलते है
मिल जाता है जिस प्राणी को सत्य प्रेममय मित्र कही
निराधार भवसिन्धु बीच वह कणधार को पाता है
प्रेम नाव खेकर जो उसको सचमुच पार लगाता है ।

"प्रणयाकुर की तरह बालिका, बालक दोनो बढने थे
क्योकि पिता के मरने पर हम पिता मित्र के घर रहते
अभिभावक अब वही हमारे रखते स्नेह सहित मुझको ।
नित्य नई क्रीडा होती थी । सुख से था ससार बना ।

खेल खेल कर खुली हृदय की थली मधुर मकरन्द हुआ
खिलता था नव प्रणयानिल से नन्दन कानन का अरविन्द
विमल हृदय के छायापथ मे अरुण विभा थी फैली
घेर रही थी नवजीवन को वसत की सुखमय सन्ध्या,
खेल रही थी सुख-सरवर मे तरी पवन अनुकूल लिये
सम्मोहन वशी वजती थी नव तमाल के कुजो मे
हम दोनो थे भिन्न देह से तो भी मिल कर वजते थे—
ज्यो उँगली के छू जाने से सस्वर तार विपन्ची के।
छोटे-छोटे कुज तलहटी गिरि-कानन की हास्यभरी,
भर देती थी हरियाली ही हम दोनो के हृदयो मे
कलनादिनी नवीना तटिनी पूर्ण प्रवाह वहाती थी
प्रेमचन्द्र प्रतिविम्व हृदय मे लेकर वह खेला करती।
व्योम अष्टमी का जो तारा से रहता था भरा हुआ,
उसके तारे भी चुक जाते जव गिनते थे हम दोनो—
नव प्रभात नव जीवन लेकर देते थे हमको उपहार,
मणिशलाक सम प्रथम किरण का गहर राग रँगी थी जो ।

शीतल पवन लिये अगो को कँपा दिया करती थी जा—
वे जाडे की लम्वी रातें वातो म कट जाती थी।
नया नया उल्लास कुसुम-अवचय का मन मे उठता था
सन्ध्या और सवेरा दोनो ही प्रकाशमय होता था।
चिढ जाता वसत का कोकिल भी सुन कर वह वोली,
सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासो के सौरभ से,
भद्रे। वे सव वीती वात कैसे कहूँ, गिनाऊँ म ?

एक दिवस जब हम दोनो ले आये फल अच्छे-अच्छे
अपनी ही फुलवारी से, था एक पहर दिन चढा हुआ,
देखा तो आगन म था सामान थाल म चादी के
और लोग एकत्र हुए थे, कैसी वातें होती थी।
मैं भी पुलकित होकर दौडा जा पहुँचा चाचा के पास
पूछा उनसे—'यह सब क्या है, क्या कुछ मुझे वताओगे ?'
उनका मुख गम्भीर हुआ पर एक लगा हँस कर कहने—
'वच्चा। यह कन्यादान जा रहा ह चाचा की पुतली का।'

'हूँ'—कह कर मैं चला गया, फिर पुतली को जाकर घेरा—
'जाता है फलदान तुम्हारा, हम दोनो भी फल खाये।'

क्या था ? कैसी वह रजनी थी ? पूर्ण चन्द्र था सिर पर भी
हम दोनो थे छत पर बैठे, देख रहे थे प्रकृति-कला,
सचमुच निर्मल नील गगन था, छिटक रहे थे नव तारे,
मेघखण्ड उस स्वच्छ सुधामय विधु को एक लगा ढँकने,
किसने कहा ? कौन बोला था सचमुच हमको है अज्ञात
'पुतली ! क्या तुम ब्याह करोगी ? ब्याह करोगी क्या मुझसे ?
हम दोनो फिर जीवन भर हो एक साथ सुख से काटें !'
पुतली थी विधु ओर देखती, बोल उठी, हा चौंक उठी—
देखो चन्द्र छिप गया पूरा एक मेघ के अतर मे !'

'था दूसरा वसत मनोहर आया अपने उपवन म
नये फूल उपहार बहुत-सा हम लोगो को लाया था
कमल सरो मे खिलते थे, अलिवृन्द किया करते गुन्जार
सन्ध्या म शोभन होते थे विस्तृत सरिता, कूल, कछार—
कोलाहल था, बहुत बडा उत्सव था मानो घर भर मे
तोरण वन्दनवार सजाये जाते थे प्रति द्वारो मे।
किन्तु हमारा हृदय स्तब्ध था—क्या यह होने वाला था !
'पुतली ब्याही जावेगी, जिससे वह परिचित कभी नही–'
यही ध्यान था उठता मन मे–'हाय प्राणप्रिय ! क्या होगा ?'
किन्तु कौन सुनता उस शहनाई म हृत्तन्त्री-झनकार
जो नौबतखाने मे बजती थी अपनी गहरी धुन म—
रूखा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है
कुचला जाना हृदय-कुसुम का किसे सुनाई पडता है।
शहनाई बजती थी, मङ्गल-पाठ हो रहा था घर मे,
भरे हुए थे नर-नारी उस सज्जित सुन्दर आँगन म
खडा देखता था मैं भी घर के कोने से अभिनय को,
जीवन की सर्वस्व, प्रेम की पुतली, किसको अर्पित है ?
अहा चमेली से क्यो ऐसे अलग किया जाता हूँ ? मै—
भग्न-हृदय उस गृह से बिछुडा, जैसे टूटा फल तरु से।

विदा हुआ आनन्द-नगर मे, जन्मभूमि से, जननी से
ऊँचे महलो से, सरिता के कूलो से, वन-बागो से,
चारणभूमि, रसाल-कुज से—जो शैशव के परिचित थे
हृदय हुआ था विकसित जिन वृक्षो को कुसुमित देख नितात
उनसे भी आलिगन करके लिया प्रणाम विदाई का।
छोड दिया सुखधाम सकल आराम, प्रेम-पथ-पथिक हुआ
जगत प्रवास बना था मेरा, सभी नगर ही थे परदेश।

गिरि-कानन, जनपद, सरितायें, कितनी पडी माग के बीच
हृदयोपम सूना आकाश दिखाई पडता था सवत्र।
सूय सवेरे ही उगते थे, सबको नित्य उठाते थे
सब अपने कामो मे लगते, मैं अपने पथ पर चलता।
बह जाता था उषा-काल मे दक्षिण मलयज सुखकारी
किसी वृक्ष के नीचे रहता प्रेम-पथिक थक कर सोया।
वसन्त का भी पवन दोपहर मे ज्वाला बरसाता था
छाया खोज कही जा बैठा, श्रम जिससे मिट जाय वही
तो चातक आकर पुकारता अहो-'पी कहाँ ?'-निज सुख म
व्यथित हृदय हो तब मैं उसको देख कही जो पाता था,
तो वह अपने प्रिय की डाली पर उडकर चल जाता था
हो जाता झकारित मन-'पी कहा ?—मनोहर बोली से
प्रिय-अनुशीलन मे फिर उठता बैठ न सकता तर-तल म
तपन तपाता था तन को फिर धूलि जलाती पैरो का
विरह वह्नि शीतल होती थी जब आसू बह जाते थे।
मिलते थे मैदान जहा तृण-वीरुध एक नही उगते
बालू का ही पुज दिखाई पडता ज्वालामय उद्भ्रान्त
आद्र हृदय नीरद से जिससे भेट कभी की भी न रही।
पैरो की तो कौन कहे मन की भी गति रुक जाती थी
जिसके पडे फफाले आसू बन-बनकर बह जाते थे।
आशा तरुवर दूर दिखाई देता था—जिसकी छाया
देती थी सतोष हृदय को उस मरुभूमि निराशा म।

एक दिवस प्राची मे जब अँधियारी बढती जाती थी
सन्ध्या अपना फैलाती थी प्रभाव प्रकृति-विहारो म

मैं पहुँचा गिरितटी समीप, जहा निमल सरिता बहती
हरी भरी सब भूमि रही, अपने मन से विकसित तरु थे,
शीतल जल मे अवगाहन कर शैल शिला पर बैठ गया
शारदचन्द्र गगन म सुन्दर लगा चमकने पूण प्रकाश
शुभ्र अभ्र की छाया उस पर से होकर चल जाती थी
तब जैसे 'कन्दील' प्रकृति कौतुक-वश हो लटकाती थी
पूणचन्द्र की 'आखमिचौनी'-क्रीडा महा मनोहर थी
देख रहा था निर्निमेष हो मैं भी भावमयी क्रीडा,
अहा 'चमेली' का सुदर मुख हृदय-गगन म उदित हुआ
प्रेम-सिन्धु म प्रतिबिम्बित हो शत शत रूप बनाता था।
धीरे धीरे बीती बातें याद लगीं पडने मुझको—
शैशव के सब सुखद दिवस जो स्वप्न सदृश थे बीत गये
सचमुच तन्द्रा सी मुझको फिर लगी, मोह म मुग्ध हुआ
देवदूत सा चन्द्रबिम्ब से एक व्यक्ति उज्ज्वल निकला
कोमल-कण्ठ लगा कुछ कहने—ठाकर लगी विपची मे—

"पथिक! प्रेम की राह अनोखी भूल भूलकर चलना है
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए,
प्रेमयज्ञ मे स्वाथ और कामना हवन करना होगा
तब तुम प्रियतम स्वग-विहारी होने का फल पाओगे,
इसका निमल विधु नीलाम्बर मध्य किया करता क्रीडा
चपला जिसको देख चमककर छिप जाती है घन-पट मे।
प्रेम पवित्र पदाथ, न इसमे कही कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नही जो व्यक्तिमात्र मे बना रहे
क्योकि यही प्रभु का स्वरूप है जहा कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नही है श्रात भवन मे टिक रहना
कि तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नही
अथवा उस आनन्द भूमि म जिसकी सीमा कही नही
यह जो केवल रूपजन्य है मोह न उसका स्पर्धी है
यही व्यक्तिगत होता है पर प्रेम उदार हो।
उसमे इसमे शैल और मिट्टि का-सा
प्रेम, जगत का चालक
मिट्टी का जलपिण्ड सर्भ

इसकी गर्मी मरु, धरणी, गिरि, सिन्धु, सभी निज अतर मे
रखते हैं आनन्द-सहित, है इसका अमित प्रभाव महा।
इसके बल से तरुवर पतझड कर बसत को पाते हैं
इसका है सिद्धात—मिटा देना अस्तित्व सभी अपना
प्रियतम-मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वही रहा मन मे, नयनो मे, प्रत्युत जग भर मे,
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योकि विश्व ही प्रियतम है,
हो जब ऐसा वियोग तो सयोग वही हो जाता है
यह सज्ञायें उड जाती हैं, सत्य सत्व रह जाता है।"

धीरे-धीरे स्वर लहरी-सी मूर्ति लोप हो गई वही
प्रेम विम्ब-से स्वच्छ चन्द्र मे अपने कथन-सदृश उसने
मिटा दिया अस्तित्व व्यक्ति का, केवल प्रेम-सुधाकर था।



धीरे-धीरे वीत चली रजनी, आलस को साथ लिये
स्वप्न-सदृश निद्रा भी टटी, वन विहग के कलरव से
मिटी मलिनता, रवि-कर पाकर उषा उठ खडी हुई अहो
जैसे प्रिय कर का अवलम्बन किये प्रेयसी उठती है,
क्योकि हो रहा था प्रभात सब प्राणी मात्र निरखते थे
राग रक्त अरुणोदय सहसा हृदय गगन मे सग हुआ
फैला गया उत्साह-सदृश अभिनव उज्ज्वल आलोक वहाँ
जिसमे प्रेम-पथिक अपने आनद मार्ग पर चल निकला।
यो ही वह विचरण करते, वहु देश निरखता नयनो से
प्रियतम-मय यह विश्व समझता यहा घूमता आया है।

बोली तब तापसी-कथा सुनते सुनते जिसके मुख पर—
वहुत भाव थे झलक गये—जैसे लहरी-लीला सर मे—
"क्यो किशोर! क्या अब तक तुमको उस मिट्टी की 'पुतली' का
ध्यान बना है? क्या अभागिनी याद तुम्हे अब भी रहती!
उस दुखिया का ध्यान लगा रखने से हो तुम दुखी हुए।"

"कौन? चमेली! अरे दयानिधि, यह क्या! कैसी लीला है!
यह कैसा है वेश? तुम्हारा वह सब वैभव कहा गया?

कहा स्निग्ध सौंदय तुम्हारा ? वह लावण्य कहा है अब ?
वे सब अलस-कटाक्ष कहा ह ? वे घुँघराले बाल कहाँ ?
वह उन्मादक रूप, शिशिर के बूँद-सदृश क्या ढुलक गया ?
सच है, या कि स्वप्न है, क्या आश्चय आज मे देख रहा
यह परदा कैसा उठता है जो आखो पर छाया था
नही नही—हाँ वही चमेली हो तुम, मेरी पुतली हो।
ओह ! किन्तु दिन बीत गये—वह समय कहा-का-कहा गया।
अभिलाषाएँ रूप बदलकर अन्य हो गइ अहो, कहो—
यह कुहेलिका कैसी फैली जिसम मन बीती बातें
दिन की तरह छिपी, विस्मृति का नीला परदा डाल दिया।'

"हा किशोर, यह वही तुम्हारी बाल्यसखी पुतली ही है
जिसे देखते हो कानन मे बनी तापसी बैठी है
कर कल्याण कामना-जिसकी माता ने अपने हाथा
अपनी कन्या का दुर्भाग्य खरीदा'—कहा चमेली ने—
"उस विवाह से मेरी सारी स्वतन्त्रता छीनी जाकर
मुझे न कुछ भी मिला, एक क्षण स्नेह कभी करनेवाला—
—प्रेम ! कहा ?—करुणा की दृष्टि न मेरी ओर कभी घूमी
जब तक माता पिता रहे जीवित तब तक कुछ बात नहीं
फिर तो लक्ष्मी दोनो घर की पत्नी उनकी दासी थी
हा किशोर, मैं भी सब देकर वेतनभुक्त पुजारी-सी
उस पत्थर का आराधन दिन रात किया ही करती थी
प्रेम सहानुभूति का तो कुछ लेश न किसी हृदय म था
कभी नही आतरिक भाव प्रकटित करने को जी भरकर
अश्रु दिखाई पडे, रही नहलाती उससे अतर म—
हृदय-रत्न वेदी पर जिसको पहले मे बिठलाया था
क्योंकि और था क्या ? पूजा करने का पास पुजारी के
हृदय विश्व का तत्त्व निहित ह जिसम दो ही अक्षर मे
उसकी लिपि पढने का यत्न न करता निष्ठुर हो कोई
प्रत्न तत्त्व मे खँडहर खुदवाता फिरता है जहाँ कही
नही देखता है नवनीत रचित कितने सुन्दर मन्दिर
पाकर हलकी आच गले वे ढेर हुए हैं अतर म
वह नैसर्गिक शिल्प कल्पना म भी क्या आ सकती है ?

दिन-पर दिन योही बीते वह कैसे कोई कहे अहो
जो कुछ था—सवस्व उडाकर उन्ही स्वार्थी मित्रो मे—
जो दरिद्र होने पर उनकी ओर देख सकुचाते थे।—
पति मेरे श्मशान-वासी होकर धरणी से चले गये
कुछ भी शेष नही था धरणी म—इस नीरस जीवन मे
केवल दुख निराशामय था, अधकारमय अतर था
धन-मद वाले की पत्नी हुई, अनाथा विधवा भी
लज्जा। सच ही लज्जा मुझको कहने देती नही उसे
जिसे नर पिशाचो ने करने का उद्योग किया। मुझसे—
काम-वासना प्रकट की गई अहो मित्र की जाया से।
घोर दुख-सागर मे 'उभचुभ' हो न डूबने पाती थी
उस अनाथ के नाथ दीन-दुखहारी को अपना पाया।
वृद्ध एक प्रेरित उनसे ही एक दिवस आकर बोला—
"पुत्री। अब तुम वास यहा का छोडो, शीघ्र निकल जाओ,
जो आश्रय हो और तुम्हारा वहा रहो जाकर। इसको—
छोडो, है यह नरक—तुम्हारे रहने के उपयुक्त नही।"
मैंने कहा—"पिता। मेरा आश्रय प्रभु चरण छोडकर और
नही रहा ससार बीच। हाँ, तटिनी की तरङ्ग भी है
क्योकि सहारा रहा न कुछ भी अब इस मेरे भव तम मे।"
कहा वृद्ध ने—"पुत्री, जीवन-पथ मे शिक्षा कडी न दे
जो दुबल होकर जाता है, परम परीक्षक देव उसे
वहाँ गोद म आदर देकर उसे बिठाता कभी नही।
दूर यहा से एक जमीदारी मेरी है। शाति वहाँ—
जीवन भर प्रयत्न कर सग्रह की है मैंने। चलो वही,
शाति-कुटीर बनाकर छोटे मे कानन म, प्रभु-पद म
निभय होकर रहो,—वहाँ कोई शका का नाम नही।"
तब से आकर यही बिताती हूँ जीवन दुखमय अपना,
खग मृग सहचर हुए, यही झोपडी हुई मन्दिर अपना,
जीवन स्रोत बहा ले आया मुझको ऐसे स्थल पर
इसे कहानी समझो अथवा स्वप्न कहो निज पुत्री का।'

फिर तो चारु दृग आँसू चौधारे लगे बहाने। हाँ,
सचमुच ऐसा करुण दृश्य क्या करुणानिधि को भाता है?

कृपा नाव क्या उनकी इस सागर मे तैरा करती है ?
किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितना ही
करे प्रशसा, किंतु हिमालय-सा भी जिसका हृदय रहे
और प्रेम करुणा, गगा यमुना की धारा वही नही
कौन कहेगा उसे महान् ? न मरु मे, उसमे अतर है।
करुणा यमुना, प्रेम जाह्नवी का सगम है भक्ति प्रयाग
जहा शाति अक्षयवट बन कर, युग युग तक परिवर्धित हो।
नीलोत्पल के बीच सजाये मोती-से आसू के बूंद !
हृदय-सुधानिधि से निकले हो, सब न तुम्हे पहिचान सके
प्रेमी के सवस्व अश्रुजल चिरदु खी के परम उपाय !
यह भव धरा तुम्ही से सिञ्चित होकर हरी-भरी रहती
उन हृदयो को शीतल कर दो—जो परितापित ह दुख से।
बीत रही थी रजनी भी प्रति पत्तो से बूंदे हिम की
ढुलक रही थी, वे सब दाना के आसू के साथ वहा।

कहा जलद गभीर-कण्ठ से तब किशार ने पुतली से—
"जीवन के पथ मे सुख दुख दोनो समता को पाते है,
जिसे देखकर सुखी आज सब लोग सराहा करते ह
कौन कहेगा—वही मानसिक कितना कष्ट उठाता है,
अथवा, चिर दरिद्र को भी सतोष सुखी करता कितना !
वत्तमान सुख दुख मे पड कर हर्ष, विषाद मानता जो
उपन्यास लेखक है वह, परिणाम स्थिति ही सच्ची है।
चिर दु खी को सुख की आशा उसे असीम हर्ष देती
सुखी नित्य डरता रहता है ध्यान भविष्यत् का करके
वह कल्याण-कामना, जो जगजनक सभी की करता है
व्यक्तिमात्र के लिए नही है। दु ख देखकर अपना ही
मतसमझो सब दुखी जगत को, मत लाछन दो ईश्वर को।
शिव समष्टि का होता, इच्छा उसकी पूरी होती है
अप्रत्याशित, अप्रकटित, कल्याण विश्व का करता है
क्योकि विश्वमय है विश्वेश, रहस्य प्रेम के ये उसके।
हो केवल सयोग कहो फिर वियोग की रूखी फीकी—
बिना स्वाद उसका क्या है। यह लीलामय की लीला है।
केवल स्मृति दुखदायक है—उसको भूला सपना समझो,

प्रबल वेग से उठते हैं जब वर्षा की नदियों में दृप्त—
तुमुल तरंग, गरजते फिरते किसी कूल को प्लावित कर,
वह स्वरूप वास्तविक नहीं है इस जीवन निर्झरिणी का।
उसी तरह से युवक-युवतियों का होता है प्रणयोच्छ्वास,
उस पर ही अन्धानुरक्त हो दुःखपूर्ण जीवन करना
महा मूर्खता है केवल उच्छृङ्खल वृत्ति पुष्टि करना
सुनो चमेली! भूलो बीती बातों को, मन से धोकर
स्वच्छ बनो, आन्तरिक स्वर्ग में रमण करो होकर निष्काम
आत्म-समर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर
प्रकृति मिला दो विश्वप्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है।
कहा अभी तुमने—'साथी खग मृग ही मेरे हुए यहीं'
किन्तु न परिमित करो प्रेम, सौहार्द विश्वव्यापी कर दो।
क्षणभंगुर सौन्दर्य देख कर रीझो मत, देखो! देखो!!
उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्वमात्र में छाई है—
ऊपर देखो, नील-गगन मण्डल में चमकीले तारे
नीचे हिम के बिन्दु एक ही मधुर भाव प्रकटित करते,
मधुर मरुत, कल-कल निर्झरिणी जल के साथ बहाता है
तुङ्ग मनोहर शृंगों से सौन्दर्यमयी विमला धारा।
छोटे-छोटे कुसुम श्यामला धरणी में किसका सौन्दर्य्य
इतना लेकर खिलते हैं, जिन पर सुन्दरता का गर्व्वी-
मानव भी मधुलुब्ध मधुप-सा सुख अनुभव करता फिरता।
देखो मोहन अपना कैसा वेश बदलता आता है
नीलाम्बर का छोड़ दिया पीताम्बर पहने वह आया
ताराओं का मणि-आभूषण धीरे धीरे उतरा है।
कुसुमदलों से लदी हुई धरणी का यह शोभन उद्यान-
किसके क्रीडा-कुञ्ज-समान दिखाई देता है सुन्दर
किसकी यह सम्भोग-सेज थी सजी? अभी उठ कर जैसे
चला गया है! परिमल-मिलित बूँद श्रम के ये बिखरे हैं।
किसकी व्यस्त अलग सुषमा थी अब तक धरणी लिये हुए
उषा चाँदनी-सी बिछती है किस सुन्दर के लिए कहो?
स्निग्ध, शांत, गम्भीर, महा सौन्दर्य सुधासागर के कण
ये सब बिखरे हैं जग में—विश्वात्मा ही सुन्दरतम है।

न्योछावर कर दो उस पर तन मन जीवन, सवस्व नही—
एक कामना रहे हृदय मे, सब उत्सर्ग करो उस पर।
उस सौन्दय्य-सुधासागर के कण ह हम तुम दोनो ही
मिलो उसी आनन्द-अम्बुनिधि मे मन से प्रमुदित होकर
यह जो क्षणिक वियोग, वहा पर नही फटकने पावेगा
एक सिन्धु मे मिलकर अक्षय सम्मेलन होगा सुन्दर
फिर न विछुडने का भय तुमको मुझको होगा कही-कभी।
आओ गले नही प्रत्युत हम हृदय हृदय से मिल जायें
जीवन-पथ मे सरिता होकर उस सागर तक दौड चल !"

"चलो मिले सौन्दय्य प्रेमनिधि मे"—तब वहा चमेली ने
"जहाँ अखण्ड शान्ति रहती है—वहा सदा स्वच्छन्द रहे।"
लगी बनाने सोने का ससार तपन की पीत विभा
स्थिर हो लगे देखने दोनो के दृग-तारा,—अरुणोदय।

करुणालय

सूचना



यह दृश्यकाव्य गीति-नाट्य के ढंग पर लिखा गया है। तुकान्त विहीन मात्रिक छन्द में वाक्यानुसार विराम चिह्न दिया गया है। यद्यपि हिन्दी में इस ढंग की कविता का प्रचार नहीं है, तथापि अन्य भाषाओं में (जैसे संस्कृत में कुलक, अंगरेजी में ब्लैंक वर्स, बँगला में अमित्राक्षर छन्द आदि) इसका उपयुक्त प्रचार है। हिन्दी में भी इस कविता का प्रचार कैसा लाभदायक होगा, इसी विचार के लिए आज यह काव्य पाठकों के सामने उपस्थित किया गया है।

माघ—
१९६९

—इन्दु, कला ४,
खंड १, किरण २

पात्र-परिचय



पुरुष-पात्र

हरिश्चन्द्र	अयोध्या के महाराज
रोहित	युवराज
वसिष्ठ	ऋषि
विश्वामित्र	ऋषि
शुन शेफ	अजीगत का पुत्र
शक्ति	वसिष्ठ का पुत्र
मधुच्छन्द	विश्वामित्र के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ
ज्योतिष्मान	सेनापति

स्त्री-पात्र

तारिणी	अजीगत की स्त्री
सुब्रता	दासी रूप में विश्वामित्र की गन्धर्व विवाहिता स्त्री



प्रथम दृश्य

(सरयू में नाव पर जल विहार करते हुए महाराज हरिश्चन्द्र का सहचर-जना सहित प्रवेश)

हरिश्चन्द्र

सान्ध्य नीलिमा फैल रही है, प्रान्त मे
सरिता के। निर्मल विधु बिम्ब विकास है,
जो नभ मे धीरे-धीरे है चढ रहा है,
प्रकृति सजाती आगत-पतिका रूप को।
मलयानिल-ताडित लहरो मे प्रेम मे
जल मे ये शैवाल जाल हैं घूमते।
हरे शालि के खेत पुलिन मे रम्य हैं
सुन्दर बने तरङ्गायित ये सिन्धु से,
लहराते जब वे मारुत-वश झूम के।
जल मे उठती लहर बुलाती नाव को,
जो आती है उस पर कैसी नाचती।
अहा मिल रही विमल चाँदनी भी भली।
तारागण भी उस मस्तानी चाल को
देख रहे है, चलती जिसमे नाव है।

वशी रव मे होता पूण दिगन्त है
जो परिमल-सा फैल रहा आकाश म।
प्रकृति चित्र-पट-सा दिखलाती है अहा,
कल-कल शब्द नदी से भिन्न न और का,
शान्ति! प्रेममय शान्ति भरी है विश्व मे।
सुन्दर हैं अनुकूल-पवन, आनन्द मे
झूम-झूमकर धीरे-धीरे चल रहा
पिये! प्रेम-मदिरा विह्वल-सा हो रहा
कणधार हो स्वय चलाता नाव को।
नौके! धीरे, और जरा धीरे चलो,
आह, तुम्हे क्या जल्दी है उस ओर की।
कही नही उत्पात प्रभजन का यहा।
मलयानिल अपने हाथो पर है धरे
तुम्हे लिये जाता है अच्छी चाल से
प्रकृति सहचरी सी कैसी है साथ मे
प्रेम-सुधामय चन्द्र तुम्हारा दीप है।
नौके! है अनुकूल पवन यह चल रहा,
और ठहरती, हा इठलाती ही चलो।

ज्योतिष्मान

महाराज! इस तट कानन को देखिये,
कैसा है हो रहा सघन तरु-जाल से।
इसी तरह यह जनपद पहल था, प्रभो!
कानन-शैल भरे थे चारो ओर ही
हिंस्र जन्तु से पूण, मनुज-पशु थे यहा।
आय्य-पूव-पुरुषो की ही यह कीर्ति है,
जो अब ये उद्यान सजे फल, फूल से,
बने मनोहर क्रीडा-कूट विचित्र ये।
इक्ष्वाकु-कुल भुजबल से निर्बीज ही
हुए दस्युदल, अब न कभी वे रोष से
आख उठाते हम आर्यो को देख के।
आय-पताका है फहराती अरुण हो।

हरिश्चन्द्र

आर्यों के अनुकूल देवगण हैं सदा
विश्व हमारा शासन अभिनय रग है
हम पर है दायित्व सभी सुख-शांति का
सब विभूतिया और उपकरण गव के
आर्य्य जाति के चरणो मे उपहार है।

(नेपथ्य म घार गजन)

यह कैसा उत्पात! चलो जल्दी करो
माझी! तट पर नाव ले चलो शीघ्र ही।

माझी

प्रभो! स्तब्ध है नाव, न हिलती है। अरे
देखा तो इसको क्या है, है हो गया!

(नेपथ्य से गजन के साथ)

मिथ्यभाषी यह राजा पापण्ड है
इसने सुत बलि देना निश्चित था किया
जब वह पहिनेगा हिरण्यमय वम को।
राजकुमार हुआ है अब बलि योग्य जब
तो फिर क्यो उसकी बलि यह करता नही?
बार-बार इसने हमको वचित किया
उसका है यह दण्ड, आह! हतभाग्य यह
जा सकता है नही कही भी नाव से।

हरिश्चन्द्र

आह! देव यदि आप जानते समझते
कितनी ममता होती है सन्तान की
देव! जन्मदाता हूँ फिर भी अब नही
देर करूँगा, बलि देने मे पुत्र की।
जो कर चुका प्रतिज्ञा उससे भूल के
क्रोधित होने का अवसर दूँगा नही
हे समुद्र के देव! देव आकाश के,
शान्त हूजिये, क्षमा कीजिये, दीन को।

(नेपथ्य से गर्जन के साथ)

अच्छा जल्दी जाकर तू उद्योग म
तत्पर हो, कर यज्ञ पुत्र-बलिदान से।

हरिश्चन्द्र

जो आज्ञा, मैं शीघ्र अभी जाके वहा
प्रथम करूँगा वाक्य आपका भक्ति से।

(नौका चलने लगती है)



द्वितीय दृश्य

(कानन में राहित)

स्वगत

पिता परमगुरु होता है, आदेश भी
उसका पालन करना हितकर धर्म है।
किन्तु निरर्थक करने की आज्ञा कही
वैसे पालन करने के है योग्य यो।
वरुण, देव है या कि दैत्य! वह कौन है?
क्या उसको अधिकार हमारे प्राण पर
क्या वह इतनी सार्वजनिक सम्पत्ति है
नहीं, नहीं, 'वह मेरा है' यह स्वत्व है
हम जब थे अज्ञान, न थे कुछ जानते
सुख किसका है नाम, तरुणता वस्तु क्या,
प्रकृति प्रलोभन में न फँसे थे, पास की
वस्तु न यों आकर्षित करती थी हम,
तभी क्यों न कर लिया क्रूर बलि-कर्म्म को।

अहा स्वच्छ नभ नील, अरुण रवि रश्मि की
सुन्दर माला पहन, मनोहर रूप मे,
नव प्रभात का दृश्य सुखद है सामने
उसे बदलना नील तमिस्रा रात्रि से
जिसमें तारा का भी कुछ न प्रकाश है
प्रकृति मनोगत भाव सदृश जो गुप्त, यह
कैसा दुखदायक है ? हाँ बस ठीक है।
देखेंगे परिवर्तनशीला प्रकृति को
घूमेंगे बस देश-देश स्वाधीन हो।
मृगया से आहार, जीव सहचर सभी
नव विसलय दल सेज सजी सब स्थान मे,
वहो रही क्या कमी सहायक चाप है।

(नेपथ्य से)

चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत, कर्म्म-मार्ग विस्तीर्ण है।
चलनेवाला पीछे को ही छोड़ता
सारी बाधा और आपदा-वृन्द को।
चले चलो, हा मत घबराना तनिक भी
धूल नही यह पैरो म है लग रही
समझो, यही विभूति लिपटती है तुम्हे।
बढो, बढो, हा रुको नही इस भूमि मे,
इच्छित फल की चाह दिलाती बल तुम्हे,
सारे श्रम उसको फूलो के हार से
लगते है, जो पाता ईप्सित वस्तु को।
चलो पवन की तरह, रुकावट है कहा,
बैठोगे, तो कही एक पग भी नही
स्थान मिलेगा तुम्हे, कुटिल ससार मे।
सघन लतादल मिले जहा है प्रेम से
शीतल जल का स्रोत जहा है बह रहा
हिम के आसन् बिछ, पवन् परिमल मिला
बहता है दिन रात, वहा जाना तुम्हे।

सुनो ग्रीष्म के पथिक, न ठहरो फिर यहाँ,
चलो, बढ़ो, वह रम्य भवन अति दूर है।

रोहित

(आकाश को देखकर)

अरे कौन यह ? छाया सी है इन्द्र की
कायरता का अरि, प्रतिमा पुरुषार्थ की
बड़ी कृपा आकाश विहारी देव की
हुई, दीन करता प्रणाम है भक्ति से।
देव ! आप यदि हैं प्रसन्न, तो भाग्य है,
प्रभो ! सदा आदेश आपका ध्यान से
पाला करता रहे दास, वर दीजिये,
"रुके कर्म-पथ में न कभी यह भीत हो"

(नेपथ्य से)

हम प्रसन्न हैं, वत्स ! करो निज कार्य्य को।

(रोहित जाता है।)



तृतीय दृश्य

(अजीगत के कुटीर में अजीगत्त और तारिणी)

अजीगत

प्रिये ! एक भी पशु न रहे अब पास मे,
तीन पुत्र, भोजन का कौन प्रबन्ध हो ?
यह अरण्य भी फल से खाली हो गया,
केवल सूखी डाल, पात फैले, अहो
नव वसन्त मे जब वह कुसुमित था हुआ,
तब तो अलि, शुक और सारिका नीड मे
कोमल कलरव सदा किया करते। अहो
जहा फैल कर लता चरण को चूमती
कोमल किसलय अधर मधुर से प्रेम से,
अब सूखे काँटे गडते हैं, हा ! वही!
कानन की हरियाली ही सब भूख को
तुरत मिटाती थी देकर फल-फूल ही

वहाँ न छाया भी मिलती है धूप मे।
कहो प्रिये, अब फिर क्या करना चाहिए ?

तारिणी

हाय ! क्या कहे प्राणनाथ इस भूमि मे,
अब तो रहना दुष्कर सा है हो गया।

(नेपथ्य म रोहित—)

"घबराओ मत अजीगर्त। मै आ गया।"

(प्रवेश करके)

रोहित

कहिये क्या है दुख आपको जो अभी
इतने व्याकुल होकर यो किस बात को
सोच रहे थे। क्या पशुओ का दुख है ?

अजीगत

तुम तो जैसे सत्य बात हो जानते
और दिखाई देते राजकुमार-से,
स्वणखचित यह शिरस्त्राण है कह रहा
यम बना बहुमूल्य बताता विभव को
किन्तु सकोगे समझ ! भूख के दुख को
और विकल पीडित अकाल से प्राण को
जीवन की आकुल आशा जब त्रस्त हो
एक-एक दाने का आश्रय खोजती
वह वीभत्स पिशाच खा लिया चाहता
जब अपना ही मास। अधीर विडम्बना
हँसती हो इन दुवल शब्दो पर, अजी
तब भी तुम कुछ दोगे मुझे सहायता ?

रोहित

एक बात यदि तुम भी मेरी मान लो।

अजीगर्त

मानूँगा कैसी ही निष्ठुर बात हो।

रोहित

सौ दूँगा मैं गाय तुम्हें, जो दो मुझे
एक पुत्र अपना, उस पर सब सत्त्व हो
मेरा, उसको चाहे जो कुछ मैं करूँ।

तारिणी

दूँगी नहीं कनिष्ट-पुत्र को मैं कभी।

अजीगत

और ज्येष्ठ को मैं भी दे सकता नहीं

रोहित

तो मध्यम सुत दे देना स्वीकार है—
वलि देने के लिए एक नरमेध में?

(ऋषि-पत्नी मुँह ढाँप कर भीतर चली जाती है
और अजीगत कुछ सोचने लगता है)

अजीगत

हा हा ! मुझको सब बातें स्वीकार हैं।
चलो मुझे पहले गायें दे दो अभी।

रोहित

अच्छा, उसको यहाँ बुलाओ देख लें
हम भी , मध्यम पुत्र तुम्हारा है कहा?

अजीगत

(नेपथ्य की ओर मुख करके—)

शुन शेफ ! ओ शुन शेफ ! ! आ जा यहाँ।

(मार खाने के भय से, खेल छोड़कर
शुन शेफ भागता हुआ आता है)

शुन शेफ

क्या है बाबा, क्यों हो मुझे बुला रहे?
मैंने कोई भी न किया है दोष, जो
आप बुलाते मुझे मारने के लिए।

अजीगत

चुप रह ओ मूर्ख ! बोलना मत, यहाँ
खड़ा रह, (रोहित से)—यही मध्यम मेरा पुत्र है।

रोहित

अच्छा है। बस चलो अभी तुम साथ मे,
राज्य-केन्द्र मे चलते हैं हम भी अभी,
उसी स्थान मे मूल्य तुम्हे मिल जायगा,
और इसे हम ले जाते हैं सग ही।

(शुन शेफ से)

चलो चला जी साथ हमारे शीघ्र ही।
मेरे हाथ तुम्हारा विक्रय हो चुका।

(शुन शेफ का अजीगत की ओर सकरुण देखते
हुए राहित के साथ प्रस्थान)



चतुर्थ दृश्य

(महाराज हरिश्चन्द्र सिंहासनासीन। शुनःशेफ को साथ लिये हुए रोहित का प्रवेश—)

रोहित

हे नरेन्द्र हे पिता पुत्र यह आपका
रोहित सेवा मे आ गया। विनम्र हो
करता अभिवादन है, अब कर दीजिये
क्षमा इसे। हूँ पशु लेकर आया यहाँ।

हरिश्चन्द्र

रे पुत्राधम! तूने आज्ञा भंग की
मेरी, अब तू योग्य नही इस राज्य के

रोहित

देव! दिया जाता वलि में जा मै तभी
तो क्या पाता राज्य! न ऐसा कीजिये।
सुनिये, मैंने रक्षा की है धर्म्म की
नही आप होते अनुगामी निरय के।

पुत्र न रहता, तो क्या होता कौन फिर
दता पिण्ड तिलोदक। यह भी समझिये
कुल के पुण्य-पुरोहित देव वसिष्ठ से
(वसिष्ठ का प्रवेश, राजा अभ्युत्थान देता है)

वसिष्ठ

राजन्! विजयी रहो। सुनी सब बात है,
यह तो अच्छा काय्य कुँवर ने है किया।
यदि पशु का है पिता, दे दिया सत्य ही
उसने बलि के लिए इसे, तो ठीक है।
राजपुत्र के बदले इसको दीजिये
बलि, तब देव प्रसन्न तुरत हो जायँगे
और आप भी सत्य-सत्य हो जायँगे।

(शुन सफ से)

क्या जी! तुमको दिया पिता ने क्या इन्हे
मूल्य लिया है?

शुन शेफ

सत्य प्रभो! सब सत्य है।

वसिष्ठ

फिर क्या तुमको यह सब स्वीकार है?

शुन शेफ

जो कुछ होगा भाग्य और निज कम मे।

वसिष्ठ

अच्छा फिर सब यज्ञ-काय्य भी ठीक हो
और शीघ्र करना ही इसको उचित है।

हरिश्चन्द्र

जो आज्ञा हो, मै करता हूँ सब अभी।

(सबका प्रस्थान)



पंचम दृश्य

(यज्ञ-मण्डप में हरिश्चन्द्र, रोहित वसिष्ठ, होता इत्यादि बैठे हैं।
शुनःशेफ यूप में बँधा हुआ है। शक्ति उसे वध करने के
लिए बढ़ता है, पर सहसा रुक जाता है)

वसिष्ठ

शक्ति, तुम्हारी शक्ति कहाँ है जो नहीं
करता है बलि-कर्म, देर है हो रही।

शक्ति

पिता, आप इस पशु के निष्ठुर तात से
भी कठोर हैं। जो आज्ञा यों दे रहे!

(शस्त्र फेंक कर—)

कर्म नहीं, यह मुझसे होगा घोर है।

(प्रस्थान। अजीगत का प्रवेश)

अजीगत

और एक सौ गायें मुझको दीजिये,
मैं कर दूँगा काम आपका शीघ्र ही।

वसिष्ठ

अच्छा अच्छा, तुम्हे मिलगी और भी
सौ गायें। लो पहले इसको तो करो।

(अजीगत शास्त्र उठा कर चलता है)

शुन शेफ

(आकाश की आर देख कर)

हे हे करुणा-सिन्धु, नियन्ता विश्व के,
हे प्रतिपालक तृण, वीरुध के, सप के,
हाय, प्रभो! क्या हम इस तेरी सृष्टि के
नही, दिखाता जो मुझ पर करुणा नही।
हे ज्योतिष्पथ-स्वामी! क्यो इस विश्व की
रजनी मे, तारा प्रकाश देते नही
इस अनाथ को, जो असहाय पुकारता
पडा दु ख के गत बीच अति दीन हो
हाय! तुम्हारी करुणा को भी क्या हुआ,
जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से।
जगत्पिता! हे जगद्बन्धु, हे हे प्रभो,
तुम तो हो, फिर क्यो दुख होता है हमे?
त्राहि त्राहि करुणालय! करुणा-सद्म मे
रखो, बला लो! विनती है पदपद्म मे।

(आकाश में गजन सब त्रस्त होते ह। सब शक्तिहीन
हो जाते ह। विश्वामित्र का मधुच्छ दा प्रभृति
अपने सौ पुत्रा के साथ प्रवेश)

विश्वामित्र

(वसिष्ठ से)

कहो कहो इक्ष्वाकु-वश के पूज्य हे!
ओ महर्षि! कैसा होता यह काम है?
हाय! मचा रक्खा क्या यह अ धेर है।
क्या इसमे है धर्म? यही क्या ठीक है?
किसी पुत्र को अपने वलि दोगे कभी?
नही! नही! फिर क्यो ऐसा उत्पात है?

(आकाश की ओर देखकर)

अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया
रे मनुष्य ! तू कितने नीचे गिर गया
आज प्रलोभन भय तुझसे करवा रहे
कैसे आसुर कर्म्म। अरे तू क्षुद्र है—
क्या इतना ? तुझपर सब शासन कर सके
और धर्म की छाप लगाकर—मूढ़ तू !
फँसा आसुरी माया में, हिंसा जगी
अथवा अपने पुरोहिती के मान की
ऋषि वसिष्ठ को, कुलगुरु को, इस राज्य के।

(वसिष्ठ से)

तुम हो त्राता धर्म्म मनुज की शांति के
यह क्या है व्यापार चलाया ? चाहिये
यदि मनुष्य के प्राण तुम्हारे देव को
ले लो (मधुच्छंदा की ओर देख कर)
कितने लोगे ये सब सौ रहे

वसिष्ठ

लज्जित हूँ, मुझमें यह साहस था नहीं
विश्वामित्र महर्षि तुम्हें हूँ मानता

(झपटी हुई एक राजकीय दासी का प्रवेश जो राजा और अजीगत की ओर देखकर कहती)

दासी

(राजा से—)

न्याय ! न्याय !! हे देव, न्याय कर दीजिये

(अजीगत से)

रे रे दुष्ट ! बना है ऋषि के रूप में
निरा बधिक रे नीच ! अरे चाण्डाल तू
भूल गया दुर्दैव सदृश उस बात को

(विश्वामित्र से—)

और न तुम भी मुझको हो पहचानते।
क्या वह नवल तमाल कुज मे प्रेम से
परिवर्त्तन वनमाला का विस्मृत हुआ
क्या वह सब थी केवल कुटिल प्रवञ्चना ?
अहो न अब पहचान रहे निज पुत्र को
जो है परिचित शुनशेफ के नाम से।

विश्वामित्र

अरे! सुव्रता! तू है, सचमुच स्वप्न-सी
मुझको अब सब बातें आती ध्यान मे,
मैं जब तप के लिए छोड असहाय ही
तुझे गया—फिर पडा अकाल। न था कही
क्षण भर को अवलम्ब तुम्हे यह भूल कर
मैं चिन्तित था धम और तप तत्त्व मे
रे झूठे अभिमान तुझे धिक्कार है।
तुझे बहुत खोजा था मैंने ग्राम मे।
जब जाता था हिमगिरि के वनकुञ्ज मे
सत्य, तुझे वञ्चित न कभी मैंने किया।
ईश-कृपा से आज अचानक पा गया।
प्रिये! तुम्हारा मुख, निज सुत को देख कर
पूर्ण हुआ आनन्द

(शुन शेफ की ओर—)

ज्येष्ठ यह पुत्र है
मेरा, अब तुम सुत को लेकर साथ मे
सुखी रहो। (अजीगत स)

रे दुष्ट वधिक! अब क्यो नही
बतलाता है उसको अपना पुत्र तू।

(हरिश्चन्द्र से—)

राजन्! यह सुव्रता हमारी नारि है
इसे मुक्त दासीपन से कर दीजिये,
और नराधम को भी शासित कीजिये।

राजन् ! सब तप और सत्य तुम कर चुके
यदि अपनी इस प्रजा-वृन्द का ध्यान हो
दुख दूर करने का कुछ उद्यम करो।

हरिश्चन्द्र

हे कौशिक ऋषिवर्य ! इसे कर दीजिये
क्षमा, और सुव्रता स्वतन्त्रा हो ऋषे !
चरणों में राज्य आज उत्सर्ग है।

विश्वामित्र

अस्तु। सुव्रते ! कहो कहाँ फिर तुम रही
मेरे जाने बाद ?—

सुव्रता

प्रभो ! उस ग्राम से
लाञ्छित करके देश-निकाला ही मिला,
क्योंकि गर्भिणी थी मैं। इससे घूमती
आयी मैं इस ऋषि आश्रम के पास में।
प्रसव-समर्पण किया इसी की गोद में
और स्वयं अन्तःपुर में दासी बनी

वसिष्ठ

धन्य सुव्रते ! साधु ! सुशील ! धन्य तू
पाया पति, सुत, फिर अपने सौभाग्य से।

विश्वामित्र

करुणा करुणालय जगदीश दयानिधे।
सर्वथा ही आनन्द सहित सुख से रहे।

(सबको ओर देख कर—)

जगन्नियन्ता का यह सच्चा राज्य है
सबका ही वह पिता, न देता दुख है
कभी किसी को। उसने देखा सत्य को
हरिश्चन्द्र के, जिसने प्रण पूरा किया
उद्यत होकर करने में बलिकर्म्म के।

यह जो रोहित को बलि देते तो नही
वह बलि लेता, किन्तु मना करता इन्हे।
क्योकि अधम है क्रूर आसुरी यह क्रिया
यह न आर्य पथ है, दुस्तर अपराध है
वह प्रकाशमय देव, न देता दुःख है।
अस्तु, सभी तुम शक्तिहीन हो हो गये।
कहता हूँ उसको सुन लो सब ध्यान से,
समस्वर से सब करो स्तवन, उस देव का
जो परिपालक है इस पूरे विश्व का।
तुममे जय हो शक्ति और यह पुन भी
शुन शेफ हो मुक्त आप, तब जान लो
यज्ञ काय्य पूरा होकर फल मिल गया।

(समवेत स्वर से—)

जय जय विश्व के आधार।
अगम महिमा सिन्धु-सी है कौन पावे पार।
जो प्रसव करता जगत को, तेज का आकार।
उसी के शुभ-ज्योति से हो सत्य पथ निर्धार।
छुटे सब यह विश्व-बन्धन हो प्रसन्न उदार।
विश्व प्राणी प्राण मे हो व्याप्त विगत विकार।
—जय जय विश्व के आधार॥

(आलोक के साथ वीणा ध्वनि। शुन शेफ का बन्धन आप-से-आप खुल जाता है और सब शक्तिमान होकर खडे हो जाते है। पुष्प-वृष्टि होती है।)

आलोक के साथ पटाक्षेप



महाराणा का महत्त्व

"क्यो जी कितनी दूर अभी वह दुर्ग है ?"
शिविका मे से मधुर शब्द यह सुन पडा।
दासी ने उन सैनिक लोगो से यही
—यथा प्रतिध्वनि दुहराती है शब्द को—
प्रश्न किया जो साथ-साथ थे चल रहे।
कानन मे पतझड भी कैसा फैल के
भीषण निज आतक दिखाता था, कडे
सूखे पत्तों के ही 'खड-खड' शब्द से
अपना कुत्सित क्रोध प्रकट था कर रहा।
प्रबल प्रभजन वेगपूर्ण था चल रहा
हरे हरे द्रुमदल को खूब लपेडता
घूम रहा था, क्रूर सदृश उस भूमि मे।
जैसी हरियाली थी वैसी ही वहा—
सूखे काँटे पत्ते बिखरे ढेर-से
वडे मनुष्यो के पैरो से दीन-सम
जो कुचले जाते थे, हय-पद-वज्र मे।
धूल उड रही थी, जो घुमकर आँख म
पथ न देखने देती सैनिक वृन्द को,

जिस पूरा में हो उनके अवशिष्ट था
अपहृत था सवस्व यहा तक, पत्र भी—
एक न थे उनमे, कुसुमो की क्या कथा।
नव वसत का आगम था बतला रहा
उनका ऐसा रूप, जगत-गति है यही।
पूण प्रकृति की पूण नीति है क्या भली,
अवनति को जो सहन करे गभीर हो
धूल सदृश भी नीच चढे सिर तो नही
जो होता उद्विग्न, उसे ही समय मे
उस रज-कण को शीतल करने का अहो
मिलता बल है, छाया भी देता वही।
निज पराग को मिश्रित कर उनमे कभी
कर देता है उन्हे सुगधित, मृदुल भी।

देव दिवाकर भी असह्य थे हो रहे
यह छोटा-सा झुड सहन कर ताप को,
बढता ही जाता हे अपने माग मे।
शिविका को घेरे थे वे सैनिक सभी
जो गिनती म शत थे, प्रण मे वीर थे।
मुगल चमूपति के अनुचर थे साथ म
रक्षा करते थे स्वामी के 'हरम' की।
दासी ने भी वही प्रश्न जब फिर किया—
"क्यो जी कितनी दूर अभी वह दुग है?,'
सैनिक ने बढ करके तब उत्तर दिया—
"अभी यहा से दूर निरापद स्थान है,
यह नवाब साहब की आज्ञा है कडी—
मत रुकना तुम क्षण भर भी इस माग मे
क्योकि महाराणा की विचरण भूमि है
वहाँ माग म, कही मिलेगी क्षति तुम्हे
यदि ठहरोगे, रुकता हूँ इससे नही।"

दासी ने फिर कहा—"जरा ठहरो यही
क्योकि प्यास ऐसी बेगम को है लगी,
चक्कर-सा मालूम हो रहा है उन्हे।'

सैनिक ने फिर दूर दिखा संकेत से
कहा कि "वह जो झुरमुट-सा है दीखता
वृक्षों का, उस जगह मिलेगा जल, उसी
घाटी तक बस चलो-चलो, कुछ दूर है।"



विस्तृत तरु शाखाओं के ही बीच में
छोटी-सी सरिता थी, जल भी स्वच्छ था,
कल-कल ध्वनि भी निकल रही संगीत-सी
व्याकुल को आश्वासन-सा देती हुई।
ठहरा, फिर वह दल उसके ही पुलिन में
प्रखर ग्रीष्म का ताप मिटाता था वही
छोटा-सा शुचि स्रोत, हटाता क्रोध को
जैसे छोटा मधुर शब्द, हो एक ही।

अभी देर भी हुई नहीं उस भूमि में
उन दर्पोद्धत यवनों के उस वृन्द को,
कानन घोषित हुआ अश्व-पद-शब्द से,
'लू' समान कुछ कुछ राजपूत भी आ गये।
लगा झुलसने यवनों का दल तेज से
हुए सभी सनद्ध, युद्ध आरम्भ था—
पण प्राणों का लगा हुआ-सा दीखता।
युवक एक जो उनका नायक था वहाँ
राजपूत था, उसका वदन बता रहा
जैसी भी थी चढी ठीक वैसा कडा
चढा धनुष था, वे जो आँखें लाल थी
तलवारों का भावी रंग बता रही।
यवन पथिक का झुण्ड बहुत घबरा गया
इन कानन-केसरियों की हुंकार से।
कहा युवक ने आगे बढ कर जोर से
"शस्त्र हमें जो दे देगा वह प्राण को
पावेगा प्रतिफल में, होगा मुक्त भी।"

यवन-चमूनायक भी कुछ कादर न था,
कहा—"मरेंगा करते ही कर्तव्य को—
वीर शस्त्र को देकर भीख न मांगते।"

मचा द्वन्द्व तब घोर उसी रणभूमि में
दोनों ही थे व्यस्त हुए रथचक्र-से
रणनिपुण, योद्धा, कर-लाघव था भरा
यवन वीर ने भाला निज कर में लिया
और चलाया वेग सहित, पर क्या हुआ
राजपूत का उसके सिर पर है खड़ा
निज हय पर, कर में भी असि उन्मुक्त है।
यवन-वीर भी घूम पड़ा असि खींच के
गुथीं बिजलियाँ दो मानो रण-व्योम में
वर्षा होने लगी रक्त के बिन्दु की,
युगल द्वितीया चन्द्र उदित अथवा हुए
घन-पटल का जलद-जाल-सा काट के।
किन्तु यवन का तीक्ष्ण वार अति प्रबल था,
जिसे रोकना राजपूत का काम था
रुधिर-फुहारा-पूर्ण-यवन-कर कट गया
असि जिसमें थी, वेग-सहित वह गिर पड़ा
पुच्छल तारा गगन, केतु-आकार सा।
अभी देर भी हुई नहीं सिर रुण्ड से
अलग आ पड़ा यवन-वीर का भूमि में।
वहीं हुए सब यवन वहीं अनुगत हुए
घेर लिया शिविरों को क्षत्रिय सैन्य ने।
"जय कुमार श्री अमरसिंह!"—इस नाद से
कानन घोषित हुआ, पवन भी व्यस्त हो
करने लगा प्रतिध्वनि उस जय शब्द की।
राजपूत बन्दी गण का [illegible] था।



शिविर पास के विशाल विटप-कुञ्ज बीच में
शिला-निर्मित [illegible] पर बैठी।
[illegible]
[illegible] अनुमति का [illegible]—
[illegible] में
[illegible] अभी [illegible]
[illegible] है [illegible]। [illegible]

प्रकृति करो से निर्मित कानन देश की
स्निग्ध उपल शुचि स्रोत सलिल से धो गये,
जैसे चन्द्रप्रभा में नीलाकाश भी
उज्ज्वल हो जाता है छुटी मलीनता।
महाप्राण जीवो के कीर्ति सुकेतु से
ऊँचे तरुवर खडे शैल पर झूमते।
आर्य्य जाति के इतिहासो के लेख-सी
जल स्रोत-सी बनी चित्र रेखावली
शल शिखाओ पर सुन्दर है दीखती।

करि-कर-सम कर-बीच लिये करवाल है
कौन पुरुष वह बैठा तट पर स्रोत के
दोनो आखें उठ-उठ कर बतला रही
"जीवन मरण"—समस्या उनमें है भरी।
यद्यपि है वह वीर श्रात तब भी अभी
हृदय थका है नही, विपुल बल पूण है,
क्योकि कमफल-लाभ एक बल है स्वय।
करुणामिश्रित वीरभाव उस बदन पर
अनुपम महिमा-मण्डित शोभित हो रहा
जन्म भूमि की आर महा करुणा भरो
यवन शत्रु प्रति कालानल के कोप-सी
दोनो आखे, तिस पर भी गम्भीरता
हुए भरा है अपने ही कतव्य का
आजीवन जिसको वह करता आ रहा।
कहो कौन है?—आर्य्यजाति के तेज-सा?
देशभक्त, जननी का सच्चा पुत्र है,
भारतवासी! नाम बताना पडेगा
मसि मुख मे ले अहो लेखनी क्या लिखे।
उस पवित्र प्रात स्मरणीय सुनाम को।
नही, नही, होगी पवित्र यह लखनी
लिखकर स्वर्णाक्षर मे नाम 'प्रताप' का।
कर अपने 'प्रताप' को विस्मत सो गये
अरे! कृतघ्न बनो मत उसको भूल के
यह महत्त्वमय नाम स्मरण करते रहो।

बैठे-बैठे वन-शोभा थे देखते—
अपनी लीला भूमि, सुगौरव पुञ्ज को।
सालुम्ब्रापति आये, अभिवादन किया।
आर्य्यनाथ ने कहा—"कहो सरदारजी,
समाचार है कैसा अब मेवाड़ का?"

कृष्णसिंह ने कहा—"देव! इस प्रांत में
एक बार फिर आर्य्य राज्य अब हो गया,
वीर राजपूतो की तलवारें खुली,
चमक रही मेवाड़-गगन में ज्वलित हो,
भाग रहे हैं भीत यवन मेवाड़ से।
राजन्! समाचार है सुखमय देश का
अभी यवन का एक वृन्द बंदी हुआ
राजकुँवर ने भेजा है उसको यहाँ
दुर्ग-द्वार पर वे बंदी है और भी,
सुनिए, उसमें है नवाब-पत्नी यहाँ।"

आर्य्यनाथ ने कहा—"किया किसने उसे
बंदी? स्त्री को क्षत्रिय देते दुख नही।"

कृष्णसिंह ने कहा—"प्रभो उस युद्ध में
जितने बंदी हुए सभी भेजे गये।
अब जो आज्ञा मिले बस वही ठीक है
वही किया जावेगा, पर यह बात भी
ध्यान कीजिए, वह वनिता है शत्रु की।
दिल्लीपति का सेनप हो, आया यहाँ
जो रहीमखाँ अकबर का चिर मित्र है
उसकी हो परिणीता है यह सुन्दरी
इसका बन्दी रहना नतिक दृष्टि से
ठीक नही क्या? जब तक ये सब शात हो।"

कहा तमक कर तब प्रताप ने—"क्या कहा
अनुचित बल से लेना काम सुकर्म है!
इस अबला के बल से होंगे सबल क्या?

रण मे टूटे ढाल तुम्हारी जो कभी
तो बचने के लिए शत्रु के सामने
पीठ करोगे ? नही, कभी ऐसा नही,
दृढ-प्रतिज्ञ यह हृदय, तुम्हारी ढाल बन
तुम्हे बचावेगा। इस पर भी ध्यान दो
घोर अँधेरे मे उठती जब लहर हो
तुमुल घात प्रतिघात पवन का हो रहा
भीमकाय जलराशि क्षुब्ध हो सामने
कर्णधार रक्षित दृढ हृदय सु नाव को
छोड, कूदना तिनके का अवलम्ब ले
घोर सिन्धु मे, क्या बुधजन का काम है ?
परम सत्य को छोड न हटते वीर हैं।
सालुम्ब्राधिपते ! क्या अब होगा यही
क्षुद्रकर्म इस धर्मभूमि मेवाड मे ?
और 'अमर' ने ही नायक होकर स्वय
किया अधम इस लज्जाकर दुष्कर्म को।
बस बस, ऐसे समाचार न सुनाइए
शीघ्र उसे उसके स्वामी के पास अब
भेज दीजिए, बिना एक भी दुख दिये।
सैनिक लोगो से मेरा सदेश यह
कहिए, कभी न कोई क्षत्रिय आज से
अबला को दुख दें, चाहे हो शत्रु की
शत्रु हमारे यवन—उन्ही से युद्ध है
यवनीगण से नही हमारा द्वेष है।
सिंह क्षुधित हो तब भी तो करता नही
मृगया, डर से दबी शृगाली-वृन्द की।"

• • •

"सुन्दर मुख की जय होती सर्वत्र ही
विजित, उसे कर सकता कोई भी नही।
रमणी के सुकुमार अग पर केशरी
सम्हल-सम्हल कर करता प्रेम प्रकाश है,

प्रिये। तुम्हारे इस अनुपम सौन्दर्य से
वशीभूत होकर वह कानन-केशरी,
दांत लगा न सका, देखा—गान्धार का
सुन्दर दाख"—कहा नवाव ने प्रेम से।
कँपी सुराही कर की, छलकी वारुणी
देख ललाई स्वच्छ मधूक कपोल म,
खिसक गई डर से जरतारी ओढनी,
चकाचौंध-सी लगी विमल आलोक को,
पुच्छमर्दिता वेणी भी थर्रा उठी।
आभपण भी झन-झन कर बस रह गये।
सुमन-कुज मे पचम स्वर से तीव्र हो
बोल उठा वीणा—"चुप भी रहिए जरा
जिसकी नारी छोडी जाकर शत्रु से,
स्वीकृत हो सादर अपने पति से, भला
वह भी बोले, तो चुप होगा कौन फिर!"
अपने हँसते मुख को शीघ्र बढा दिया।
तब नवाव ने पानपात्र निश्शेष कर
अच्छा है दुजन-कृत बहुसम्मान से।
सज्जन-कृत अपमान न होता है कभी
हृदय दिखाने को, होता वह भूल से,
किन्तु नीच नर जो करता सम्मान है
उसमे भी उसका घमण्ड है छिप रहा
केवल आडम्बर मे निज अभ्यथना
करता है वह अपनी कुत्सित नीति से।"
"बस बस, बातें अब विशेष न बनाइए"
कहा सुन्दरी ने—"यह सब भी ढग है
प्रत्युत्तर की अनुपस्थिति मे हास भी
पाद-पूर्ति सा होता है दुष्काव्य मे,
यह थोथा पाण्डित्य न आज बघारिए
होता जो निरुपाय वही क्या सरल है?"
"प्रिये। मम की बातें मत ऐसी कहो
इससे होता दुख—"कहा नव्वाब ने—
"मै जब से सेनापति हो आया यहा

सम्मुख, वीर प्रताप सदा [illegible] रहा
मैं होकर निश्चेष्ट देखता था वही—
रण-क्रीडा स्वाधीना जननी-भूमि के
वीर पुत्र की, निर्निमेष होकर अहो!
तुर्क देश से लेकर हा गान्धार तक
वीर भूमि के शतश कानन देख कर
वीर कथाओं को सुन कर भी आज तक
प्राप्त न हुई कभी थी मुझे प्रसन्नता,
क्योंकि सभी वे क्रूर और निर्दय मिले
युद्ध-काय करते थे अपने स्वाथ से।
जन्मभूमि के लिए, प्रजा-सुख के लिए
इतना आत्मोत्सर्ग भला किसने किया?
दुग्ध-फेन-निभ शय्या को यों छोड कर
सूखे पत्ते कौन चबाता है कहो—
मातृ-भूमि की भक्ति, देशहित-कामना,
किसको उत्तेजित करती है, वे कहाँ?
जिस कानन मे पहुँचा युद्ध विनोद मे
सदा मिला सन्नद्ध, लिये तलवार ही,
गिरि-कन्दर से देख स्वकीय शिकार को
जैसे झपटे सिंह, वही विक्रम लिये
वीर 'प्रताप' दहकता था दावाग्नि-सा
सत्य प्रिये! मैं देख शूर-छवि वीर की
होता था निश्चेष्ट, वाह कैसी प्रभा।
कितने युद्धो म मेरी निश्चेष्टता
हुई विजय का कारण वीर 'प्रताप' के,
क्योंकि मुग्ध होकर मैं उनको देखता।"

"कोरी भक्ति भला होती किस-काम की
कुछ उसका उपयोग अवश्य दिखाइए—"
कहा सुन्दरी ने तन कर कुछ गर्व से—
"सच्चे तुर्क न होते कभी कृतघ्न हैं।"
"प्रिये! भला जिस मुख से मैं तल्वार अब
लेकर कर मे समर करूँ उस वीर से,

मिलती मुझे पराजय भी यदि युद्ध मे
तो भी इतना क्षोभ न होता हृदय मे।"
कहा, देख कर नत दृग से नव्वाब ने—

"जिसकी महिमा गाते हैं समकण्ठ से
भारत के नर-नारी, उस सम्राट का
बढा महत्त्व, हुई प्रताप से शत्रुता
सचमुच ऐसा वीर उदार कहा मिले।
मैं तो अब, फिर जाऊँगा दिल्ली अभी,
चाहे मुझको लोग भले कायर कहे
उस अपयश को सह लूँगा मै भले ही
किन्तु न सैनप-पद अब मेरे योग्य है।

कहा पास मे और खिसक कर प्रेम से
कमल-लोचना बेगम ने नव्वाब से—

"प्रियतम! सचमुच यह पार्वत्य प्रदेश भी
अब न मुझे अच्छा लगता है, शीघ्र ही
मै चलना चाहती सुखद काश्मीर को।
कुछ दिन की छुट्टी लेकर सम्राट से,
चलिए जल-परिवर्तन करने शीघ्र ही
और हो सके तो मिलकर सम्राट से,
राणा से शुभ सधि करा ही दीजिये।"

"मुग्धे! इतने पर भी तुम परिचित नही
कुलमानी, दृढ, वीर महान् 'प्रताप' से!
भला करेगा सधि कभी वह यवन से?
कई हो चुके हैं प्रस्ताव मिलाप के
पर प्रताप निज दृढता ही पर अटल है—"
कहा खानखाना ने कुछ गम्भीर हो—
"वामलोचने! कर्मयोग-रत वीर को
मिलती सिद्धि सदा अपने सत्कर्म से
उसके कुछ सयोग स्वय बन जायँगे
ऐसे, जिससे उसको मिले अभीष्ट फल।

सच्चा साधक है सपूत निज देश का
मुक्त पवन मे पला हुआ वह वीर है
सच 'प्रताप' को स्वय मिलेगी सम्पदा
परमपिता की जो होगी शुभ कामना
तो वह मुझे बनावेगा अपना कभी
परिचारक साधन मे इस सत्काव्य के।"

● ● ●

तारा-हीरक-हार पहन कर, चद्रमुख—
दिखलाती, उतरी आती थी चादनी
(शाही महलो के ऊँचे मीनार से)
जैसे कोई पूण सुन्दरी प्रेमिका
मन्थर गति से उतर रही हो सौध से
अकबर के साम्राज्य भवन के द्वार से
निकल रही थी लपट सुगन्ध सनी हुई
बसरा के 'गुलाब' से वासित हो रहा,
भारत का सुख शीत पवन, जैसे कही
मिले विलाम नवीन विवेकी हृदय से
राज भवन मे मणिमय दीपाधार सब
स्वय प्रकाशित होते थे, आलोक भी
फैल रहा था, स्वच्छ सुविस्तृत भवन मे
कृत्रिम मणिमय लता, भित्ति पर जो बनी
नव वसन्त-सा उन्हें विमल आलोक ही
मुक्ताफलशालिनी बनाता था वहाँ,
कुसुम-कली की मालायें थी झूमती
तोरण-वदनवार हरे हरे द्रुमपत्र के।
सुरभि पवन से सब कलियाँ खिलने लगी,
कृश मालाए गजरे सी अब हो गई।

सज्ज सभागृह मे सब अपने स्थान पर
वन्दी, चारण, प्रतिहारीगण थे खडे,
ढले हुए सुन्दर साँचे मे शिल्प के
पुतले-जैसे सजे हुये हो भवन मे।

पुष्पाधार, सजाये कुसुमित क्यारियाँ,
मौन खडे थे सुन्दर मालाकार-से,
कृत्रिम भँवर न गूँज रहा था श्वास से।
सुन्दर मणिमय मच मनोरम था लगा,
बैठे थे उपधान सहारे हिन्द के—
अकबर शाहशाह चिबुक कर पर धरे।
अभिवादन कर, खडे रहे निर्दिष्ट निज—
स्थानो पर सब चतुर शिरोमणि मन्त्रिगण
उस प्रभावशाली सतेज दरबार म
क्षत्रिय नरपतिगण भी सविनय थे झुके।

तब रहीमखाँ के प्रति रत्न करके, चतुर—
अकबर ने कुछ हँस कर पूछा व्यग से—
"कहिए यहाँ आगरे की जलवायु से
स्वास्थ्य हुआ अब ठीक आपका या नही?"

कहा खानखाना ने सिर नीचे किये—
"शाहशाह अब भी कुछ वैसा है नही
जैसा अच्छा होना हूँ मै चाहता,
इसीलिए अब मेरी है यह प्राथना
मुझे हुक्म हो तो जाऊँ काश्मीर ही,
क्योकि वही जलवायु मुझे है स्वास्थ्यकर,
यही बताया है हकीम ने भी मुझे।"

अकबर ने फिर कहा—"भला यह तो कहो,
क्योकर ऐसा स्वास्थ्य तुम्हारा हो गया?"

कहा खानखाना ने फिर कुछ नम्र हो—
'बस हुजूर, मुझसे न। वही कहलाइए
जिसे आपसे कहा नही मै चाहता।
क्षमा कीजिये। यदि आज्ञा होगी कि हा,
कहा! मुझे फिर सच कहना ही पडेगा।"

अकबर ने तब कहा—"सत्य निभय कहो।"

कहा खानखा ने झुक कर—"जिस दिवस
मुझे बनाकर सैनप भेजा आपने

वीरभूमि मेवाड-विजय के हेतु, हा—
उस दिन सचमुच मुझे असीम प्रसन्नता
हुई कि, मैं भी देखूँगा उस वीर को,
जो अब तक होकर अबाध्य सम्राट का
करता है सामना बडे उत्साह से।
सचमुच शाहशाह एक ही शत्रु वह
मिला आपको है कुछ ऊँचे भाग्य से,
पर्वत की कन्दरा महल है, बाग हैं—
जंगल ही आहार—घास, फल फूल है
सच्चा हृदय सहायक, उसके साथ है।
मुगल-वाहिनी से होता जब सामना
भिड जाना सन्मुख उसका कर्त्तव्य था।
सुकुमारी कन्या औ' बालक का कभी
छिन जाता आहार बना जो घास से।
वे भी जब हैं अश्रु बहाते नही तो
होता है पाषाण हृदय द्रवमय कभी।
तिस पर भी उसके इस हृदय महत्त्व का
कैसे मे वर्णन कर सकता हूँ प्रभो।
राजकुँवर ने बेगम को बन्दी किया
फिर भी सादर उसे भेज कर पास मे
मेरे, मुझको कैसा है लज्जित किया,
मनोवेदना से मैं व्याकुल हो उठा,
इसीलिये यह रोग हुआ है असल मे।
इससे छुटकारे का एक उपाय है—
आज्ञा हो तो मैं भी कुछ विनती करूँ।"
हँसे और बोले अकबर—"हा हाँ कहो,
सब मुझको है विदित, हुआ जो-जो कहा।"

कहा खानखाना ने—"राणा ने कभी—
किया नही आक्रमण आप के राज्य पर।
अपने छोटे राज्य मात्र से तुष्ट है,
और किसी से भडक रही हो शत्रुता
तो वह अपने भुजबल से जा कर सके
करे, शिथिल होगा। तो भी बल आपका

आप क्या न अपना महत्त्व दिखलाइए।
सच कहिए, क्या ऐसे उन्नत हृदय को
दुख देना है अच्छा ईश्वर-नीति मे ?
केवल चुप हो जाना ही है आपका—
सन्धि शांति के मगलघोष-समान ही,
दो महत्त्वमय हृदय एक जब हो गये
फैलेगा फिर वह महान सौरभ यहा
जिसके सुखमय गध प्रेम मे मत्त हो,
भारत के नर गावेगे यश आपका।"
अकबर ने फिर कहा—"बात यह ठीक है,
अब न लडाई राणा से उपयुक्त है।
भेजो आज्ञापत्र शीघ्र उस सैन्य को,
सब जल्दी ही चले आयेँ अजमेर मे।"

कहा खानखाना ने—"हे उन्नत हृदय—
भारत के सम्राट ! दयामय आपकी
सुयश-लता का बीज उर्वरा भूमि मे
शान्ति-वारि मे सिञ्चित हो, फलवती हो।
अब न काम है जाने का काश्मीर को
इन चरणो की सेवा ही भू-स्वर्ग है।"



कानन कुसुम

(संवत् १९६६ से १९७४ तक की स्फुट कवितायें)

प्रभो !

विमल इन्दु की विशाल किरणें
प्रकाश तेरा बता रही हैं
अनादि तेरी अनन्त माया
जगत् को लीला दिखा रही हैं

प्रसार तेरी दया का कितना
देखना हो तो देख सागर
तेरी प्रशंसा का राग प्यारे
तरंगमालायें गा रही हैं

तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना
वो देख सकता है चंद्रिका को
तुम्हारे हँसने कि धुन में नदियाँ
निनाद करती हि जा रही हैं
विशाल मन्दिर कि यामिनी में
जिसे निरखना हो दीपमाला
तो तारिकाओं कि ज्योति उसका
पता अनूठा बता रही है

प्रभो ! प्रेममय प्रकाश तुम हो
प्रकृति पद्मिनी के अंशुमाली
असीम उपवन के तुम हो माली
धरा बराबर जता रही है
जो तेरी होवे दया दयानिधि
तो पूर्ण होते सकल मनोरथ
सभी ये कहते पुकार करके
यही तो आशा दिला रही है



वन्दना

जयति प्रेम निधि ! जिसकी करुणा नौका पार लगाती है
जयति महासंगीत ! विश्व-वीणा जिसकी ध्वनि गाती है
कादम्बिनी कृपा की जिसकी सुधा-नीर बरसाती है
भव-कानन की धरा हरित हो जिससे शोभा पाती है
निर्विकार लीलामय ! तेरी शक्ति न जानी जाती है
ओतप्रोत हो तो भी सबकी वाणी गुण-गण गाती है
गद्गद्-हृदय-निःसृता यह भी वाणी दौड़ी जाती है
प्रभु ! तेरे चरणों में पुलकित होकर प्रणति जताती है



नमस्कार

जिस मंदिर का द्वार सदा उन्मुक्त रहा है
जिस मंदिर में रंक नरेश समान रहा है
जिसके हैं आराम प्रकृति-कानन ही सारे
जिस मंदिर के दीप इन्दु, दिनकर औ' तारे
उस मंदिर के नाथ को, निरुपम निरामय स्वस्थ को
नमस्कार मेरा सदा पूरे विश्व-गृहस्थ को



प्रतिमा हि देख करके क्यो भाल मे है रेखा
निर्मित किया किसी ने इसको, यही है लेखा
हर एक पत्थरो मे वह मूर्त्ति ही छिपी है
शिल्पी ने स्वच्छ करके दिखला दिया, वही है

इस भाव का हमारे उसको तो देख लीजे
धरता है वेश वोही जैसा कि उसको दीजे
यो ही अनेक रूपी बनकर कभी पुजाया
लीला उसी की जग मे सबम वही समाया

मस्जिद, पगोडा, गिरजा, किसको बनाया तूने
सब भक्त भावना के छोटे-बडे नमूने
सुन्दर वितान कैसा आकाश भी तना है
उसका अनन्त-मन्दिर, यह विश्व ही बना है

गुण जो तुम्हारा पार करने का उसे विस्मृत न हो
यह नाव मछली को खिलाने की प्रभो बसी न हो

हे गुणाधार, तुम्ही बने हो कणधार विचार लो
है दूसरा अब कौन, जैसे बने नाथ! सम्हार लो

ये मानसिक विप्लव प्रभो, जो हो रहे दिन रात हैं
कुविचार क्रूरो के कठिन कैसे कुटिल आघात हैं

हे नाथ, मेरे सारथी बन जाव मानस-युद्ध में
फिर तो ठहरने से बचेंगे एक भी न विरुद्ध में

देव दिनकर क्या प्रभा-पूरित उदय होने को है
चक्र के जोडे कहो क्या मोदमय होने को हैं

वृत्त आकृत कुकुमारुण कञ्ज-कानन मित्र है
पूव मे प्रकटित हुआ यह चरित जिसका चित्र है

कल्पना कहती है, कन्दुक है महाशिशु-खेल का
जिसका है खिलवाड इस ससार में सब मेल का



हाँ, कहो, किस ओर खिचते ही चले जाओगे तुम
क्या कभी भी खेल तजकर पास भी आओगे तुम

नेत्र को यो मीच करके भागना अच्छा नही
देखकर हम खोज लेंगे, तुम रहो चाहे कही

पर कहो तो छिपके तुम जाओगे क्यो किस ओर को
है कहाँ वह भूमि जो रक्खे मेरे चितचोर को

बनके दक्षिण-पौन तुम कलियो से भी हो खेलते
अलि बने मकरन्द की मीठी झडी हो झेलते

गा रहे श्यामा के स्वर में कुछ रसीले राग से
तुम सजावट देखते हो प्रकृति की अनुराग से

देके ऊपा-पट प्रकृति को हो बनाते सहचरी
भाल के कुकुम-अरुण की दे दिया बिंदी खरी

नित्य-नूतन रूप उसका हो बनाकर देखते
वह तुम्हें है देखती, तुम युगल मिलकर खेलते

किन्तु तुम्हे विश्राम कहाँ है नाम को
केवल मोहित हुए लोभ से काम को
ग्रीष्मातान है बिछा तुम्हारे हृदय म
कुसुमाकर पर ध्यान नही इस समय मे

अविरल आँसू-धार नेत्र से बह रहे
वर्षा ऋतु का रूप नही तुम लख रहे
मेघ-वाहना पवन-माग म विचरती
सुन्दर श्रम-लव बिन्दु धरा को वितरती

तुम तो अविरत चले जा रहे हो कही
तुम्हे सुघर ये दृश्य दिखाते हैं नही
शरद-शर्वरी शिशिर प्रभजन-वेग मे
चलना है अविराम तुम्ह उद्वेग मे

भ्रम-कुहेलिका से दृग पथ भी भ्रान्त है
है पग-पग पर ठोकर, पर नहि शान्त है
व्याकुल होकर, चलते हो क्या माग मे
छाया क्या है नही कही इस माग म

त्रस्त पथिक, देखो करुणा विश्वेश की
खडी दिलाती तुम्ह याद हृदयेश की
शीतातप की भीति सता सकती नही
दुख तो उसका पता न पा सकता कही

भ्रान्त शान्ति पथिको का जीवन मूल है
इसका ध्यान मिटा देना सब भूल है
कुसुमित मधुमय जहा सुखद अलिपुञ्ज है
शान्ति-हेतु वह देखो 'करुणा-कुञ्ज' है



वर्षा होने लगी कुसुम मकरन्द की,
प्राण-पपीहा बोल उठा आनन्द मे
कैसी छवि ने बाल अरुण सी प्रकट हो,
शून्य हृदय को नवल राग रञ्जित किया

सद्य स्नात हुआ फिर प्रेम-सुतीर्थ मे
मन पवित्र उत्साहपूर्ण भी हो गया,
विश्व विमल आनन्द भवन सा बन रहा
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था

हृदय-वेदना

सुना प्राण प्रिय, हृदय-वेदना विकल हुई क्या कहती है
तव दु सह यह विरह रात दिन जैसे सुख से सहती है
मैं तो रहता मस्त रात दिन पाकर यही मधुर पीडा
वह होकर स्वच्छन्द तुम्हारे साथ किया करती क्रीडा

हृदय वेदना मधुर मूर्त्ति तव सदा नवीन बनाती है
तुम्हे न पाकर भी छाया मे अपना दिवस बिताती है
कभी समझकर रुष्ट तुम्हे वह करके विनय मनाती है
तिरछी चितवन भी पा करके तुरत तुष्ट हो जाती है

जब तुम सदय नवल नीरद से मन-पट पर छा जाते हो
पीडास्थल पर शीतल बनकर तब आसू बरसाते हो
मूर्त्ति तुम्हारी सदय और निदय दोनो ही भाती है
किसी भाति भी पा जाने पर तुमको यह सुख पाती है

कभी कभी हो ध्यानवचिता बडी विकल हो जाती है
क्रोधित होकर फिर यह हमको प्रियतम ! बहुत सताती है
इसे तुम्हारा एक सहारा, किया करो इससे क्रीडा
मैं तो तुमको भूल गया हूँ पाकर प्रेममयी पीडा



ग्रीष्म का मध्याह्न

विमल व्योम म देव दिवाकर अग्नि-चक्र से फिरते हैं
किरण नही, ये पावक के कण जगती-तल पर गिरते हैं
छाया का आश्रय पाने को जीव मडली गिरती है
चण्ड दिवाकर देख सती-छाया भी छिपती फिरती है
प्रिय वसत के विरह-ताप से धरा तप्त हो जाती है
तृष्णा होकर तृपित प्यास-ही-प्यास पुकार मचाती है
स्वेद धूलि-कण धूप-लपट के साथ लिपटकर मिलते हैं
जिनके तार व्योम से बँधकर ज्वाला-ताप उगिलते हैं
पथिक देख आलोक वही फिर कुछ भी देख न सकता है
होकर चकित नही आगे तब एक पैर चल सकता है
निजन कानन मे तरवर जो खडे प्रेत से रहते हैं
डाल हिलाकर हाथा से वे जीव पकडना चाहते हैं
देखो, वृक्ष शाल्मली का यह महा भयावह कैसा है
आतप भीत विहङ्गम-कुल का क्रन्दन इस पर वैसा है
लू के झोंके लगने से जब, डाल सहित यह हिलता है
कुम्भकण मा कोटर मुख से अगणित जीव उगिलता है
हरे हरे पत्ते वृक्षा के तापित हो मुरझाते हैं
देखादेखी सूख सूखकर पृथ्वी पर गिर जाते हैं
धूल उडाता प्रवल प्रभजन उनको साथ उडाता है
अपने खड खड शब्दा को भी उनके साथ बढाता है



जलद्-आह्वान

शीघ्र आ जाओ जलद ! स्वागत तुम्हारा हम करें
ग्रीष्म से सन्तप्त मन के ताप को कुछ कम करें
है धरित्री के उरस्थल मे जलन तेरे बिना
शून्य था आकाश तेरे ही जलद ! घेरे बिना
मानदण्ड समान जो ससार को है मापता
लूह की पचाग्नि जो दिन रात ही है तापता
जीव जिनके आश्रमो की मी गुहा मे माद मे
वास करते, खेलते हैं बालवृन्द विनोद से
पत्रहीना वल्लरी जैसी जटा बिखरी हुई
उत्तरीय समान जिन पर धूप है निखरी हुई
शैल वे साधक सदा जीवन-सुधा को चाहते
ध्यान म काली घटा के नित्य ही अवगाहते
धूलिधूसर है धरा मलिना तुम्हारे ही लिये
है फटी दूर्वादलो की श्याम साड़ी देखिये
जल रही छाती, तुम्हारा प्रेम-वारि मिला नहीं
इसलिये उसका मनोगत भाव-फूल खिला नही
नेत्र-निर्झर सुख-सलिल से भरें, दुख सारे भगें
शीघ्र आ जाओ जलद ! आनन्द के अकुर उग

स्थिर दृष्टि है जल बिन्दु-पूरित, भाव मानस का भरा
उन अश्रुकण मे एक भी मन मे न इस भव से डरा
वह स्वच्छ शरद-ललाट चिन्तित सा दिखाई दे रहा
पर एक चिन्ता थी वही जिसको हृदय था दे रहा

था बद्ध-पद्मासन, हृदय अरविन्द सा था खिल रहा
वह चिन्त्य मधुकर भी मधुर गुजार करता मिल रहा
प्रति क्षण लहर ले बढ रहे थे भाव निधि म वेग से
इस विश्व के आलोकमणि की खोज म उद्वेग से

प्रति श्वास आवाहन किया करता रहा उस इष्ट को
जो स्पश कर लेता कभी था पुण्य प्रेम अभीष्ट को
परमाणु भी सब स्तब्ध थे, रोमाच भी था हो रहा
था स्फीत वक्षस्थल किसी के ध्यान मे होता रहा

आनन्द था उपलब्ध की सुख-कल्पना म मिल रहा
कुछ दु ख भी था देर होने से वही अनमिल रहा
दुष्प्राप्य की हो प्राप्ति मे हा बद्ध जीवनमुक्त था
कहिये उसे हम क्या कहे, अनुरक्त था कि विरक्त था

कुछ काल तक वह जब रहा ऐसे मनोहर ध्यान मे
आनन्द देती सुन पडी मजीर की ध्वनि कान मे
नव स्वच्छ सन्ध्या तारिका मे से अभी उतरी हुई
उस भक्त के ही सामने आकर खडी पुतरी हुई

वह मूर्त्ति बोली—'भक्तवर! क्या यह परिश्रम हो रहा
क्यो विश्व का आनन्द मदिर आह! तू यो खो रहा
यह छोडकर सुख है पडा किसके कुहक के जाल मे
सुख लेख म तो पढ रही हूँ स्पष्ट तेरे भाल मे

सुन्दर सुहृद सम्पति सुखदा सुन्दरी ले साथ मे
ससार यह सब सौपना है चाहता तव हाथ म
फिर भागते हो क्यो? न हटता यो कभी निर्भीक है
ससार तेरा कर रहा स्वागत, 'चलो सब ठीक है'

उन्नत हुए भ्रुयुग्म फिर तो बक ग्रीवा भी हुई
फिर चढ गई आपादमस्तक लालिमा दौडी हुई
'है सत्य सुन्दरि! तव कथन, पर कुछ सुनो मेरा कहा
आनन्द मे विह्वल हुए से भक्त ने खुलकर कहा

जब ये हमारे हैं, भला फिर किसलिये हम छोड दें
दुष्प्राप्य को, जो मिल रहा सुखसूत्र उसको तोड दें
जिसके बिना फीके रहे सारे जगत्-सुख भोग ये
उसको तुरत ही त्याग करने को बताते लोग ये

उस ध्यान के दो बूँद आँसू ही हृदय-सर्वस्व हैं
जिस नेत्र मे हो वे नही समझो कि वे ही नि स्व हैं
उस प्रेममय सर्वेश का सारा जगत् औ' जाति है
ससार ही है मित्र मेरा, नाम को न अराति है

फिर, कौन अप्रिय है मुझे, सुख दु ख यह सब कुछ नही
केवल उसी की है कृपा आनन्द और न कुछ कही
हमको रुलाता है कभी, हाँ, फिर हँसाता है कभी
जो मौज में आता जभी उसके, वही करता तभी

वह प्रेम का पागल बडा आनन्द देता है हमें
हम रूठते उससे कभी, फिर भी मनाता है हमें
हम प्रेम-मतवाले बने, अब कौन मत-वाले बनें
मत धर्म सबका ही वहाया प्रेमनिधि-जल में घने

आनन्द-आसन पर सुधा-मन्दाकिनी में स्नात हो
हम और वह बैठे हुए हैं प्रेम-पुलकित-गात हो
यह देख ईर्ष्या हो रही है सुन्दरी। तुमको अभी
दिन बीतने दो दो कहा, फिर एक देखोगी कभी

फिर वह हमारा हम उसी के, वह हमी, हम वह हुए
तब तुम न मुझसे भिन्न हो, सब एक ही फिर हो गये
यह सुन हँसी वह मूर्ति करुणा की हुई कादम्बिनी
फिर तो झडी सी लग गई आनन्द के जल की घनी



रजनी-गंधा

दिनकर अपनी किरण-स्वर्ण से रञ्जित करके
पहुँचे प्रमुदित हुए प्रतीची पास सँवर के
प्रिय सगम से सुखी हुई आनन्द मानती
अरुण राग रञ्जित कपोल से शोभा पाती

दिनकर-कर से व्यथित बिताया नीरस वासर
वही हुए अति मुदित विहगम अवसर पाकर
कोमल कलरव किया बडा आनद मनाया
किया नीड म वास, जिन्ह निज हाथ बनाया

देखो मन्थर गति से मारुत मचल रहा है
हरी-हरी उद्यान-लता मे विछल रहा है
कुसुम सभी खिल रहे भरे मकरन्द मनोहर
करता है गुञ्जार पान करके रस मधुकर

देखो वह है कौन कुसुम कोमल डाली मे
किये सम्पुटित वदन दिवाकर किरणाली मे
गौर अङ्ग को हरे पल्लवो बीच छिपाती
लज्जावती मनोज्ञ लता का दृश्य दिखाती

मधुकर-गण का पुञ्ज नही इस ओर फिरा है
कुसुमित कोमल कुज बीच वह अभी घिरा है
मलयानिल मदमत्त हुआ इस ओर न आया
इसके सुन्दर सौरभ का कुछ स्वाद न पाया

तिमिर भार फैलाती सी रजनी यह आई
सुन्दर चन्द्र अमन्द हुआ प्रकटित सुखदाई
स्पर्श हुआ उस लता लजीली से विधु-कर का
विकसित हुई प्रकाश किया निज दल मनहर का

देखो देखो, खिली कली अलि-कुल भी आया
उसे उडाया मारुत ने पराग जो पाया
सौरभ विस्तृत हुआ मनोहर अवसर पाकर
म्लान वदन विकसाया इस रजनी ने आकर

कुलबाला सी लजा रही थी जो वासर मे
रूप अनूपम सजा रही है वह सुखसर मे
मधुमय कोमल सुरभि पूर्ण उपवन जिससे है
तारागण की ज्योति पडी फीकी इससे है

रजनी म यह खिली रहेगी किस आशा पर
मधुकर का भी ध्यान नही है क्या पाया फिर
अपने सदृश समूह तारिका का रजनी भर
निर्निमेष यह देख रही है कैसे सुख पर

कितना है अनुराग भरा इस छोटे तन मे
निशा-सखी का प्रेम भरा है इसके मन म
'रजनी-गधा' नाम हुआ है सार्थक इसका
चित्त प्रफुल्लित हुआ प्राप्त कर सौरभ जिसका



सरोज

अरुण अभ्युदय से हो मुदित मन प्रशान्त सरसी मे खिल रहा है
प्रथम पत्र का प्रसार करके सरोज अलि-गन से मिल रहा है
गगन मे सन्ध्या की लालिमा से किया सकुचित वदन था जिसने
दिया न मकरन्द प्रेमियो को गले उन्ही के वो मिल रहा है
तुम्हारा विकसित वदन बताता, हँसे मित्र को निरख के कैसे
हृदय निष्कपट का भाव सुन्दर सरोज ! तुझ पर उछल रहा है
निवास जल ही मे है तुम्हारा तथापि मिश्रित कभी न होते
'मनुष्य निर्लिप्त होवे कैसे'—सुपाठ तुमसे ये मिल रहा है
उन्ही तरङ्गो मे भी अटल हो, जो करना विचलित तम्हे चाहती
'मनुष्य कर्त्तव्य म या स्थिर हो'—ये भाव तुमम अटल रहा है
तुम्हे हिलावे भी जो समीरन, तो पावे परिमल प्रमोद-पूरित
तुम्हारा सौजन्य है मनोहर, तरग कहकर उछल रहा है
तुम्हारे केशर से ही सुगन्धित परागमय हो रहे मधुव्रत
'प्रसाद' विश्वेश का हो तुम पर यही हृदय से निकल रहा है



मलिना

नव-नील पयोधर नभ में काले छाये
भर भर कर शीतल जल मतवाले धाये
लहराती ललिता लता सुबाल सजीली
लहि संग तरुन के सुन्दर बनी सजीली
फूलो से दोनो भरी डालिया हिलती
दोनो पर बैठी खग की जोडो मिलती
बुलबुल कोयल हैं मिलकर शोर मचाते
बरसाती नाले उछल उछल बल खाते
वह हरी लताओ की सुन्दर अमराई
बन बैठी है सुकुमारी सी छविछाई
हर ओर अनूठा दृश्य दिखाई देता
सब मोती ही से बना दिखाई देता
वह सघन कुञ्ज सुख-पुञ्ज भ्रमर की आली
कुछ और दृश्य है सुषमा नई निराली
बैठी है बसन मलीन पहिन इक बाला
पुरइनपत्रो के बीच कमल की माला

उस मलिन वसन में अगप्रभा दमकीली
ज्यो धूसर नभ मे चन्द्रकला चमकीली
पर हाय! चन्द्र को घन ने क्या है घेरा
उज्ज्वल प्रकाश के पास अजीव अँधेरा
उस रस-सरवर मे क्यो चिन्ता की लहरी
चचल चलती है भावभरी है गहरी
कल-कमल कोश पर अहो! पडा क्यो पाला
कैसी हाला ने किया उसे मतवाला
किस धीवर ने यह जाल निराला डाला
सीपी से निकली है मोती की माला
उत्ताल तरग पयोनिधि मे खिलती है
पतली मृणालवाली नलिनी हिलती है
नहिं वेग-सहित नलिनी को पवन हिलाओ
प्यारे मधुकर से उसको नेक मिलाओ
नव चद अमद प्रकाश लहे मतवाली
खिलती है, उसको करने दो मनवाली



जल-विहारणी

चन्द्रिका दिखता रही है क्या अनूपम सी छटा
खिल रही हैं कुसुम की कलियाँ सुगन्धो की घटा
सत्र दिगन्तो मे जहाँ तक दृष्टि-पथ की दौड है
सुधा का सुन्दर सरोवर दीखता बेजोड है
रम्य कानन की छटा तट पर अनोखी देख लो
शान्त है, कुछ भय नही कुछ समय तक मत टलो
अन्धकार घना भरा है लता और निकुज मे
चन्द्रिका उज्ज्वल बनाता है उन्हे सुख-पुज मे
शैल क्रीडा का बनाया है मनोहर काम ने
सुधाकण से सिक्त गिरिश्रेणी खडी हैं सामने
प्रकृति का मनमुग्धकारी गूँजता सा गान है
शैल भी सिर को उठाकर खडा हरिण समान है
गान मे कुछ बीन की सुन्दर मिली झनकार है
कोकिला की कूक है या भृग का गुजार है
स्वच्छ-सुन्दर नीर के चचल तरगा में भली
एक छोटी-सी तरी मनमोहिनी आती चली

पख फैलाकर विहगम उड रहा आकाश में
या महा इक मत्स्य है, जो खेलता जल-वास में
चन्द्रमण्डल की सभा उस पर दिखाई दे रही
साथ ही में शुक्र की शोभा अनूठी ही रही
पवन-ताडित नीर के तरलित तरगो में हिले
मजु सौरभ-पुज युग ये कज कैसे हैं खिले
या प्रशान्त विहायसी में शोभते हैं प्रात के
तारिका-युग शुभ्र हैं आलोक-पूरन गात के
या नवीना यामिनी की दीखती जोडी भली
एक विकसित कुसुम है तो दूसरी जैसे कली
जल विहार विचारकर विद्याधरा की बालिका
आ गई हैं क्या ? कि ये हैं इन्दु-कर की मालिका
एक की तो और हो बाँकी अनोखी आन है
मधुर-अधरो में मनोहर मन्द मृदु मुसक्यान है
इन्दु में उस इन्दु के प्रतिविम्ब के सम है छटा
साथ में कुछ नील मेघो की घिरी सी है घटा
नील नीरज इन्दु के आलोक में भी खिल रहे
बिना स्वातीबिन्दु विद्रुम सीप में मोती रहे
रूपसागर-मध्य रेखा-वलित कम्बुक माल है
कज एक खिला हुआ है, युगल किन्तु मृणाल है
चारु-तारा-वलित अम्बर बन रहा अम्बर अहा
चन्द्र उसमे चमकता है, कुछ नही जाता कहा
कज कर की उगलियाँ हैं सुन्दरी के तार में
सुन्दरी पर एक कर है और ही कुछ तार में
चन्द्रमा भी मुग्ध मुख-मण्डल निरखता ही रहा
कोकिला का कठ कोमल राग में ही भर रहा
इन्दु सुन्दर व्योम मध्य प्रसार कर किरणावली
क्षुद्र तरल तरग का रजताभ करता है छली
प्रकृति अपने नेत्र-तारा से निरखती है छटा
घिर रही है घोर इक आनन्द घन की सी घटा



ठहरो

वेगपूर्ण है अश्व तुम्हारा पथ मे कैसे
कहा जा रहे मित्र। प्रफुल्लित प्रमुदित जैसे
देखो, आतुर दृष्टि किये वह कौन निरखता
दयादृष्टि निज डाल उसे नहिं कोई लखता
'हट जाओ' की हुंकार से होता है भयभीत वह
यदि दोगे उसको सान्त्वना, होगा मुदित सप्रीत वह
उसे तुम्हारा आश्रय है, उसको मत भूलो
अपना आश्रित जान गर्व से तुम मत फूलो
कुटिला भृकुटी देख भीत कम्पित होता है
डरने पर भी सदा कार्य में रत होता है
यदि देते हो कुछ भी उसे, अपमान न करना चाहिये
उसको सम्बोधन मधुर से तुम्हे बुलाना चाहिये
तनिक न जाओ मित्र! तनिक उसकी भी सुन लो
जो कराहता खाट धरे, उसको कुछ गुन लो
कर्कश स्वर की बोल कान मे न सुहाती है
मीठी बोली तुम्हे नही कुछ भी आती है
उसके नेत्रो मे अश्रु है, वह भी बडा समुद्र है
अभिमान-नाव जिसपर चढे वह तो अति ही क्षुद्र है

वह प्रणाम करता है, तुम नहिं उत्तर देते
क्यों क्या वह है जीव नही जो रख नहिं देते
कैसा यह अभिमान, अहो कैसी कठिनाई
उसने जो कुछ भूल किया, वह भूलो भाई
उसका यदि वस्त्र मलीन है, पास विठा सकते नही
क्या उज्ज्वल वस्त्र नवीन इक उसे पिन्हा सकते नही
कुंचित है भ्रू-युगल वदन पर भी लाली है
अधर प्रस्फुरित हुआ म्यान असि से खाली है
डरता है वह तुम्ह देख, निज कर को रोको
उस पर कोई वार करे तो उसको टोको
है भीत जो कि ससार से, असि नहिं है उनके लिये
है उसे तुम्हारी सान्त्वना नम्र बनाने के लिये



बाल-क्रीड़ा

हँसते हो तो हँसो खूब, पर लोट न जाओ
हँसते-हँसते आखो से मत अश्रु बहाओ
ऐसी क्या है बात ? नही जो सुनते मेरी
मिली तुम्हे क्या कहो कही आनँद की ढेरी
ये गोरे-गोरे गाल हैं लाल हुए अति मोद से
क्या क्रीडा करता है हृदय किसी स्वतत्र विनोद से
उपवन के फल फूल तुम्हारा मार्ग देखते
काँटे ऊँचे नही तुम्हे है एक लेखते
मिलने को उनसे तुम दौडे ही जाते हो
इसमे कुछ आनन्द अनोखा पा जाते हो
माली बूढा बकबक किया करता है, कुछ बस नही
जब तुमने कुछ भी हँस दिया, क्रोध आदि सब कुछ नही
राजा हो या रक एक ही सा तुमको है
स्नेह-योग्य है वही हँसाता जो तुमको है
मान तुम्हारा महामानियो से भारी है
मनोनीत जो बात हुई तो सुखकारी है
वृद्धो की गल्पकथा कभी होती जब प्रारम्भ है
कुछ सुना नही तो भी तुरत हँसने का आरम्भ है



कोकिल

नया हृदय है, नया समय है, नया कुज है
नये कमल-दल-बीच नया किजल्क-पुज है
नया तुम्हारा राग मनोहर श्रुति सुखकारी
नया कण्ठ कमनीय, वाणि वीणा-अनुकारी
यद्यपि है अज्ञात ध्वनि कोकिल ! तेरी मोदमय
तो भी मन सुनकर हुआ शीतल, शात, विनोदमय
विकसे नवल रसाल मिले मदमाते मधुकर
आलबाल मकरन्द विन्दु से भरे मनोहर
मजु मलय हिल्लोल हिलाता है डाली को
मीठे फल के लिये बुलाता जो माली को
बैठे किसलय-पुज मे उसके ही अनुराग से
कोकिल क्या तुम गा रहे, अहा रसीले राग से
कुमुद-बन्धु उल्लास सहित है नभ मे आया
बहुत पूव से दौडा था, अब अवसर पाया
रुका हुआ है गगन-बीच इस अभिलाषा से
ले निकाल कुछ अर्थ तुम्हारी नव भाषा से
गाओ नव उत्साह से, रुको न पल भर के लिये
कोकिल ! मलयज पवन मे भरने को स्वर के लिये



लोग प्रिय दर्शन बताते इन्दु को
देखकर सौन्दर्य के इक बिन्दु को
किन्तु प्रिय-दर्शन स्वयं सौन्दर्य है
सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है

जो पथिक होता कभी इस चाह में
वह तुरत ही लुट गया इस राह में
मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी
दिव्य शिल्पी के कला कौशल सभी

देख लो जी भर इसे देखा करो
इस कलम से चित्त पर रेखा करो
लिखते लिखते चित्र वह बन जायगा
सत्य सुन्दर तब प्रकट हो जायगा



अविराम जीवन-स्रोत-सा यह बन रहा है शैल पर
उद्देश्य-हीन गँवा रहा है समय को क्यो फैलकर
कानन-कुसुम जो हैं विकसते स्वच्छ शीतल नीर से
किस काय के हैं वे भला पूछो किसी मति-धीर से
उत्तुङ्ग जो यह शृङ्ग है उसपर खडा तरुराज है
शाखावली की है महा सुषमा सुपुष्प समाज है
होकर प्रमत्त खडा हुआ है यह प्रभञ्जन-वेग मे
हा! झूमता है चित्त के आमोद के आवेग मे
यह शून्यता वन की बनी बेजोड पूरी शान्ति से
करुणा कलित कैसी कला कमनीय कोमल कान्ति से
चल चित्त चञ्चल वेग को तत्काल करता धीर है
एकान्त मे विश्रान्त मन पाता सुशीतल नीर है
निस्तब्धता ससार की उस पूण से है मिल रही
पर जड प्रकृति सब जीव मे सब ओर ही अनमिल रही



दलित कुमुदिनी

अहो, यही कृत्रिम क्रीडासर-बीच कुमुदिनी खिलती थी
हरे लता-कु जो की छाया जिसको शीतल मिलती थी
इन्दु किरण की फूलछडी जिसका मकरन्द गिराती थी
चण्ड दिवाकर की किरणें भी पता न जिसका पाती थी
रहा घूमता आसपास मे कभी न मधुर मृणाल छुआ
राजहस भी जिस सुन्दरता पर मोहित सा मत्त हुआ
जिसके मधुर पराग-अन्ध हो मधुप किया करते फेरा
मृदु चुम्बन-उल्लास भरी लहरी का जिस पर था घेरा
शीत पवन के मधुर स्पश से सिहर उठा करती थी जो
श्यामा का सङ्गीत नवीन सवम्प सुना करती थी जो
छोटी-छोटी स्वण-मछलियो का जिस पर रहता पहरा
स्वच्छ आन्तरिक प्रेम भाव का रङ्ग चढा जिस पर गहरा
जिसका मधुर मरन्द-स्रोत भी उछल उछल मिलता जल मे
सौरभ उसका फैलाता था रम्य सरोवर निमल मे
जिसका मुग्ध विकास हृदय को अहो मुग्ध कर देता था
सरज पीत केसर भी खिलकर भव्य भाव भर देता था
किसी स्वार्थी मतवाले हाथी से हा ! पद दलित हुई
वही कुमुदिनी, ग्रीष्मताप तापित रज मे परिमिलित हुई
छिनपत्र मकरन्दहीन हो गई न शोभा प्यारी है
पडी कण्टकाकीण माग मे कालचक्र गति न्यारी है

निशीथ-नदी

विमल व्योम म तारा-पुञ्ज प्रकट हो करके
नीरव अभिनय कहो कर रहे है ये कैसा
प्रेमी के दृगतारा से ये निर्निमेष हैं
देख रहे से रूप अलौकिक सुन्दर किसका
दिशा, धरा, तरु राजि सभी ये चिन्तित से ह
शान्त पवन स्वर्गीय स्पश से सुख देता है
दुखी हृदय म प्रिय प्रतीति की विमल विभा सी
तारा-ज्योति मिली है तम मे, कुछ प्रकाश है
कूल युगल म देखो कैसी यह सरिता है
चारो ओर दृश्य सब कैसे हरे भरे हैं
बालू भी इस स्नेहपूण जल के प्रभाव से
उवर हैं हो रहे, करारे नही काटते
पङ्किल करते नही स्वच्छशीला सरिता को
तरुगण अपनी शाखाओ से इङ्गित करके
उसे दिखाते और माग, वह ध्यान न देकर
चली जा रही है अपनी ही सीधी धुन मे

उसे किसी से कुछ न द्वेष है, मोह भी नही
उपल-खण्ड से टकराने का भाव नही है
पकिल या फेनिल होना भी नही जानती
पण कुटीरो को न बहाती भरी वेग से
क्षीणस्रोत भी नही हुई खर ग्रीष्म-ताप से
गजन भी है नही, कही उत्पात नही है
कोमल कल-कलनाद हो रहा शान्ति-गीत सा
कब यह जीवन स्रोत मधुर ऐसा ही होगा
हृदय-कुमुद कब सौरभ से या विकसित होकर
पूण करेगा अपने परिमल से दिगत को
शाति, चित्त का अपने शीतल लहरो से कब
शात करेगी हर लेगी कब दुःख पिपासा



विनय

बना लो हृदय-बीच निज धाम
करो हमको प्रभु पूरन काम
शंका रहे न मन में नाथ
रहो हरदम तुम मेरे साथ
अभय दिखला दो अपना हाथ
न भूलें कभी तुम्हारा नाम
बना लो हृदय-बीच निज धाम

मिटा दो मन की मेरे पीर
करा दो कर्म देव अब धीर
पिला दो स्वच्छ प्रेममय नीर
बने मति सुन्दर लोक ललाम
बना लो हृदय-बीच निज धाम

काट दो ये सारे दु:ख-द्वन्द्व
न आवे पास कभी छल-छन्द
मिलो अब आके आनँदकन्द
रहे तव पद में आठो याम
बना लो हृदय-बीच निज धाम
करो हमको प्रभु पूरन-काम



तुम्हारा स्मरण

सकल वेदना विस्मृत होती
स्मरण तुम्हारा जब होता
विश्वबोध हो जाता है
जिससे न मनुष्य कभी रोता

आख बद कर देखे कोई
रहे निराले मे जाकर
त्रिपुटी मे, या कुटी बना ले
समाधि मे खाये गोता

खडे विश्व-जनता मे प्यारे
हम तो तुमको पाते हैं
तुम ऐसे सर्वत्र-सुलभ को
पाकर कौन भला खोता

प्रसन्न हैं हम उसमे, तेरी—
प्रसन्नता जिसमे होवे
अहो तृषित प्राणो के जीवन
निर्मल प्रेम सुधा-सोता

नये नये कौतुक दिखलाकर
जितना दूर किया चाहो
उतना ही यह दौड दौडकर
चचल हृदय निकट होता



याचना

जब प्रलय का हो समय, ज्वालामुखी निज मुख खोल दे
सागर उमडता आ रहा हो, शक्ति-साहस बोल दे
ग्रहगण सभी हो केन्द्रच्युत लडकर परस्पर भग्न हो
उस समय भी हम हे प्रभो ! तव पद्मपद म लग्न हो
जब शैल के सब शृङ्ग विद्युद्वृन्द के आघात से
हो गिर रहे भीषण मचाते विश्व म व्याघात से
जब घिर रहे हो प्रलय घन अवकाश गत आकाश मे
तब भी प्रभो ! यह मन खिचे तव प्रेम धारा-पाश म
जब क्रूर षड्रिपु के कुचक्रो म पडे यह मन कभी
जब दु ख की ज्वालावली हो भस्म करती सुख सभी
जब हो कृतघ्नो के कुटिल आघात विद्युत्पात से
जब स्वार्थी दुख दे रहे अपने मलिन छलछात से
जब छोडकर प्रेमी तथा सन्मित्र सब ससार म
इस घाव पर छिडके नमक, हो दुख खडा आकार म
करुणानिधे ! हा दु खसागर मे कि हम आनन्द मे
मन-मधुप हो विश्वस्त प्रमुदित तव चरण अरविन्द मे
हम हो सुमन की सेज पर या कटको की झाड म
पर प्राणधन ! तुम छिपे रहना, इस हृदय की आड मे
हम हो कही इस लोक मे, उस लोक मे, भूलोक मे
तव प्रेम-पथ मे ही चलें, हे नाथ ! तव आलोक म



पतित-पावन

पतित हो जन्म से, या कर्म ही से क्यों नहीं होवे
पिता सबका वही है एक, उसकी गोद में रोवे
पतित पदपद्म में होवे
तो पावन हो ही जाता है
पतित है गर्त्त में ससार के जो स्वर्ग से खसका
पतित होना कहो अब कौन सा बाकी रहा उसका
पतित ही को बचाने के
लिये, वह दौड आता है
पतित हो चाह में उसके, जगत में यह बडा सुख है
पतित हो जो नहीं इसमें, उसे सचमुच बडा दुख है
पतित ही दीन होकर
प्रेम से उसको बुलाता है
पतित होकर लगाई धूल उस पद की न अंगो में
पतित हैं जो नहीं उस प्रेमसागर की तरंगो में
पतित हो 'पूत' हो जाना
नहीं वह जान पाता है
'प्रसाद' उसका ग्रहण कर छोड दे आचार अनबन है
वो सब जीवों का जीवन है, वही पतितो का पावन है
पतित होने की देरी है
तो पावन हो ही जाता है



खंजन

व्याप्त है क्या स्वच्छ सुषमा सी उषा भूलोक मे
स्वणमय शुभ दृश्य दिखलाता नवल आलोक मे
शुभ्र जलधर एक दो कोई कही दिखला गये
भाग जाने का अनिल-निर्देश व भी पा गये
पुण्य-परिमल अङ्ग से मिलने लगा उल्लास से
हस मानस का हँसा कुछ बोलकर आवास से
मल्लिका महँकी, अली-अवली मधुर मधु से छकी
एक कोने की कली भी गन्ध वितरण कर सकी
बह रही थी कूल मे लावण्य की सरिता अहो
हँस रही थी कल-कलध्वनि से प्रफुल्लितगात हो
खिल रहा शतदल मधुर मकरन्द भी पडता चुआ
सुरभि सचय-कोश सा आनन्द से पूरित हुआ
शरद के हिम-बिन्दु मानो एक मे ढाले हुए
दृश्यगोचर हो रहे है प्रेम से पाले हुए
हैं यही क्या विश्ववपुपी शारदी साकार हो
सुन्दरी है या नि सुषमा का खडा आकार हो
कौन नीलोज्ज्वल युगल ये दो यहाँ पर खेलते
हैं झडी मकरन्द की अरविन्द मे ये झेलते
क्या समय था, ये दिखाई पड गये, कुछ तो कहो
सत्य ! क्या जीवन शरद के ये प्रथम खजन अहो

•

विरह

प्रियजन दृग-सीमा से जभी दूर होते
ये नयन वियोगी रक्त के अश्रु रोते
सहचर-सुखक्रीडा नेत्र के सामने भी
प्रति क्षण लगती है नाचने चित्त मे भी

प्रिय, पदरज मेघाच्छन्न जो हो रहा हो
यह हृदय तुम्हारा विश्व को खो रहा हो
स्मृति-सुख चपला की क्या छटा देखते हो
अविरल जलधारा अश्रु मे भीगते हो

हृदय द्रवित होता ध्यान मे भूत ही के
सब सबल हुए से दीखते भाव जी के
प्रति क्षण मिलते हैं जो अतीताब्धि ही मे
गत निधि फिर आती पूर्ण की लब्धि ही मे

यह सब फिर क्या है, ध्यान से देखिये तो
यह विरह पुराना हो रहा जाँचिये तो
हम अलग हुए हैं पूण से व्यक्त होके
वह स्मृति जगती है प्रेम की नीद सोके



गगा सागर

प्रिय मनोरथ व्यक्त करें कहो
जगत्-नीरवता कहती 'नही'
गगन मे ग्रह गोलक, तारिका
सब किये नत दृष्टि विचार मे
पर नही, हम मौन न हो सकें
वह चलें अपनी सरला कथा
पवन-ससृति से इस शून्य मे
भर उठे मधुर ध्वनि विश्व मे
"यह सही, तुम ! सिन्धु अगाध हो
हृदय मे बहु रत्न भरे पडे
प्रबल भाव विशाल तरङ्ग से
प्रकट हो उठते दिन रात हो
न घटते-बढते निज—सीम से—
तुम कभी, वह बाडव रूप की
लपट मे लिपटी फिरती नदी
प्रिय, तुम्ही उसके प्रिय लक्ष्य हो

यदि कहो घन पावस-काल का
प्रबल वेग अहो क्षण काल का
यह नही मिलना कहला सके
मिलन तो मन का मन से सही
जगत की नव कल्पित कल्पना
भर रही हृदयाब्धि गँभीर मे
'तुम नही इसके उपयुक्त हो
कि यह प्रेम महान सँभाल लो'
जलधि ! मै न कभी चाहती
कि 'तुम भी मुझपर अनुरक्त हो'
पर मुझे निज वक्ष उदार मे
जगह दो, उसमे सुख मे रहे"



प्रियतम

क्यो जीवन-धन ! ऐसा ही है न्याय तुम्हारा क्या सवत्र
लिखते हुए लेखनी हिलती, कँपता जाता है यह पत्र
औरो के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दु ख नही
जिसके तुम हो एक सहारा, उसको भूल न जाव कही
निदय होकर अपने प्रति, अपनेको तुमको सौंप दिया
प्रम नही, करुणा करने को क्षण भर तुमने समय दिया
अब से भी तो अच्छा है, अब और न मुझे करो बदनाम
क्रीडा तो हो चुकी तुम्हारी, मेरा क्या होता है काम
स्मृति को लिये हुए अन्तर मे, जीवन कर देगे नि शेप
छोडो अब भी दिखलाओ मत, मिल जाने का लोभ विशेप
कुछ भी मत दो, अपना ही जो मुझे बना लो, यही करो
रक्खो जब तक आँखो म, फिर और द्वार पर नही ढरो
कोर बरौनी का न लगे हाँ, इस कोमल मन को मेरे
पुतली बनकर रह चमकते, प्रियतम ! हम दृग मे तेरे



मोहन

अपने सुप्रेम-रस का प्याला पिला दे मोहन
तेरे मे अपनेको हम जिसमे भुला दें मोहन
निज रूप-माधुरी की चसकी लगा दे मुझको
मुँह से कभी न छूटे ऐसी छका दे मोहन
सौन्दय विश्व भर मे फैला हुआ जो तेरा
एकत्र करके उसको मन मे दिखा दे मोहन
अस्तित्व रह न जाये हमको हमारे ही मे
हमको बना दे तू अब, ऐसी प्रभा दे मोहन
जलकर नही हैं हटते जो रूप की शिखा से
हमको, पतग अपना ऐसा बना दे मोहन
मेरा हृदय-गगन भी तव राग म रँगा हो
ऐसी उषा की लाली अब तो दिखा दे मोहन
आनन्द से पुलककर हो रोम रोम भीने
सगीत वह सुधामय अपना सुना दे मोहन

•

भाव-सागर

थोडा भी हँसते देखा ज्योही मुझे
त्योही शीघ्र रुलाने को उत्सुक हुए
क्यो ईर्ष्या है तुम्हे देख मेरी दशा
पूर्ण सृष्टि होने पर भी यह शून्यता
अनुभव करके हृदय व्यथित क्या हो रहा
क्या इसमे कारण है कोई, क्या कभी
और वस्तु से जब तक कुछ फिटकार ही
मिलता नही हृदय को, तेरी ओर वह
तब तक जाने को प्रस्तुत होता नही
कुछ निजस्व सा तुम पर होता भान है
गर्व-स्फीत हृदय होता तब स्मरण म
अहकार से भरी हमारी प्रार्थना
देख न शकित होना, समझो ध्यान से
वह मेरे म तुम हो साहस दे रहे
लिखता हूँ तुमको, फिर उसको देख के
स्वय सकुचित होकर भेज नही सका
क्या ? अपूर्ण रह जाती भाषा, भाव भी
यथातथ्य प्रकटित हो सकते ही नही
अहो अनिवचनीय भाव-सागर ! सुनो
मेरी भी स्वर-लहरी क्या है कह रही



मिल जाओ गले

देख रहा हूँ, यह कैसी कमनीयता
छाया सी कुसुमित कानन मे छा रही
अरे, तुम्हारा ही यह तो प्रतिविम्ब है
क्यो मुझको भुलवाते हो इनमे ? अजी
तुम्हे नही पाकर क्या भूलेगा कभी
मेरा हृदय इन्ही कांटो के फूल मे
जग की कृत्रिम उत्तमता का वश नही
चल सकता है, बडा कठोर हृदय हुआ
मानस-सर मे विकसित नव अरविन्द का
परिमल जिस मधुकर को छू भी गया हो
कहो न कैसे वह कुरवक पर मुग्ध हो
घूम रहा है कानन मे उद्देश्य से
फूलो का रस लेने की लिप्सा नही
मधुकर को वह तो केवल है देखता
कही वही तो नही कुसुम है खिल रहा
उसे न पाकर छोड चला जाता अहो

उसे न कहो कि वह कुरबक रस-लुब्ध है
हृदय कुचलने वालो से, अभिमान के
नीच, घमण्डी जीवो से बस कुछ नही
उन्हे घृणा भी कहती सदा नगण्य है
वह दब सकता नही, न उनसे मिल सके
जिसमे तेरी अविकल छवि हो छा रही
तुमसे कहता हूँ प्रियतम ! देखो इधर
अब न और भटकाओ, मिल जाओ गले



नहीं डरते

क्या हमने कह दिया, हुए क्यो रुष्ट हम बतलाओ भी
ठहरो, सुन लो बात हमारी, तनक न जाओ, आओ भी
रूठ गये तुम, नही सुनोगे, अच्छा! अच्छी बात हुई
सुहृद, सदय, सज्जन मधुमुख थे मुझको अबतक मिले कई
सबको था दे चुका, बचे थे उलाहने से तुम मेरे
वह भी अवसर मिला, कहूँगा हृदय खोलकर गुण तेरे
कहो न कब विनती थी मेरी सच कहना कि 'मुझे चाहो'
मेरे खोल रहे हृत्सर मे तुम भी आकर अवगाहो
फिर भी, कब चाहा था तुमने हमको, यह तो सत्य कहो
हम विनोद की सामग्री थे केवल इससे मिले रहो
तुम अपने पर मरते हो, तुम कभी न इसका गर्व करो
कि 'हम चाह मे व्याकुल हैं' यह गर्म साँस अब नही भरो
मिथ्या हो हो, किन्तु प्रेम का प्रत्याख्यान नही करते
धोखा क्या है, समझ चुके थे; फिर भी किया, नही डरते

●

महाकवि तुलसीदास

अखिल विश्व मे रमा हुआ है राम हमारा
सकल चराचर जिसका क्रीडापूर्ण पसारा
इस शुभ सत्ता को जिसने अनुभूत किया था
मानवता को सदय राम का रूप दिया था
नाम-निरूपण किया रत्न से मूल्य निकाला
अन्धकार-भव-बीच नाम-मणि-दीपक वाला
दीन रहा, पर चिन्तामणि वितरण करता था
भक्ति-सुधा से जो सन्ताप हरण करता था
प्रभु का निर्भय सेवक था, स्वामी था अपना
जाग चुका था, जग था जिसके आगे सपना
प्रबल प्रचारक था जो उस प्रभु की प्रभुता का
अनुभव था सम्पूर्ण जिसे उसकी विभुता का

राम छोडकर और की जिसने कभी न आस की
'राम-चरित-मानस'-कमल जय हो तुलसीदास की



धर्मनीति

जब कि सब विधियां रहे निषिद्ध, और हो लक्ष्मी को निर्वेद
कुटिलता रहे सदैव समृद्ध, और सन्तोष मनावे खेद
वैध क्रम सयम को धिक्कार
अरे तुम केवल मनोविकार
बाधती हो जो विधि सद्भाव, साधती हो जो कुत्सित नीति
भग्न हो उसका कुटिल प्रभाव, धर्म वह फैलावेगा भीति
भीति का नाशक हो तब धर्म
नही तो रहा लुटेरा-कर्म
दुखी है मानव-देव अघोर—देखकर भीषण शान्त समुद्र
व्यथित बैठा है उसके तीर—और क्या विष पी लेगा रुद्र
करेगा तब वह ताण्डव नृत्य
अरे दुर्बल तर्कों के भृत्य
गुञ्जरित होगा शृङ्गीनाद, धूसरित भव वेला मे मन्द्र
कँपेंगे सब सूत्रो के पाद, युक्तियाँ सोवेंगी निस्तन्द्र
पञ्चभूतो को दे आनन्द
तभी मुखरित होगा यह छन्द
दूर हो दुर्बलता के जाल, दीर्घ निःश्वासो का हो अन्त
नाच रे प्रवञ्चना के काल, दग्ध दावानल करे दिगन्त
तुम्हारा यौवन रहा ललाम
नम्रते ! करुणे ! तुझे प्रणाम

●

गान

जननी जिसकी जन्मभूमि हो, वसुंधरा ही काशी हो
विश्व स्वदेश, भ्रातृ मानव हो, पिता परम अविनाशी हो
दम्भ न छूए चरण रेणु वह धम नित्य-यौवनशाली
सदा सशक्त करो से जिसकी करता रहता रखवाली
शीतल मस्तक, गम रक्त, नीचा सिर हो, ऊँचा कर भी
हँसती हो कमला जिसके करुणा-कटाक्ष मे, तिस पर भी
खुले किवाड-सदृश हो छाती सबसे ही मिल जाने को
मानस शात, सरोज हृदय हो सुरभि सहित खिल जाने को
जो अछूत का जगनाथ हो, कृषक-करो का दृढ हल हो
दुखिया की आँखो का आसू और मजूरो का कल हो
प्रेम भरा हो जीवन मे, हो जीवन जिसकी कृतियो मे
अचल सत्य सकल्प रहे, न रहे सोता जागृतियो मे
एसे युवक चिरञ्जीवी हो, देश बना सुख-राशी हो
और इसलिये आगे वे ही महापुरुष अविनाशी हो



मकरन्द-बिन्दु

तप्त हृदय को जिस उशीर-गृह का मलयानिल
शीतल करता शीघ्र, दान कर शान्ति को अखिल
जिसका हृदय पुजारी है रखता न लोभ को
स्वय प्रकाशानुभव मूर्त्ति देती न क्षोभ जो
प्रकृति सुप्राङ्गण मे सदा, मधुक्रीडा-कूटस्थ को
नमस्कार मेरा सदा, पूरे विश्व-गृहस्थ को

*　　　*　　　*

हैं पलक परदे खिचे बरुनी मधुर आधार से
अश्रुमुक्ता की लगी झालर खुले दृग-द्वार से
चित्त-मन्दिर मे अमल आलोक कैसा हो रहा
पुतलिया प्रहरी बनी जो सौम्य आकार से
मुद मृदङ्ग मनोज्ञ स्वर से बज रहा है ताल में
कल्पना-वीणा बजो हर एक अपने तार से
इन्द्रिया दासी सदृश अपनी जगह पर स्तब्ध हैं
मिल रहा गृहपति सदृश यह प्राण प्राणाधार से

*　　　*　　　*

हृदय नहिं मेरा शून्य रहे
तुम नहिं आओ जो इसमें तो, तव प्रतिविम्व रहे
मिलने का आनन्द मिले नहिं जो इस मन को मेरे
करुणव्यथा ही लेकर तेरी जिये प्रेम के डेरे

* * *

मिले प्रिय, इन चरणो की धूल
जिसमें लिपटा ही आया है सकल सुमंगल मूल
बडे भाग्य से बहुत दिनो पर आये हो तुम प्यारे
वैठो, घबराओ मत, बोलो, रहो नही मन मारे
हृदय सुनाना तुम्हे चाहता, गाथाएँ जो बीती
गद्गद कंठ, न कह सकता हूँ, देखी बाजी जीती

* * *

र, परम आदर्श विश्व का जो कि पुरातन
अनुकरणो का मुख्य सत्य जो वस्तु सनातन
मता का पूर्ण रूप आनन्द भरा घन
शक्ति-सुधा से सिंचा, शांति से सदा हरा वन
प्रकृति से परे नही जो हिलामिला है
सन्मानस मे बीच कमल सा नित्य खिला है
। की चित्कला विश्व म जिसकी सत्ता
जिसकी ओतप्रोत व्योम मे पूर्ण महत्ता
ुभूति का साक्षी है जो जड का चेता
विश्वशरीरी परमात्मा प्रभुता का चेतन
अणु म जो स्वभाव-वश गति विधि निर्धारक
नित्य नवल-सम्बन्ध-सूत्र का अद्भुत धारक
विज्ञानाकार है, ज्ञानो का आधार है
नमस्कार सदनन्त को ऐसे वारम्वार है

* * *

गज समान है त्रस्त, ग्रस्त द्रौपदी सदृश है
ध्रुव सा धिक्कृत और सुदामा सा वह कृश है
बँधा हुआ प्रह्लाद सदृश, कुत्सित कर्मों से
अपमानित गौतमी न थी इतनी मर्मों से

धर्म बिलखता सोचता
हम क्या से क्या हो गये
थक कर कुछ अवतार से
तुम सुख निधि मे सो गये।



खुले हुए कच भार बिखर गये थे बदन पर
जैसे श्याम सिवार आसपास हो कमल के
कैसा सुन्दर दृश्य ! लता-पत्र थे हिल रहे
जैसे प्रकृति अदृश्य, वह कर से पखा झले
निर्निमेष दृग नील देख रहे थे राम के
जैसे प्रहरी भील खडे जानकी वदन के
नैसर्गिक सौन्दय देख जानकी-अङ्ग का
नृपचूडामणिवय राम मुग्ध से हो रहे
'कुछ कहना है आय' बोले लक्ष्मण दूर से
'ऐसा ही है काय, इसमे देता कष्ट हूँ'
राघव ने सस्नेह कहा—'कहो, क्या बात है
कानन हो या गेह, लक्ष्मण तुम चिरबन्धु हो
फिर कैसा सकोच ? आओ, बैठो पास मे
करो न कुछ भी सोच, निभय होकर तुम कहो'
पाकर यह सम्मान, लक्ष्मण ने सविनय कहा—
"आय ! आपका मान, यश, सदैव बढता रहे
फिरता हूँ मैं नित्य, इस कानन मे ध्यान से
परिचय जिसम सत्य मिले मुझे इस स्थान का
अभी टहलकर दूर, ज्योही मैं लौटा यहा
एक विकटमुख क्रूर भील मिला उस राह मे
मेरा आना जाना, उठा सजग हो भील वह
मैंने शर सन्धान किया जानकर शत्रु को
किन्तु, क्षमा प्रति बार, मागा उसने नम्र हो
रुका हमारा वार, पूछा फिर—'तुम कौन हो'
उसने फिर कर जोड कहा—'दास हूँ आपका
चरण कमल को छोड, और कहा मुझको शरण,
निषादपति का दूत हूँ मैं प्रेरित आया यहा
कहना है करतूत भरत भूमिपति का प्रभो
सजी सैन्य चतुरङ्ग बलशाली ले साथ मे
किये और ही ढङ्ग, आते हैं इस ओर को'
पुलकित होकर राम बोले लक्ष्मण वीर से—
'और नही कुछ काम, मिलने आते हैं भरत'

सोते अभी खग-वृन्द थे निज नीड में आराम से
ऊषा अभी निकली नहीं थी रविकरोज्ज्वल-दाम से

केवल टहनियां उच्च तरुगण की कभी हिलती रहीं
मलयज पवन से विवश आपस में कभी मिलती रहीं

ऊँचे शिखर, मैदान, पर्णकुटीर, सब निस्तब्ध थे
सब सो रहे, जैसे अभागों के दुखद प्रारब्ध थे

झरने पहाड़ी चल रहे थे, मधुर मीठी चाल से
उड़ते नहीं जलकण अभी थे उपलखण्ड विशाल से

आनन्द के आंसू भरे थे, गगन में तारावली
थी देखती रजनी विदा होते निशाकर को भली

कलियां कुसुम की थीं लजाई प्रथम स्पर्श शरीर से
चिटकीं बहुत जब छेड़छाड़ हुआ समीर अधीर से

थी शान्तिदेवी सी खड़ी उस ब्राह्मवेला में भली
मन्दाकिनी शुभ तरल जल के बीच मिथिलाधिप लली

रजलिप्त स्वच्छ शरीर होता था सरोज-पराग से
जल भी रँगा था श्यामलोज्ज्वल राम के अनुराग से

जलविन्दु थे जो वदन पर, उस इन्दु मन्द प्रकाश में
द्रवचन्द्रकान्त मनोज्ञ मणि के बने विमल विलास में

आकण्ठ मज्जित जानकी चन्द्राभमय जल में खड़ी
सचमुच वदन विधु था शरद-घन बीच जिसकी गति अड़ी

जल की लहरियां घेरतीं बन मेघमाला सी उसे
हो पवन-ताड़ित इन्दु कर मलता निरख करके जिसे

कर स्नान पर्णकुटीर को अपने सिधारीं जानकी
तब कञ्जलोचन के जगाने की क्रिया अनुमान की

रविकर-सदृश हेमाभ उँगली से चरण सरसिज छुआ
उनिद्र होने से लगे दृगकञ्ज, कम्प सहज हुआ

उस नित्यपरिचित स्पर्श में राघव सजग हो जग गये
होकर निरालस नित्यकृत्य सुधारने में लग गये

फलमूल लेने के लिए तब जानकी तरु-पुञ्ज में
सञ्चारिणी ललिता लता सी सो गई घन कुञ्ज में

अपने सुकृत-फल के समान मिले उन्हे फल ढेर से
मीठे, नवीन, सुस्वादु, जो संचित रहे थे देर से

हो स्वस्थ प्रातःक्रम से जब राम पर्णकुटीर में
आये टहल मन्दाकिनी-तट से प्रभात-समीर में

देखा कुशासन है बिछा, फल और जल प्रस्तुत वहाँ
हैं जानकी भी पास, पर लक्ष्मण न दिखलाते वहाँ

• • •

सीता ने तब खोज लिया सौमित्र को
तरु-समीप में, वीर विचित्र चरित्र को
'लक्ष्मण! आओ वत्स, कहाँ तुम चढ रहे'
प्रेम भरे ये वचन जानकी ने कहे

'आर्ये, होगा स्वादु मधुर फल यह पका
देखो, अपने सौरभ से है यह छका'
लक्ष्मण ने यह कहा और अति वेग से
चले वृक्ष की ओर, चढे उद्वेग से

ऊँचा था तरुराज, सघन वह था हरा
फल फूलों से डाल पात से था भरा
लक्ष्मण तुरत अदृश्य उसी में हो गये
जलद जाल के बीच बिमल विधु से हुए

टहल रहे थे राम उसी ही स्थान में
कोल्हाहल रव पडा सुनाई कान में
चकित हुए थे राम, बात न समझ पडी
लक्ष्मण की पुकार तबतक यह सुन पडी—

'आर्य, आर्य, बस धनुष मुझे दे दीजिये
कुछ भी देने में विलम्ब मत कीजिये'
कहा राम ने—'वत्स, कहो क्या बात है
सुनें भला कुछ, कैसा यह उत्पात है'

लक्ष्मण ने फिर कहा—'देर मत कीजिये
आया है वह दुष्ट मारने दीजिये'
'कौन ? कहा तो स्पष्ट, कौन अरि है यहा ?'
कहा राम ने—'सुनें भला, वह है वहा'

'दुष्ट भरत आता ले सेना सग म
रँगा हुआ है क्रूर राजमद रग म
उसका हृद्गत भाव और ही आय है
आता करने का कुछ कुत्सित काय है'

सुनकर लक्ष्मण के यह वाक्य प्रमाद से—
भरे, हँसे तब राम मलीन विपाद से
कहा—'उतर आओ लक्ष्मण उस वृक्ष से
हटो शीघ्र उस भ्रम पूरित विषवृक्ष से'

लक्ष्मण नीचे आकर बोले रोप से—
'वनवासी हैं हुए आप निज दोप से'
भरत इसी क्षण पहुँचे, दौड़ समीप म
बढ़ा प्रकाश सुभ्रातृस्नेह के दीप मे

चरण-स्पर्श के लिए भरत भुज ज्यो बढे
राम-बाहु गल-बीच पडे सुख से मढे
अहा ! विमल स्वर्गीय भाव फिर आ गया
नील कमल मकरन्द बिन्दु से छा गया ॥

भरत

हिमगिरि का उत्तुंग शृंग है सामने
खड़ा बताता है भारत के गर्व को
पड़ती इस पर जब माला रवि-रश्मि की
मणिमय हो जाता है नवल प्रभात में
बनती हैं हिम-लता कुसुम-मणि के खिल
पारिजात का ही पराग शुचि धूलि है
सांसारिक सब ताप नहीं इस भूमि में
सूर्य-ताप भी सदा सुखद होता यहाँ
हिम-सर में भी खिले विमल अरविन्द हैं
कहीं नहीं है शोच, कहाँ संकोच है
चन्द्रप्रभा में भी गलकर बनते नदी
चन्द्रकान्त से ये हिम-खंड मनोज्ञ हैं
फैली हैं ये लता लटकती शृङ्ग में
जटा समान तपस्वी हिमगिरि की बनी
कानन इसके स्वादु फलों से हैं भरे
सदा अयाचित देते हैं फल प्रेम से
इसकी कैसी रम्य विशाल अधित्यका
है जिसके समीप आश्रम ऋषिवर का

अहा! खेलता कौन यहा शिशु सिंह से
आर्यवृन्द के सुन्दर सुखमय भाग्य सा
कहता है उसको लेकर निज गोद मे—
'खोल, खोल, मुख सिंह-बाल, मै देखकर
गिन लूँगा तेरे दातो को है भले
देखूँ तो कैसे यह कुटिल कठोर है'

● ●

देख वीर बालक के इस औद्धत्य को
लगी गरजने भरी सिंहिनी क्रोध से
छडी तानकर बोला बालक रोष से—
'बाधा देगी क्रीडा मे यदि तू कभी
मार खायगी, और तुझे दूँगा नही—
इस बच्चे को, चली जा, अरी भाग जा'

● ●

अहा, कौन यह वीर बाल निर्भीक है
कहो भला भारतवासी! हो जानते
यही 'भरत' वह बालक है, जिस नाम से
'भारत' सज्ञा पडी इसी वर भूमि की
कश्यप के गुरुकुल मे शिक्षित हो रहा
आश्रम मे पलकर कानन म घूमकर
निज माता की गोद मोद भरता रहा
जो पति से भी बिछुड रही दुर्दैव-वश
जगल के शिशुसिंह सभी सहचर रहे
रहा घूमता हो निर्भीक प्रवीर यह
जिसने अपने बलशाली भुजदड से
भारत का साम्राज्य प्रथम स्थापित किया
वही वीर यह बालक है दुष्यन्त का
भारत का शिर-रत्न 'भरत' शुभ नाम है

●

शिल्प-सौन्दर्य

कोलाहल क्यों मचा हुआ है ? घोर यह
महाकाल का भैरव गर्जन हो रहा
अथवा तोपों के मिस से हुंकार यह
करता हुआ पयोधि प्रलय का आ रहा
नहीं, महा संघर्षण से होकर व्यथित
हरिचन्दन दावानल फैलाने लगा
आर्यमंदिरों के सब ध्वंस बचे हुए
धूल उड़ाने लगे, पड़ी जो आँख में—
उनके, जिनके वे थे खुदवाये गये
जिससे देख न सकते वे कर्त्तव्य-पथ
दुर्दिन-जल धारा न सम्हाल सकी अहो
बालू की दीवाल मुगल-साम्राज्य की
आर्य शिल्प के साथ गिरा वह भी
जिसे, अपने कर से खोदा आलमगीर ने
मुगल महीपति के अत्याचारी, अबल

कर कँपने से लगे। अहो यह क्या हुआ
मुगल-अदृष्टाकाश मध्य अति तेज से
धूमकेतु से सूयमल्ल समुदित हुए
सिंहद्वार है खुला दीन के मुख सदृश
प्रतिहिंसा पूरित्त वीरो की मण्डली
व्याप्त हो रही है दिल्ली के दुग मे
मुगल-महीपो के आवासादिक बहुत
टूट चुके ह, आम खास के अश भी
किन्तु न कोई सैनिक भी सन्मुख हुआ

रोषानल से ज्वलित नेत्र भी लाल हैं
मुख-मण्डल भीषण प्रतिहिंसा पूण है
सूयमल्ल मध्याह्न सूय सम चण्ड हो
मोतीमस्जिद के प्राङ्गण मे है खडे
भीम गदा है कर म, मन म वेग है
उठा, क्रुद्ध हो सबल हाथ लेकर गदा
छज्जे पर जा पडा, कापकर रह गई
ममर की दीवाल, अलग टुकडा हुआ
किन्तु न फिर वह चला चण्डकर नाश को
क्यो जी, यह कैसा निष्क्रिय प्रतिरोध है

सूयमल्ल रुक गये, हृदय भी रुक गया
भीषणता रुक कर करुणा सी हो गई।
कहा—'नष्ट कर देंगे यदि विद्वेष से—
इसको, तो फिर एक वस्तु ससार की
सुन्दरता से पूण सदा के लिए ही
हो जायेगी लुप्त। बडा आश्चय है
आज काम वह किया शिल्प-सौन्दय ने
जिसे न करती कभी सहस्रो वक्तृता

अति सर्वत्र अहो वर्जित है, सत्य ही
वही वीरता बनती इससे क्रूरता
धम जन्य प्रतिहिंसा ने क्या क्या नही
किया, विशेष अनिष्ट शिल्प साहित्य का
लुप्त हो गये कितने ही विज्ञान के

साधन, सुन्दर ग्रन्थ जलाये वे गये
तोड़े गये, अतीत-कथा-मकरन्द को
रहे छिपाये शिल्प-कुसुम जो शिला हो
हे भारत के ध्वंस शिल्प ! स्मृति से भरे
कितनी वर्षा शीतातप तुम सह चुके
तुमको देख करुण इस वेश में
कौन कहेगा कब किसने निर्मित किया
शिल्पपूर्ण पत्थर कब मिट्टी हो गये
किस मिट्टी की ईंटें हैं बिखरी हुईं



वीर वाहद्रथ बली शिशुपाल के सुन सन्धि को
और भी साम्राज्य स्थापन की महा अभिसन्धि को
छोडकर व्रज, बालक्रीडा भूमि, यादव-वृन्द ले
द्वारिका पहुँचे, मधुप ज्यो खोज ही अरविन्द ले
सख्यस्थापन कर सुभद्रा को विवाहा पार्थ से
आप समभागी हुए तब पाण्डवो के स्वार्थ से
वीर वाहद्रथ गया मारा कठिन रणनीति से
आप सरक्षक हुए फिर पाण्डवो के, प्रीति से
वेन्द्रच्युत नक्षत्रमण्डल से हुए राजन्य थे
आन्तरिक विद्वेष के भी छा गये पर्जन्य थे
दिव्य भारत का अदृष्टाकाश तमसाच्छन्न था
मलिनता थी व्याप्त कोई भी कही न प्रसन्न था
सुप्रभात किया अनुष्ठित राजसूय सुरीति से
हो गई कृपा अमल अभिषेक-जलयुत प्रीति से
धर्मराज्य हुआ प्रतिष्ठित धर्मराज नरेश थे
इस महाभारत गगन के एक दिव्य दिनेश थे
यो सरलता से हुआ सम्पन्न कृष्ण प्रभाव से
देखकर वह राजसूय जला हृदय दुर्भाव से
हो गया सनद्ध तब शिशुपाल लडने के लिये
और था ही कौन केशव सङ्ग अडने के लिए
थी बडी क्षमता, सही इससे बहुत सी गालिया
फूल उतने ही भरे, जितनी बडी हो डालिया
क्षमा करते, पर लगे काँटे खटकने और को
चट धराशायी किया तब पाप के शिरमौर को

 

पाडवो का देख वैभव नीच कौरवनाथ ने
द्यूत-रचना की, दिया था साथ शकुनी-हाथ ने
कुटिल के छल से छले जाकर अकिञ्चन हो गये
हारकर सवस्व पाण्डव विपिनवासी हो गये
कष्ट से तेरह बरस कर वास कानन कुञ्ज म
छिप रहे थे सूर्य से जो वीर वारिद-पुञ्ज म
कृष्ण भारत का सहारा पा, प्रकट होना पडा
कर्म के जल मे उन्हे निज दुःख सब धोना पडा

आप अध्वर्यु हुए, ब्रह्मा युधिष्ठिर को किया
कार्य होता का धनञ्जय ने स्वयं निज कर लिया
धनुष की डोरी बनी उस यज्ञ मे सच्ची स्रुवा
उस महारण-अग्नि मे सब तेज बल ही घी हुवा
बध्य पशु भी था सुयोधन, भागवादिक मन्त्र थे
भीम के हुंकार ही "उद्‌गीथ के" सब तन्त्र थे
रक्त-दुःशासन बना था सोमरस शुचि प्रीति से
कृष्ण ने दीक्षित किया था धनुर्वेदिक रीति से
कौरवादिक सामने, पीछे पृथासुत सैन्य है
दिव्य रथ है बीच मे, अर्जुन-हृदय मे दैन्य है
चित्र हैं जिसके चरित, वह कृष्ण रथ के सारथी
चित्र ही से देखते यह दृश्य वीर महारथी
मोहिनी वंशी नहीं है, कज कर मे माधुरी
रश्मि है रथ की, प्रभा जिसम अनोखी है भरी
शुद्ध सम्मोहन बजाया वेणु से व्रजभूमि में
नीरधर सी धीर ध्वनि का शंख अब रणभूमि में
नील तनु के पास ऐसो शुभ्र अश्वो की छटा
उड रहे जैसे बलाका, घिर रही उन पर घटा
स्वच्छ छायापथ समीप नवीन नीरद-जाल है
या खडा भागीरथी तट फुल्ल नील तमाल है
छा गया फिर मोह अर्जुन का, न वह उत्साह था
काम्य अन्तःकरण में कारुण्य-नीर प्रवाह था
'क्यो करे वध वीर निज कुल का सड़ से स्वार्थ से
कर्म यह अति घोर है, होगा नहीं यह पार्थ से
कृष्ण केवल सारथी ही थे नही रथ के वहाँ
सव्यसाची का मनोरथ भी चलाते थे वहाँ
जानकर यह भाव मुख पर कुछ हँसी सी छा गई
दन्त-अवली नील घन की वारिधारा सी हुई
कृष्ण ने हँसकर कहा—"कैसी अनोखी बात है
रण विमुख होवें विजय! दिन में हुई कब रात है
यह अनार्यो की प्रथा सीखी कहाँ से पार्थ ने
धर्मच्युत होना बताया एक छोटे स्वार्थ ने

क्यो हुए कादर, निरादर वीर कर्मो का किया
सव्यमाची ने हृदय-दौबल्य क्यो धारण किया
छोड दो इसको, नही यह वीर जन के योग्य है
युद्ध की ही विजय लक्ष्मी नित्य उनके भोग्य है
रोकते हैं मारने से ध्यान निज कुल मान क
यह सभी परिवार अपने पान हैं सम्मान के
किन्तु यह भी क्या विदित है हे विजय ! तुमको सभी
काल के ही गाल में मरकर पडे हैं ये कभी
नर न कर सकता कभी, वह एकमात्र निमित्त है
प्रकृति को रोके नियति, किसमे भला यह वित्त है
क्या न थे तुम, और क्या मै भी न था, पहले कभी
क्या न होगे और आगे वीर ये सेनप सभी
आत्मा सबकी सदा थी, है, रहेगी, मान लो
नित्य चेतनसूत्र की गुरिया सभी को जान लो
ईश प्रेरकान्वित है हृदयन्त्र मे सब जीव के
कम बतलाये गये हैं भिन्न सारे जीव के
कम जो निर्दिष्ट है, हो धीर, करना चाहिये
पर न फल पर कम के कुछ ध्यान रखना चाहिये
कर रहा हूँ मै, करूँगा फलग्रहण, इस ध्यान से
कर रहा जो कम, वह तो भ्रान्त है अज्ञान से
मारता हूँ मैं, मरेंगे ये, कथा यह भ्रान्त है
ईश से विनियुक्त जीव सुयन्त्र सा अश्रान्त है
है वही कर्त्ता, वही फलभोक्ता ससार का
विश्व क्रीडा-क्षेत्र है विश्वेश हृदय उदार का
रण विमुख होगे, बनोगे वीर से कायर कहो
मरण से भारी अयश क्यो दौडकर लेना चहो
उठ खडे हो, अग्रसर हो, कमपथ से मत टरो
क्षत्रियोचित धम जो है युद्ध निभय हो करो”

 

सुन सबल ये वाक्य केशव के भरे उत्साह से
तन गये डोरे दृगो के, धनुष के, अति चाह से
हो गयी फिर तो धनञ्जय की विजय उस भूमि म
प्रकट है जो कर दिखाया पाथ ने रणभूमि म

वीर बालक

भारत का सिर आज इसी सरहिन्द मे
गौरव मडित ऊँचा होगा चाहता
अरुण उदय होकर देता है कुछ पता
करुण प्रलाप करेगा भैरव घोपणा
पाञ्चजन्य बन बालक-कोमल-कठ ही
धर्म घोपणा आज करेगा देश म
जनता है एकत्र दुर्ग के सामने

• •

मान धम का बालक-युगल-रहस्य है
युगल बालको की कोमल ये मूर्त्तियाँ
दपपूर्ण कैसी सुन्दर है लग रही
जैसे तीव्र सुगन्ध छिपाये हृदय म
चम्पा की कोमल कलिया हो शोभती

• •

सूबा ने कुछ कर्कश स्वर मे वेग से
कहा—'सुनो बालको, न हो बस काल के
बात हमारी अब भी अच्छी मान लो
अपने लिये किवाडें खोलो भाग्य के
सब कुछ तुम्हे मिलेगा, यदि सम्राट की
होगी करुणा, तुम लोगो के हाथ है
उसे हस्तगत करो, या कि फेंको अभी
किसने तुम्हे भुलाया है? क्यो दे रहे
जानें अपनी, अब से भी यह सोच लो
यदि पवित्र इस्लाम धर्म स्वीकार है
तुम लोगो को, तब तो फिर आनन्द है
नही, शास्ति इसकी केवल वह मृत्यु है
जो तुमको आशामय जग से अलग ही
कर देगी क्षण भर मे, सोचो, समय है
अभी भविष्यत् उज्ज्वल करने के लिये
शीघ्र समझकर उत्तर दो इस प्रश्न का

 

शान्त महा स्वर्गीय शान्ति की ज्योति से
आलोकित हो गया सुवदन कुमार का
पैतृक रक्त प्रवाह-पूर्ण धमनी हुई
शरत्काल के प्रथम शशिकला सी हसी
फैल गई मुख पर 'जोरावरसिंह' के
कहा—'यवन! क्या व्यर्थ मुझे समझा रहे
बाहगुरु की शिक्षा मेरी पूर्ण है
उनके चरणो की आभा हृत्पटल पर
अंकित है, वह सुखमय मुख दिखला रही
परमात्मा की इच्छा जो हो, पूर्ण हो'
कहा घूमकर फिर लघुभ्राता से—'कहो,
क्या तुम हो भयभीत मृत्यु के गर्त्त से
गडने मे क्या कष्ट तुम्हे होगा नही'
शिशु कुमार ने कहा—'बडे भाई जहाँ,
वहाँ मुझे भय क्या है? प्रभु की कृपा से'

 

निष्ठुर यवन अरे क्या तू यह कह रहा
धम यही है क्या इस निम्मम शास्त्र का
कोमल कोरक युगल तोडकर डाल से
मिट्टी के भीतर तू कुचला चाहता
हाय धर्म का प्रबल भयानक रूप यह
महाताप को भी उल्लघन कर गया
कितने गये जलाये, वध कितने हुए
निर्वासित कितने होकर कब कब नही
वलि चढ गये, धन्य देवि धर्मान्धिते

• •

राक्षस से रक्षा करने को धम की
प्रभु पाताल जा रहे हैं युगमूत्ति से
अथवा जिनकी नाल नही दिखला रही
ऐसे दो स्थलपद्म खिले सानन्द है
इटो से चुन दिये गये आकठ वे
वाल-बरावर भी न भाल पर, बल पडा—
जोरावर औ' फतहसिंह के, धन्य हैं—
जनक और जननी इनकी, यह भूमि भी

• •

सूबा ने फिर कहा—'अभी भी समय है—
बचने का बालको, निकल कर मान लो
बात हमारी' तिरस्कार की दृष्टि फिर
खुलकर पडी यवन के प्रति, वीणा बजी—
'क्यो अन्तिम प्रभु स्मरण-काय मे भी मुझे
छेड रहे हो ? प्रभु की इच्छा पूण हो'

• •

सब आच्छादित हुआ यवन की बुद्धि सा
कमल-कोश मे भ्रमर गीत सा प्रेममय
मधुर प्रणव गुञ्जरित स्वच्छ लगा, होने
शान्ति ! भयानक शान्ति ! और निस्तब्धता !

•

श्रीकृष्ण-जयन्ती

कस-हृदय की दुश्चिन्ता सा जगत् मे
अन्धकार है व्याप्त, घोर घन है उठा
भीग रहा है नीरद अपने नीर से
मन्थर गति है उनकी वैसी व्योम मे
रुके हुए थे, 'कृष्ण-वर्ण' को देख लें—
जो कि शीघ्र ही लज्जित कर देगा उन्हे
जगत् आन्तरिक अन्धकार से व्याप्त है
उसका ही यह बाह्य रूप है व्योम मे
उसे उजाले मे ले आने को अभी
दिव्य ज्योति प्रकटित होगी क्या सत्य ही

 

सुर-सुन्दरी-वृन्द भी है कुछ ताक मे
हो करके चञ्चला घूमती ह यहाँ—
झाक झाककर किसको हैं ये देखती
छिडक रहा है प्रेमसुधा क्यो मेघ भी

किसका है आगमन अहा आनन्दमय
मधुर मेघ-गर्जन मृदङ्ग है बज रहा
झिल्ली वीणा बजा रही है क्यो अभी
तूयनाद भी शिखिगण कैसे कर रहे
दौड दौडकर सुमन-सुरभि लेता हुआ
पवन स्पर्श करना किसको है चाहता
तरुण तमाल लिपटकर अपने पत्र मे
किसका प्रेम जताता है आनन्द से
रह रहकर चातक पुकारता है किसे—
मुक्त कठ से, किसे बुलाता है कहो
रहो रहो यह झगडा निबटेगा तभी
छिपी हुई जब ज्योति प्रकट हो जायगी
हाँ, हाँ, नीरद वृन्द, और तम चाहिये
कोई परदे वाला है यह आ रहा
परदा खोलेगा जो एक नया नही—
जगत रङ्गशाला मे, मङ्गलपाठ हो
द्विजकुल-चातक और जरा ललकार दो—
'अरे बालको इस सोये ससार के
जाग पडो, जो अपनी लीला खेल मे
तुम्हे बतावेंगे उस गुप्त रहस्य को—
जिसका सोकर स्वप्न देखते हो अभी
मानव-जाति बनेगी गोधन, और जो
बनकर गोपाल घुमावेंगे उन्हे—
वही कृष्ण हैं आते इस ससार मे
परमोज्ज्वल कर देंगे अपनी कान्ति से
अन्धकारमय भव को, परमानन्दमय
कम-मार्ग दिखलावेंगे सब जीव को

 

यमुने! अपना क्षीण प्रवाह बढा रखो
और वेग से बहो, कि चरण पवित्र से
सङ्गम होकर नील कमल खिल जायगा
व्रजकानन! सब हरे रहो, लतिका घनी—

हो होकर तरुराजी से लिपटी रहे
कृष्णवर्ण के आश्रय होकर स्थित रहें
घन ! घेरो आकाश नीलमणि-रङ्ग से
जितना चाहो, पर अब छिपने को नही
नवल ज्योति वह, प्रकटित होगी जो अभी
भव-बन्धन के खुलो किवाडो ! शीघ्र ही
परम प्रबल आगमन रोक सकती नही
यह शृंखला, तुम्हारे मे है जो लगी
दिव्य, अलौकिक हर्ष और आलोक का—
स्वच्छ स्रोत खर वेग सहित बहता रहे
खल-दृग जिसको देख न सकें, न सह सकें

 

जलदजाल सा शीतलकारी जगत् को
विद्युद्‌वृन्द समान तेजमय ज्योति वह
प्रकट हुई, पपिहा-पुकार-सा मधुर औ'—
मनमोहन आनन्द विश्व म छा गया
बरस पडे नव नीरद मोती औ' जुही



झरना

समर्पण

हृदय ही तुम्हे दान कर दिया।
क्षुद्र था, उसने गव किया॥
तुम्हे पाया अगाध गम्भीर।
कहा जल विन्दु, कहाँ निधि क्षीर॥
हमारा कहो न अब क्या रहा?
तुम्हारा सब कन का हो रहा॥
तुम्हे अपण, औ' वस्तु त्वदीय?
छीन लो छीन ममत्व मदीय॥

●

परिचय

उषा का प्राची मे आभास,
सरोरुह का सर बीच विकास ॥
कौन परिचय ? था क्या सम्बन्ध ?
गगन मण्डल मे अरुण विलास ॥
रहे रजनी मे कहा मिलिन्द ?
सरोवर बीच खिला अरविन्द।
कौन परिचय ? था क्या सम्बन्ध ?
मधुर मधुमय मोहन मकरन्द ॥
प्रफुल्लित मानस बीच सरोज,
मलय से अनिल चला कर खोज।
कौन परिचय ? था क्या सम्बन्ध ?
वही परिमल जो मिलता रोज ॥
राग से अरुण घुला मकरन्द।
मिला परिमल से जो सानन्द।
वही परिचय, था वह सम्बन्ध
"प्रेम का मेरा तेरा छन्द ॥"



झरना

मधुर है स्रोत मधुर है लहरी
न है उत्पात, छटा है छहरी
मनोहर झरना।

कठिन गिरि कहाँ विदारित करना
बात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी

कल्पनातीत काल की घटना
हृदय को लगी अचानक रटना
देखकर झरना।

प्रथम वर्षा से इसका भरना
स्मरण हो रहा शैल का कटना
कल्पनातीत काल की घटना

कर गई प्लावित तन मन सारा
एक दिन तव अपाङ्ग की धारा
हृदय से झरना—

वह चला, जैसे दृगजल ढरना।
प्रणय वन्या ने किया पसारा
कर गई प्लावित तन मन सारा

प्रेम की पवित्र परछाईं मे
ललसा हरित विटप झाईं म
वह चला झरना।

तापमय जीवन शीतल करना
सत्य यह तेरी सुघराई मे
प्रेम की पवित्र परछाईं मे॥



अव्यवस्थित

विश्व के नीरव निर्जन मे।

जब करता हूँ वेकल, चचल,
मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल,
हो जाता है भ्रान्त,
भटकता है भ्रम के वन मे,
विश्व के कुसुमित कानन मे।

जब लेता हूँ आभारी हो,
वल्लरियो से दान
कलियो की माला बन जाती,
अलियो का हो गान,
विकलता वढती हिमवन्त मे,
विश्वपति ! तेरे आँगन मे।

जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर सकलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झनकार,
चमत्कृत होता हूँ मन मे,
विश्व के नीरव निर्जन मे।



प्रथम प्रभात

मनोवृत्तियाँ खग-कुल सी थी सो रही
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड मे।
नील गगन सा शान्त हृदय था हो रहा
बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही।

स्पन्दन-हीन नवीन मुकुल मन तुष्ट था
अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरन्द से।
अहा! अचानक किस मलयानिल ने तभी,
फूलो के सौरभ से पूरा लदा हुआ।

आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया मुझ,
खुली आख, आनन्द दृश्य दिखला दिया।
मनोवेग मधुकर सा फिर तो गूँज के
मधुर मधुर स्वर्गीय गान गाने लगा।

वर्षा होने लगी कुसुम मकरन्द की,
प्राण पपीहा बोल उठा आनन्द मे
कैसी छबि ने बाल अरुण सी प्रकट हो
शून्य हृदय को नवल राग रंजित किया।

सद्य स्नात हुआ मै प्रेम सुतीर्थ म,
मन पवित्र उत्साह-पूर्ण सा हो गया,
विश्व, विमल आनन्द भवन सा हो गया,
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था।



खोलो द्वार

शिशिर-कणों से लदी हुई, कमली के भीगे हैं सब तार,
चलता है पश्चिम का मारुत, लेकर शीतलता का भार।
भीग रहा है रजनी का वह, सुंदर कोमल कबरी भार,
अरुण किरण सम, कर से छू लो, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार।

धूल लगी है, पद काँटों से बिंधा हुआ, है दुःख अपार,
किसी तरह से भूला भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार।
डरो न इतना, धूलि धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार,
धो डाले हैं इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू धार।
मेरे धूलि लगे पैरों से, इतना करो न घृणा प्रकाश,
मेरे ऐसे धूल कणों से, कब तेरे पद को अवकाश!
पैरों ही से लिपटा लिपटा कर लूँगा निज पद निर्धार,
अब तो छोड़ नहीं सकता हूँ, पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार।
सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार
मिट जावे जो तुमको देखूँ, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार॥



रूप

ये वङ्किम भ्रू युगल, कुटिल कुन्तल घने,
नील नलिन से नेत्र चपल मद से भरे,
अरुण राग रंजित कोमल हिम खण्ड से—
सुन्दर गोल कपाल, सुढर नासा बनी।

धवल स्मिति जैसे शारद घन बीच में—
(जो कि कौमुदी से रंजित है हो रहा)
चपला-सी है, ग्रीवा हंसी सी बढ़ी।
रूप जलधि में लोल लहरियाँ उठ रही।

मुक्तागण हैं लिपटे कोमल कम्बु म।
चञ्चल चितवन चमकीली है कर रही—
सृष्टि मात्र को, मानो पूरी स्वच्छता—
चीनांशुक बनकर लिपटी है अङ्ग मे।

अस्त-व्यस्त है वह भी ढँक ले कौन-सा—
अङ्ग, न जिसमें कोई दृष्टि लगे उसे।
सिंचे हुए वे सुमन सुरभि मकरन्द से—
पद्म तितलियों के करते हैं व्यजन से।



दो बूँदें

शरद का सुन्दर नीलाकाश,
निशा निखरी, था निमल हास,
वह रही छाया पथ म स्वच्छ
सुधा सरिता लेती उच्छ्वास।
पुलक कर लगी देखने धरा,
प्रकृति भी सकी न आँखें मूँद,
सुशीतलकारी शशि आया,
सधा की मनो बडी सी बूँद।

• •

हरित किसलयमय कोमल वृक्ष,
झुक रहा जिसका पाकर भार,
उसी पर रे मतवाले मधुप!
बैठकर करता तू गुजार।
न आशा कर तू अरे! अधीर,
कुसुम रज—रस ले लूँगा गूँद,
फूल है नन्हा सा नादान,
भरा मकरन्द एक ही बूँद।

•

पावस-प्रभात

नव तमाल श्यामल नीरद माला भली
श्रावण की राका रजनी मे घिर चुकी,
अब उसके कुछ बचे अश आकाश मे
भूले भटके पथिक सदृश हैं घूमते।

अध रात्रि मे खिली हुई थी मालती,
उस पर से जो बिछल पडा था, वह चपल—
मलयानिल भी अस्त व्यस्त है घूमता
उसे स्थान ही कही ठहरने को नही।

मुक्त व्योम मे उडते उडते डाल से,
कातर अलस पपीहा की वह ध्वनि कभी—
निकल निकल कर भूल या कि अनजान मे,
लगती है खोजने किसी को प्रेम से।

क्लान्त तारकागण की मद्यप-मण्डली
नेत्र निमीलन करती है फिर खोलती।
रिक्त चषक सा चन्द्र लुढककर है गिरा,
रजनी के आपानक का अब अत है।

रजनी के रजक उपकरण बिखर गये,
घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर—
अरुण अपागो से देखा, कुछ हँस पडी,
लगी टहलने प्राची प्रागण मे तभी॥



वसन्त की प्रतीक्षा

परिश्रम करता हूँ अविराम, बनाता हूँ क्यारी औ कुंज।
सींचता दृग-जल से सानन्द, खिलेगा कभी मल्लिका-पुंज।
न कांटों की है कुछ परवाह, सजा रखता हूँ इन्हे सयत्न।
कभी तो होगा इनमे फूल, सफल होगा यह कभी प्रयत्न।
कभी मधु राका देख इसे, करेगी इठलाती मधुहास।
अचानक फूल खिल उठेंगें, कुंज होगा मलयज-आवास।
नई कोंपल मे से कोकिल, कभी किलकारेगा सानन्द।
एक क्षण बैठ हमारे पास, पिला देगा मदिरा-मकरन्द।
मूक हो मतवाली ममता, खिले फूलों से विश्व अनन्त।
चेतना बने अधीर मिलिन्द, आह वह आवे विमल वसंत॥



वसन्त

तू आता है फिर जाता है।
जीवन में पुलकित प्रणय सदृश,
यौवन की पहली कान्ति अकृश,
जैसी हो, वह तू पाता है, हे वसन्त क्यों तू आता है?
पिक अपनी कूक सुनाता है,
तू आता है फिर जाता है।
बस, खुले हृदय से करुण कथा,
बीती बातें कुछ मर्म व्यथा,
वह डाल डाल पर जाता है फिर ताल ताल पर गाता है।
मलयज मन्थर गति आता है,
तू आता है फिर जाता है।
जीवन की सुख दुख आशा सब,
पतझड़ हो पूर्ण हुई है अब,
विकसित रसाल मुसक्याता है, कर किसलय हिला बुलाता है।
हे वसन्त क्यों तू आता है?
तू आता है फिर जाता है।



किरण

किरण ! तुम क्या बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु पराग।

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन,—
किसी अज्ञात विश्व की विकल
वेदना-दूती सी तुम कौन ?

अरुण शिशु के मुख पर सविलास,
सुनहली लट घुँघराली कान्त,
नाचती हो जैसे तुम कौन ?—
उषा के चंचल में अश्रान्त।

भला उस भोले मुख को छोड़,
और चूमोगी किसका भाल,
मनोहर यह कैसा है नृत्य,
कौन देता है सम पर ताल ?

कोकनद मधु धारा सी तरल,
विश्व मे बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानन्द,
उठाकर सुन्दर सरस हिलोर।

स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन,
मिलाती हो उससे भूलोक ?
जोडती हो कैसा सम्बन्ध,
बना दोगी क्या विरज विशोक।

सुदिनमणि-वलय विभूषित उषा—
सुन्दरी के कर का सकेत—
कर रही हो तुम किसको मधुर,
किसे दिखलाती प्रेम निकेत ?

चपल ! ठहरो कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमनमन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया वहा वसन्त।

विषाद

कौन, प्रकृति के करुण काव्य सा,
वृक्ष-पत्र की मधु छाया मे।
लिखा हुआ सा अचल पडा है,
अमृत सदृश नश्वर काया मे।

अखिल विश्व के कोलाहल से,
दूर सुदूर निभृत निर्जन मे।
गोधूली के मलिनाञ्चल मे,
कौन जङ्गली बैठा वन मे।

शिथिल पडी प्रत्यञ्चा किसकी,
धनुष भग्न सब छिन्न जाल है।
वशी नीरव पडी धूल मे,
वीणा का भी बुरा हाल है।

किसके तममय अन्तरतम मे,
झिल्ली की झनकार हो रही।
स्मृति सन्नाटे से भर जाती,
चपला ले विश्राम सो रही।

किसके अन्तःकरण अजिर में,
अखिल व्योम का लेकर मोती।
आँसू का बादल बन जाता,
फिर तुषार की वर्षा होती।

विषयशून्य किसकी चितवन है,
ठहरी पलक अलक में आलस।
किसका यह सूखा सुहाग है,
छिना हुआ किसका सारा रस।

निर्झर कौन बहुत बल खाकर,
बिलखाता ठुकराता फिरता।
खोज रहा है स्थान धरा में,
अपने ही चरणों में गिरता।

किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण है॥



वालू की वेला

आँख वचाकर न किरकिरा कर दो इस जीवन का मेला।
कहाँ मिलोगे ? किसी विजन मे ?—न हो भीड का जव रेला।
दूर ! कहाँ तक दूर ? थका भरपूर चूर सव अग हुआ।
दुगम पथ मे विरथ दौडकर खेल न था मैंने खेला।
कहते हो 'कुछ दुख नहीं', हाँ ठीक, हँसी से पूछो तुम।
प्रश्न करो टेढी चितवन से, किस किसको किसने झेला ?
आने दो मीठी मीडो से नूपुर की झनकार, रहो।
गलवाही दे हाथ वढाओ, कह दो प्याला भर दे, ला।
निठुर इन्ही चरणो म मैं रत्नाकर हृदय उलीच रहा।
पुलकित, प्लावित रहो, वनो मत सूखी वालू की वेला॥



चिह्न

इस अनन्त पथ के कितने ही, छोड छोड विश्राम-स्थान,
आये थे हम विकल देखने, नव वसन्त का सुन्दर मान।

मानवता के निजन बन मे जड थी प्रकृति शान्त था व्योम,
तपती थी मध्याह्न किरण सी प्राणो की गति लोम विलोम।

आशा थी परिहास कर रही स्मृति का होता था उपहास,
दूर क्षितिज मे जाकर सोता था जीवन का नव उल्लास।

द्रुतगति से था दौड लगाता, चक्कर खाता पवन हताश,
विह्वल सी थी दीन वेदना, मुँह खाले मलीन अवकाश।

हृदय एक निश्वास फेंककर खोज रहा था प्रेम निकेत,
जीर्ण काण्ड वृक्षो के हँसकर रूखा सा करते सकेत।

बिखर चुकी थी अम्बरतल मे सौरभ की शुचितम सुख धूल,
पृथ्वी पर थे विकल लोटते शुष्क पत्र मुरझाये फूल।

गोधूली की धूसर छवि ने चित्रपटी ली सकल समेट,
निमल चिति का दीप जलाकर छोड चला यह अपनी भेंट।

मधुर आँच से गला बहावेगा शैलो से निर्झर लोक,
शान्ति सुरसरी की शीतल जल लहरी को देता आलोक।

नव यौवन की प्रेम कल्पना और विरह का तीव्र विनोद,
स्वण रत्न की तरल काति, शिशु का स्मित या माता की गोद।

इसके तल के तम अचल मे इनकी लहरो का लघु भान,
मधुर हँसी से अस्त व्यस्त हो, हो जायेगी, फिर अवसान॥



दीप

धूसर सन्ध्या चली आ रही थी अधिकार जमाने को,
अन्धकार अवसाद कालिमा लिये रहा बरसाने को।
गिरि सकट मे जीवन-सोता मन मारे चुप बहता था,
कल कल नाद नही था उसमे मन को बात न कहता था।
इसे जाह्नवी सा आदर दे किसने भेंट चढाया है,
अञ्चल से सस्नेह बचाकर छोटा दीप जलाया है।
जला करेगा वक्षस्थल पर वहा करेगा लहरी मे,
नाचेंगी अनुरक्त वीचियाँ रजित प्रभा सुनहरी मे,
तट तरु की छाया फिर उसका पैर चूमने जावेगी,
सुप्त खगो की नीरव स्मृति क्या उसको गान सुनावेगी।
देख नग्न सौन्दय प्रकृति का निजन म अनुरागी हो,
निज प्रकाश डालेगा जिसमे अखिल विश्व समभागी हो।
किसी माधुरी स्मित सा होकर यह सकेत बताने को,
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता वह जाने को॥



अर्चना

वीणे! पंचम स्वर में बज कर मधुर मधु
बरसा दे तू स्वयं विश्व में आज तो।
उस वर्षा में भीगे जाने से भला
लौट चला आवे प्रियतम इस भवन में।
आश्रय ले मेरे वक्षस्थल में तनिक।
लज्जे! जा, बस अब न सुनूँगी एक भी—
तेरी बातों में से, तूने दुख दिया,
रुष्ट हो गये प्रियतम, और चले गये।
यह कैसा संकोच, मन! तुझे क्या हुआ!
बड़ी बड़ी अभिलाषायें इस हृदय ने
संचित की थीं इस छोटे भाण्डार में,
लज्जावती लता सा होकर संकुचित—
जो अपने ही में छिप जाना चाहता।
यदि साहस हो, उसे खोल कर दग लो,
मन मन्दिर में नाथ हमारी 'अर्चना'
हुई उपेक्षित तुमसे, हँसती है हमें।

स्निग्ध कामना कुसुम रचित यह मालिका—
लज्जित है, प्रियतम के गले लगी नहीं।
प्रियतम! ऐसा ही क्या तुमको उचित था।
प्राण प्रदीप न जलता है आलोक वह—
जिसमें वांछित रूप तुम्हारा देख लूँ।
जीवनधन! क्या अश्रु सलिल अभिषेक भी
तृप्त नहीं कर सका तुम्हें! सब व्यर्थ है।
क्यों न इतने निर्दय हुए! प्राण हा!
हो जायेगा जब निराश मन फिर कभी
प्यार हमारा आयेगा, होगी दया।
तो क्या सुखी न होगे तुम—यह सोच लो,
फिर, जैसा मन में आवे वैसा करो।



बिखरा हुआ प्रेम

अरुणोदय में चचल होकर, व्याकुल होकर विकल प्रेम से,
मायामयी सुप्ति मे सोकर, अति अधीर हो अचक्षेम से,
टुकडे टुकडे कर फका था जीवन का निगूढ आनन्द,
नील निशा के शून्य गगन म लो फैलाकर फिर छल छन्द,
बनकर तारा निकर मनोहर उदय हुआ वह उसी नियम से।
रिक्त हुए हम व्यय फेंककर विकल हुए तम अतुल विषम से।

प्रणयी प्रणत बनू में क्याकर दुबलता निज समझ, क्षोभ से,
जीवन मदिरा कैसे रोकर, भरू पात्र में तुच्छ लोभ से-
हाय! मुझे निष्किञ्चन क्यो कर डाला रे! मेरे अभिमान,
वही रहा पाथेय, तुम्हारे इस अनन्त पथ का अनजान,
बूँद बूँद से सींचो, पर ये, भीगेंगे न सकल अणु तुम से।
खोजो अपना प्रेम सुधाकर, प्लावित हो भव शीतल हिम से॥

•

झरना पृष्ठ

कब ?

शून्य हृदय में प्रेम-जलद माला कब फिर घिर आवेगी ?
वर्षा इन आँखों से होगी, कब हरियाली छावेगी ?
रिक्त हो रही मधु से सौरभ सूख रहा है आतप है,
सुमन कली खिलकर कब अपनी पंखुड़ियाँ बिखरावेगी ?
लम्बी विश्व कथा में सुख की निद्रा सी इन आँखों में—
सरस मधुर छवि शान्त तुम्हारी कब आकर बस जावेगी ?
मन-मयूर कब नाच उठेगा कादंबिनी छटा लखकर,
शीतल आलिंगन करने को सुरभि लहरियाँ आवेंगी ?
बढ़ उमंग-सरिता आवेगी आर्द्र किये रूखी सिकता,
सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी ?



स्वभाव

दूर हटे रहते थे हम तो आप ही
क्यो परिचित हो गये ? न थे जब चाहते—
हम मिलना तुमसे। न हृदय मे वेग था
स्वय दिखा कर सुन्दर हृदय मिला लिया

दूध और पानी सा, अब फिर क्या हुआ—
देकर जो कि खटाई फाडा चाहते ?
भरा हुआ था नवल मेघ जल बिन्दु से,
ऐसा पवन चलाया, क्यो बरसा दिया ?

शून्य हृदय हो गया जलद, सब प्रेम-जल—
देकर तुम्हे। न तुम कुछ भी पुलकित हुए।
मरु-धरणी सम तुमने सब शोषित किया।
क्या आशा थी आशा कानन को यही ?

चन्चल हृदय तुम्हारा केवल खेल था,
मेरी जीवन मरण समस्या हो गई।
डरते थे इसको, होते थे सकुचित
'कभी न प्रकटित तुम स्वभाव कर दो कभी।'



असन्तोष

हरित वन कुसुमित हैं द्रुम-वृन्द,
बरसता है मलयज मकरन्द।
स्नेह मय सुधा दीप है चन्द,
खेलता शिशु होकर आनन्द।
क्षुद्र गृह किन्तु हुआ सुख मूल, उसी मे मानव जाता भूल।
नील नभ मे शोभन विस्तार,
प्रकृति है सुन्दर, परम उदार।
नर हृदय, परिमित, पूरित स्वार्थ,
बात जँचती कुछ नही यथार्थ।
जहा सुख मिला न उससे तृप्ति, स्वप्न सी आशा मिली सुषुप्ति।
प्रणय की महिमा का मधु मोद,
नवल सुषमा का सरल विनोद,
विश्व गरिमा का जो था सार,
हुआ वह लघिमा का व्यापार।
तुम्हारा मुक्तामय उपहार हो रहा अश्रुकणो का हार।

भरा जी तुमको पाकर भी न,
हो गया छिछले जल का मीन।
विश्व भर का विश्वास अपार,
सिन्धु सा तैर गया उस पार।
न हो जब मुझ को ही संतोप, तुम्हारा इसमे क्या है दोप ?



अनुनय

उसी स्मृति-सौरभ में मृगमन मस्त रहे
यही है हमारी अभिलाषा सुन लीजिये।
शीतल हृदय सदा होता रहे आँसुओं से
छिपिये उसी में मत बाहर हो भीजिये।
हो जो अवकाश तुम्हें ध्यान कभी आवे मेरा
अहो प्राणप्यारे, तो कठोरता न कीजिये।
क्रोध से, विषाद से, दया से पूर्व प्रीति ही से
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिये॥

●

प्रियतम !

क्यो जीवनधन ! ऐसा ही है न्याय तुम्हारा क्या सवत्र ?
लिखते हुए लेखनी हिलती, कँपता जाता है यह पत्र।
औरो के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नही।
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कही ॥
निदय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौंप दिया।
प्रेम नही, करुणा करने को, क्षण भर तुमने समय दिया।
अब से भी तो अच्छा है, अब और न मुझे करो बदनाम।
क्रीडा तो हो चुकी तुम्हारी, मेरा क्या होता है काम ?
स्मृति को लिये हुए अन्तर मे, जीवन कर देंगे निदोप।
छोडो, अब दिखलाओ मत, मिल जाने का यह लोभ विशेप ॥
कुछ भी मत दो, अपना ही जो मुझे बना लो, यही करो।
रक्खो जब तक आँखो में, फिर और द्वार पर नही ढरो ॥
कोर बरौनी का न लगे हाँ, इस कोमल मन का मेरे।
पुतली बन कर रहे चमकते, प्रियतम ! इस दृग में तेरे ॥



कहो ?

शिथल शयन सम्भोग दलित कवरी के कुसुम सदृश कैसे,
प्रतिपद व्याकुल आज छन्द क्यो होते हैं प्रियतम ! ऐसे ?
वाणी मस्त हुई अपने मे, उससे कुछ न कहा जाता,
गद्गद् कण्ठ स्वयं सुनता है जो कुछ है वह कह जाता ॥
ऊँचे चढे हुए वीणा के तार मधुप से गूँज रहे,
पर्दा रखते हैं सुर पर वे मनमाने से बोल रहे।
जीवनधन ! यह आज हुआ क्या बतलाओ, मत मौन रहो,
बाह्य वियोग, मिलन या मन का, इसका कारण कौन कहो ?



निवेदन

तेरा प्रेम हलाहल प्यारे, अब तो सुख से पीते हैं।
विरह सुधा से बचे हुए हैं, मरने को हम जीते हैं॥
दौड़ दौड़ कर थका हुआ है, पड़ कर प्रेम पिपासा मे।
हृदय खूब ही भटक चुका है, मृग मरीचिका आशा मे॥
मेरे मरुमय जीवन के हे सुधा-स्रोत! दिखला जाओ।
अपनी आँखों के आँसू से इसको भी नहला जाओ॥
डरो नही, जो तुमको मेरा उपालम्भ सुनना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुख को चुप कर देगा॥



प्यास

हृदय की दारुण ज्वाला से,
हुए व्याकुल हम उस दिन पूर्ण।
देखती प्यासी आँखें थी
रस भरी आखो को मदघूर्ण।।
प्यास बढती ही जाती थी,
बुझाने की इच्छा थी बडी।
दिया उन हाथो ने प्याला,
अचञ्चल चित्त हुआ उस घडी।।
राग रञ्जित थी वह पेया,
उसे पीते पीते रुक गये।
प्रश्न मेरा यह उनसे था,
पूछने से वे प्रमुदित हुए।।
नशीली आँखो सदृश कहो,
तुम्हारी ही, इसमे है नशा?
"गुलावी हल्का सा" बोले,
स्तब्ध हो रही मोह की निशा।।

मौन थे सुनकर मेरा प्रश्न,
"सदा यह बनो रहेगी भली।"
कँटीला था गुलाब चैती,
उठी चटचटा उसी की कली॥
उषा आभास चन्द्रिका मे,
पवन परिमल-परिपूरित सङ्ग॥
बढ रही थी प्राची मे वह,
बदलता था नभ का कुछ ढङ्ग॥
कहा व्याकुल हो मैने भी,
तुम्हारे कोमल कर से वही—
चाहता पीना मै प्रियतम,
नशा जिसका उतरे ही नही॥
हृदय की बात नवीन कली—
सदृश हम खोल कह चुके हाय!
फुल्ल मल्लिका सदृश वह भी,
चुप रहे जीवनधन मुसक्याय॥

पी ! कहा ?

डाल पर बोलता है पपीहा—
'हो भला प्राणधन, तुम कहो—? हा !'
आ मिलो हो जहाँ।
पी ! कहा ? पी ! कहाँ ?
प्यास से मर रहे दीन चातक
क्या बना चाहते प्राण घातक ?
श्यामघन ! हो कहा ?
पी ! कहाँ ? पी ! कहा ?
नभ-हृदय म घिरी मेघमाला
चञ्चला कर रही है उजाला ॥
देख लूँ, हो कहाँ ?
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?
जलमयी हो रही यह धरा है।
कण्ठ फिर भी न होता हरा है ॥
प्यास मे जल रहा।
पी ! कहाँ ? पी ! कहा ?
"प्यास कैसी तुम्हारी ? पपीहा !
कम न हो कर बढी जा रही हा ?"
लो, वही कह रहा—
पी ! कहा ? पी ! कहाँ ?

●

पाईंबाग

सरसो के पीले कागज पर वसन्त की आज्ञा पाकर।
गिरा दिये वृक्षो ने सारे पत्ते अपने सुखला कर॥
खडे देखते राह नये कोमल किसलय की आशा मे।
परिमलपूरित पवन-कठ से, लगने की अभिलाषा मे॥
अतल सिन्धु मे लगा लगा कर जीवन की बेडी बाजी।
व्यथ लगाने को डुब्बी हां, होगा कौन भला राजी॥
मिले नही जो वाछित मुक्ता अपना कठ सजाने को।
अपना गला कौन देगा यो, बस केवल मर जाने को।
मलयानिल की तरह कभी आ, गले लगोगे तुम मेरे।
फिर विकसेगी उजडी क्यारी, क्या गुलाब की यह भेरे॥
कभी चहलकदमी करने को, काँटो का कुछ ध्यान न कर।
अपना पाईंबाग बना लोगे प्रिय! इस मन को आकर।



प्रत्याशा

मन्द पवन वह रहा अँधेरी रात है।
आज अकेले निर्जन गृह मे क्लान्त हो—
स्थित हूँ, प्रत्याशा मे मैं तो प्राणधन।
शिथिल विपञ्ची मिली विरह सगीत से
बजने लगी उदास पहाडी रागिनी।
कहते हो—"उत्कण्ठा तेरी कपट है।"
नही नही उस घुँधले तारे को अभी,—
आधी खुली हुई खिडकी की राह से
जीवन-धन! मैं देख रहा हूँ सत्य ही।
दिखलाई पडता है जो तम-व्योम मे,
हिचको मत निस्सङ्ग न देख मुझे अभी।
तुमको आते देख, स्वय हट जायँगे—
वे सब, आओ, मत सकोच करो यहा।
सुलभ हमारा मिलना है—कारण यही—
ध्यान हमारा नही तुम्हे जो हो रहा।
क्योकि तुम्हारे हम तो करतलगत रहे
हाँ, हाँ, औरो की भी हो सम्भावना।

किन्तु न मेरी करो परीक्षा, प्राणधन !
होड लगाओ नही, न दो उत्तेजना।
चलने दो मलयानिल को शुचि चाल से।
हृदय हमारा नही हिलाने योग्य है।
चन्द्र-किरण--हिम-बिन्दु--मधुर-मकरन्द से
बनी सुधा, रख दी है हीरक-पात्र मे।
मत छलकाओ इसे, प्रेम परिपूर्ण है।

स्वप्नलोक

स्वप्नलोक मे आज जागरण के समय
प्रत्याशा की उत्कण्ठा मे पूर्ण था
हृदय हमारा, फूल रहा था कुसुम सा।
देर तुम्हारे आने मे थी, इसलिये
कलियो की माला विरचित की थी कि, हा
जब तक तुम आओगे ये खिल जायँगी।
ये सब खिलने लगी, न हमको ज्ञात था।
आख खोल देखा तो चन्द्रालोक से
रञ्जित कोमल बादल नभ म छा गये,
जिस पर पवन सहारे तुम हो आ रहे।
हाय कली थी एक हृदय के पास ही
माला म, वह गडने लगी, न खिल सकी
मैं व्याकुल हो उठा कि तुमको अक मे
लेलूँ, तुमने झोरी फेंकी सुमन की
मस्त हुई आँखें, सोने को जग पडे
सुप्त सकल उद्वेग मधुरतम मोह म॥

•

दर्शन

जीवन-नाव अँधेरे अन्धड मे चली।
अद्भुत परिवर्तन यह कैसा हो गया।
निर्मल जल पर सुधा भरी है चन्द्रिका,
बिछल पडी, मेरी छोटी सी नाव भी।
वंशी की स्वर लहरी नीरव व्योम मे—
गूँज रही है, परिमल पूरित पवन भी—
खेल रहा है जल लहरी के सङ्ग मे।
प्रकृति भरा प्याला दिखलाकर व्योम मे—
बहकाती है, और नदी उस ओर ही—
बहती है। खिडकी उस ऊँचे महल की—
दूर दिखाई देती है, अब क्यो रुके—
नौका मेरी, द्विगुणित गति से चल पडी।
किंतु किसी के मुख की छवि किरणें घनी,
रजत रज्जु सी लिपटी नौका से वही,
बीच नदी मे नाव किनारे लग गई।
उस मोहन मुख का दर्शन होने लगा॥



मिलन

इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आ कर मेदिनी से मिल रहा,
कोकिलो का स्वर विपञ्ची नाद भी
चन्द्रिका, मलयज पवन, मकरन्द औ'
मधुप माधविकाकुसुम से कुञ्ज मे
मिल रहे, सब साज मिलकर बज रहे
आज इस हृदयाब्धि मे, बस क्या कहूँ।
तुगतरल तरग ऐसी उठ रही—
शीतकर शत शत उदय होने लगे।
तारिकायें नील नभ मे आज ये,
फूल की झालर बनी हैं शोभती।
गन्ध सौरभ वायुमण्डल की तहे,
अन्तरिक्ष विशाल मे ह मिल रही।
चन्द्र-कर पीयूष वर्षा कर रहा।
दृष्टि-पथ मे सृष्टि है आलोकमय,
विश्व वैभव से भरा यह धन्य है।
हृदय-वीणा कर रही प्रस्तार अब,
तीव्र पञ्चम तान की उल्लास से।
बेसुरा पिक पा नही सकता कभी,
इस रसीली मूर्च्छना की मत्तता।



आशालता

तुम्हारी करुणा ने प्राणेश !
बनाकर नव मनमोहन वेश ॥
दीनता को अपनाया,
उसी से स्नेह बढाया,
लता अज्ञात बढ चली साथ।
मिला था करुणा का शुभ हाथ ॥

नित्य की सन्ध्या और प्रभात।
स्वणमय जब होता रवि गात ॥
व्योम ने रङ्ग खिलाया,
विश्व ने व्यथ नहाया,
स्वणघट म जल भर कर कान्त।
दीनता लाती थी अश्रान्त ॥

दया का स्पर्श मात्र अभिराम।
बनाता उसे, सुरभि का धाम ॥
उसी जल से नहलाया,
मधुप गण को बुलवाया,
निछावर करते थे जो प्राण।
विना फूलो के पाये घ्राण ॥

बहुत दिन तक सिञ्चन का काय।
हुआ करता अविरल अनिवाय॥
युगल ही अंकुर आया,
लता ने और न पाया,
गई करुणा भी इक दिन ऊब।
कहा अनखाकर उसने खूब॥

"तुम्हारी आशालता सिचाव।
बहुत ले चुकी, न देती दाव॥
सीचकर क्या फल पाया,
फूल भी हाथ न आया"
नील नीरद माला की दृष्टि।
दीनताकी, करती थी वृष्टि॥



सुधासिंचन

बहुत दिन से था हृदय निराश,
और अब तो है समय नहीं।
व्यथा मैं सब कह दूँगा आज—
सुनो प्रियतम ! रुक जाव यही ॥
मचलता है यह मन, जो प्राण !
सम्हालूँगा मैं इसे नहीं।
कहे देता हूँ दूँगा छोड—
भाग्य पर, इसको जाय कहीं ॥
तुम्हारा शीतल सुख—परिरम्भ,
मिलेगा और न मुझे कहीं।
विश्व भर का भी हो व्यवधान,
आज वह बाल बराबर नहीं ॥
स्फूर्ति से बदलें सारी क्लान्ति
शान्ति म भ्रान्ति न रहे कहीं।
हृदय-क्षत मलयज से खिल जाय
सुमन भी समता पावे नहीं ॥
रागिनी गावे पुञ्ज तरङ्ग
लहर सी, हृदय पयोधि यही।
घटा से निकले बस नवचन्द्र,
सुधा से सींची जाय मही ॥



तुम !

जीवन जगत के, विकास विश्व वेद के हो,
परम प्रकाश हो, स्वय ही पूर्ण काम हो।
विधि के विरोध हो, निषेध की व्यवस्था तुम
खेद भय रहित, अभेद, अभिराम हो।
कारण तुम्ही थे, अब काम हो रहे हो तुम्ही,
धर्म कृषि मर्म के नवीन घनश्याम हो,
रमणीय आप महामोदमय धाम तो भी,
रोम रोम रम रहे कैसे तुम राम हो ?

बुद्धि के, विवेक के, या ज्ञान, अनुमान के भी
आये जो पतङ्ग तुम्हे देखने जले गये,
बलिहारी माधुरी अनन्त कमनीयता की,
रूपवाले लोटने को पैरो के तले गये।
शका लगी होने किसी को तो कोई सपने सा
जपने लगा है आप भूल मे चले गये,
छलने के लिए तो स्वांग बहुरूपिए के
तुमने अनेक लिए तुमही छले गये।

सुमन समूहो मे सुहास करता है कौन,
मुकुलो मे कौन मकरन्द सा अनूप है,
मदु मलयानिल सा माधुरी उषा मे कौन,
स्पर्श करता है, हिमकाल मे ज्यो धूप है।
मान है तुम्हारा, अभिमान है हमारा, यह
'नही नही' करना भी 'हा' का प्रतिरूप है,
घूँघट की ओट मे छिपा है भला कैसे कभी,
फूटकर निखर बिखरता जो रूप है।

हो कर अतृप्त तुम्हे देखने को नित्य नया
रूप दिये देता हूँ पुराना छोडने के लिए,
तुम्हे भी न होता परितोष कभी मेरे जान,
बनते ही जाते हो रहस्य जोडने के लिए।
कज कामना की आखें आलस से बन्द सोईं
चन्द उपहारो से भी मुँह मोडने के लिए,
बन्धन मे बँधता प्रतिज्ञा की प्रतीति किये,
तुम हँस देते, बस, उसे तोडने के लिए।

दीन दुखियो को देख आतुर अधीर अति
करुणा के साथ उनके भी कभी रोते चलो,
थके श्रमी जीवो के पसीने भरे सीने लग
जीने को सफल करने के लिए सोते चलो।
भूले, भोले बालकों के इस विश्व खेल मे भी
लीला ही से हार और श्रम सब खोते चलो,
सुखी कर विश्व, भरे स्मित सुषमा से मुख
सेवा सबकी हो, तो प्रसन्न तुम होते चलो।



हृदय का सौंदर्य

नदी की विस्तृत वेला शान्त,
अरुण मंडल का स्वर्ण विलास,
निशा का नीरव चन्द्र-विनोद,
कुसुम का हँसते हुए विकास।

एक से एक मनोहर दृश्य,
प्रकृति की क्रीडा के सब छंद,
सृष्टि मे सब कुछ है अभिराम,
सभी मे है उन्नति या ह्रास।

बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक तब देखो वह सौंदर्य,
चन्द्रिका से उज्ज्वल आलोक,
मल्लिका सा मोहन मृदुहास।

अरुण हो सकल विश्व अनुराग
करुण हो निर्दय मानव चित्त,
उठे मधु लहरी मानस में,
कूल पर मलयज का हो वास।



प्रार्थना

देख लो अपनी आखो से,
दृश्य रमणीय रूप का आज।
प्राणधन ! सच तुमको है शपथ,
तुम्हारा यह अभिनव है साज ॥

उषा सौंदयमयी मधु कान्ति
अरुण यौवन का उदय विशेष।
सहज सुषमा मदिरा से मत्त,
अहा ! कैसा नैसर्गिक वेश !

देखकर जिसे एक ही बार,
हो गए हम भी है अनुरक्त।
देख लो तुम भी यदि निज रूप,
तुम्ही हो जाओगे आसक्त !

दृष्टि फिर गई तुम्हारी, किया—
सृष्टि ने मधु धारा मे स्नान।
बह चली मदाकिनी मरन्द—
भरी, करती कोमल कल गान ॥

प्राथना अन्तर की मेरी—
यही जन्मान्तर की हो उक्ति।
"जन्म हो, निरखूँ तव सौदय
मिले इगित से जीवनमुक्ति ॥"

होली की रात

बरसते हो तारो के फूल
छिपे तुम नील पटी म कौन ?
उड रही है सौरभ को धूल
कोकिला कैसे रहती मौन ।

चादनी धुली हुई है आज
बिछलते ह तितली के पख ।
सम्हलकर, मिलकर बजते साज
मधुर उठती हैं तान असख ।

तरल हीरक लहराता शान्त
सरल आशा सा पूरित ताल ।
सितावी छिडक रहा विधु का त
बिछा है सेज कमलिनी जाल ।

पिये, गाते मनमाने गीत
टोलिया मधुपो की अविराम ।
चली आती, कर रही अभीत
कुमुद पर बरजोरी विश्राम ।

उड़ा दो मत गुलाल सी हाय
अरे अभिलाषाओं की धूल।
और ही रंग नहीं लग लाय
मधुर मंजरिया जावें झूल॥

विश्व मे ऐसा शीतल खेल
हृदय मे जलन रहे, क्या बात।
स्नेह से जलती ज्वाला झेल
बना ली हाँ, होली की रात॥



झील मे

झील मे झाईं पडती थी,
श्याम-वनशाली तट की कान्त।
चन्द्रमा नभ म हँसता था,
बज रही थी वीणा अश्रान्त॥

तृप्ति मे आशा बढती थी,
चन्द्रिका म मिलता था ध्वान्त।
गगन मे सुमन खिल रहे थे,
मुग्ध हो प्रकृति स्तब्ध थी शान्त॥

निभृत था, पर हम दोनो मे
वृत्तियाँ रह न सकी फिर दान्त।
कहा जब व्याकुल हो उनसे—
"मिलेगा कब ऐसा एकान्त?"

हाथ मे हाथ लिया मैने,
हुए वे सहसा शिथिल नितान्त।
मलय ताडित किसलय कोमल
हिल उठी उँगली, देखा, भ्रान्त॥

झील, झाईं, नभ, शशि, तारा,
विटप इंगित करते अश्रान्त।
तारिका तरल झलकती थी,
अष्टमी के शारदशशि प्रान्त॥



रत्न

मिल गया था पथ मे वह रत्न।
किन्तु मैंने फिर किया न यत्न॥
पहल न उसमे था बना,
चढा न रहा खराद।
स्वाभाविकता मे छिपा,
न था कलक विषाद॥
चमक थी, न थी तडप की झाक।
रहा केवल मधु स्निग्धालोक॥
मूल्य था मुझे नही मालूम।
किन्तु मन लेता उसको चूम॥
उसे दिखाने के लिए,
उठता हृदय कचोट।
और रुके रहते सभय,
करे न कोई खोट॥
बिना समझे ही रख दे मूल्य।
न था जिस मणि के कोई तुल्य॥
जान कर के भी उसे अमोल।
बढा कौतूहल का फिर तोल॥

चले जीवन के लिए,
वह लोभी के काम॥

पहन कर किया नहीं व्यवहार।
बनाया नहीं गले का हार॥



कुछ नहीं

हँसी आती है मुझको तभी,
जब कि यह कहता कोई कहीं—
अरे सच, वह तो है कंगाल,
अमुक धन उसके पास नहीं।

सकल निधियों का वह आधार,
प्रमाता अखिल विश्व का सत्य,
लिये सब उसके बैठा पास,
उसे आवश्यकता ही नहीं।

और तुम लेकर फेंकी वस्तु,
गर्व करते हो मन में तुच्छ,
कभी जब ले लेगा वह उसे,
तुम्हारा तब सब होगा नहीं।

तुम्हीं तब हो जाओगे दीन,
और जिसका सब संचित किए,
साथ बैठा है सब का नाथ,
उसे फिर कमी कहाँ की रही ?

शान्त रत्नाकर का नाविक,
गुप्त निधियों का रक्षक यक्ष,
कर रहा वह देखो मृदु हास,
और तुम कहते हो कुछ नहीं।



कसौटी

तिरस्कार कालिमा कलित है,
अविश्वास सी पिच्छल है।
कौन कसौटी पर ठहरेगा ?
किसमे प्रचुर मनोवल है ?
तपा चुके हो विरह वह्नि मे,
काम जँचाने का न इसे।
शुद्ध सुवर्ण हृदय है प्रियतम !
तुमको शंका केवल है॥
बिका हुआ है जीवन धन यह
कब का तेरे हाथो मे।
बिना मूल्य का, है अमूल्य यह
ले लो इसे, नही छल है॥
कृपा कटाक्ष अलम् है केवल,
कोरदार या कोमल हो।
कट जावे तो सुख पावेगा,
वार वार यह विह्वल है॥
सौदा कर लो वात मान लो,
फिर पीछे पछता लेना।
खरी वस्तु है, कही न इसमे
वाल वरावर भी वल है॥

०

अतिथि

हृदय गुफा थी शून्य,
रहा घर सूना।
इसे बसाऊँ शीघ्र,
बढा मन दूना॥
अतिथि आ गया एक,
नही पहचाना।
हुए नही पद शब्द,
न मैंने जाना॥
हुआ बडा आनन्द,
बसा घर मेरा।
मन को मिला विनोद,
कर लिया घेरा॥
उसको कहते "प्रेम"
अरे अब जाना।
लगे कठिन नख रेख,
तभी पहचाना॥
अतिथि रहा वह किन्तु
ना घर बाहर था।
लगा खेलने खेल,
- अरे, नाहर था॥



सुधा मे गरल

सुधा मे मिला दिया क्यो गरल।
पिलाया तुमने कैसा तरल॥
माँगा होकर दीन,
कठ सीचने के लिए,
गम झील का मीन,
निदय, तुमने कर दिया॥

सुना था तुम हो सुन्दर! सरल।
सुधा मे मिला दिया क्यो गरल॥
राग रञ्जित सन्ध्या हो चली।
कुमुदिनी मुकुलित हो कुछ खिली॥
तारागण नभ प्रान्त,
क्षितिज छोर मे चन्द्र था।
फैला कोमल ध्वान्त,
दीपक जल कर बुझ गये।
हमे जाने की आज्ञा मिली।
राग रञ्जित सन्ध्या हो चली॥

विजन वन, आधी रजनी गई।
मधुर मुरली ध्वनि चुप हो गई॥
थी मुझको अज्ञात,
शुक्ल पक्ष की अष्टमी,
बीते कैसे रात,
अस्त हो गई कौमुदी—
राह में ही, वह भी है नई।
विजन बन आधी रजनी गई॥



उपेक्षा करना

किसी पर मरना यही तो दु ख है ।
'उपेक्षा करना' मुये भी सुख है,
यही प्राथना हमारी ।
हमारे उर मे न सुख पाओगे,
मिला है किसको कहा जाओगे ?
चपल यह चाल तुम्हारी ।
स्वच्छ आलोकित दीप बलता है,
पखयुत कीडा सतत जलता है,
वही है दशा हमारी ।
मोह या बदला ! कौन वह सकता,
प्रेम या पीडा ! कौन सह सकता,
न हो वह दशा तुम्हारी ।
जलन छाती की बडी सहता हूँ,
मिलो मत मुझसे यही कहता हूँ,
बडी हो दया तुम्हारी ।
तुम रहो शीतल हमे जलने दो,
तमाशा देखो हाथ मलने दो,
तुम्हे है शपथ हमारी ॥



वेदने ठहरो !

सुखद थी पीडा, हृदय की क्रीडा,
प्राण मे भरी भयानक भक्ति।
मनोहर मुख था, न मुझको दुख था,
रही विप्रयोग मे न विरक्ति।

वेदना मिलती, ओषधी घुलती,
मिलन का स्वप्न कराता भान।
नवल निद्रा का, मधुर तन्द्रा का,
व्यथा आरम्भ, वही अवसान।

न मुझसे अडना, यहाँ का लडना,
प्राण है केवल मेरा अस्त्र।
वेदने ठहरो ! कलह तुम न करो,
नही तो कर दूँगा नि शस्त्र ॥

धूल का खेल

धूप थी कडी पवन था उष्ण,
धूलि की भी थी कमी नही।
भूल कर विश्व, खेल मे व्यस्त,
रहे हम उस दिन कभी कही ॥

विमल उल्लास, न वह कथनीय,
न बाधा उसमे कही रही।
न था उद्देश्य, न था परिणाम,
मिलेगा वह आनन्द कही ॥

शरद की शान्त नदी के खेल
सदृश होता अनुभूत वही।
खेल की नाव जहाँ ले जाय,
रुकावट तो थी कही नही ॥

प्रलोभन पुञ्ज समादर सहित,
दिये थे तुमने कौन नही।
अक मे लिया, वक्ष था शीत
तुम्हारा, हिम स बढा कही ॥

उष्ण निश्वास हुआ सहसा,
तुम्हारा पहले रहा नही।
तुम्हारी गोद न अच्छी लगी,
उतरने को मचला तब ही॥

धूल का खेल, खेलने लगे,
किन्तु वह क्रीडा ही न रही।
बोझ हो गया, सरल आनन्द,
मिलेगा फिर अब हमें कही?

●

बिन्दु

रे मन !

न कर तू कभी दूर का प्रेम।
निष्ठुर ही रहना, अच्छा है, यही करेगा क्षेम ॥

देख न,

यह पतझड बसन्त एकत्रित मिला हुआ ससार।
किसी तरह से उदासीन ही कट जाना उपकार ॥

या फिर,

जिसे चाह तू, उसे न कर आँखो से कुछ भी दूर।
मिला रहे मन मन से, छाती छाती से भरपूर ॥

लेकिन

परदेसी की प्रीति उपजती अनायास ही आय।
नाहर नख से हृदय लडाना, और कहूँ क्या हाय ॥



बिन्दु

आज इस घन की अँधियारी मे,
कौन तमाल झूमता है इस सजी सुमन क्यारी म ?
हँस कर विजली सी चमका कर हमको कौन रुलाता,
बरस रहे हैं ये दोनो दृग कैसे हरियाली मे ?



बिन्दु

हृदय म छिप रहे इस डर से
भी तो छिपा लिया था, नही प्रेम रस बरसे ॥
स्नेह कभी इसको भी विछल पडे न सुपथ से ।
आवरण हो देखे न मनोहर कोई रथ से ॥
सी अपरूप छटा लेकर आये तुम प्यारे ।
हुआ अधिकृत अब तुमसे, तुम जीते हम हारे ॥



॥ २९६ ॥

बिन्दु

सुमन, तुम कली बने रह जाओ,
ये भौरे केवल रस-लोभी इन्हे न पास बुलाओ।
हवा लगी बस, झटपट अपना हृदय खोल दिखलाते ॥
फूल जाते किस आशा पर कहो न क्या फल पाते।
मधुर गन्धमय स्वच्छ कुसुम रस क्यो बरबस हो खोते।
कितनो ही को देखा तुम सा, हँसते है फिर रोते ॥
सूखी पखडियो को देखो, इन्हे भूल मत जाओ।
मिला विकसने का प्रसाद यह, सोचो मन मे लाओ ॥



बिन्दु

अमा को करिये सुन्दर राका।
फैले नव प्रकाश जीवनघन ! तव मुखचन्द्र विभा का॥
मेरे अंतर में छिप कर भी प्रकटे मुख सुषमा का।
प्रबल प्रभंजन मलय—मरुत हो, फहरे प्रेम पताका॥



बिन्दु

आया देखो विमल बसन्त।
समय सुहाया कैसा आया सुन्दर—तर श्रीमन्त।
मन रसाल की मुकुल माल जीवन घन, कैसी आज—
कोमल बनी, अहा! देखो तो अच्छा बना समाज।
मलयानिल पर बैठे आओ धीरे धीरे नाथ।
हँसते आओ सुमन सभी खिल जायें जिसके साथ।
मत झुकना, हम स्वय खडे है माला लेकर राज!
कोकिल प्राण पचमी स्वर-लहरी मे गाता आज॥



आँसू

इस करुणा कलित हृदय मे
अब विकल रागिनी बजती
क्यो हाहाकार स्वरो मे
वेदना असीम गरजती ?

मानस सागर के तट पर
क्यो लोल लहर की घातें
कल कल ध्वनि से हैं कहती
कुछ विस्मृत बीती बातें ?

आती है शून्य क्षितिज से
क्यो लौट प्रतिध्वनि मेरी
टकराती बिलखाती सी
पगली सी देती फेरी ?

क्यो व्यथित व्योमगगा सी
छिटका कर दोनो छोरें
चेतना तरङ्गिनि मेरी
लेती है मृदुल हिलोरें ?

है बढी जटा सी कैसी
उडती है धूल हृदय मे
किसकी विभूति है ऐसी ?

जो घनीभूत पीडा थी
मस्तक मे स्मृति सी छायी
दुर्दिन मे आसू बनकर
वह आज बरसने आयी।

मेरे क्रन्दन मे बजती
क्या वीणा, जो सुनते हो
धागो से इन आसू के
निज करुणापट बुनते हो।

रो रोकर सिसक सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।

मै बल खाता जाता था
मोहित बेसुध बलिहारी
अन्तर के तार खिचे थे
तीखी थी तान हमारी

झझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरदमाला,
पा कर इस शून्य हृदय को
सब ने आ डेरा डाला।

घिर जाती प्रलय घटाएँ
कुटिया पर आ कर मेरी
तम चूर्ण बरस जाता था
छा जाती अधिक अँधेरी।

बिजली माला पहने फिर
मुस्क्याता था आँगन मे
हा, कौन वरस जाता था
रस बूँद हमारे मन म ?

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर !
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन सगी
कल्याण कलित इस मग के।

कितनी निर्जन रजनी मे
तारो के दीप जलाये
स्वगङ्गा की धारा मे
उज्ज्वल उपहार चढाये।

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मै इठला उठा अकिञ्चन
देखे ज्यो स्वप्न सवेरे।

मधु राका मुसक्याती थी
पहले देखा जब तुमको
परिचित से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको।

परिचय राका जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से
ऊपर से किरणें आती
मिलती हैं गले लहर से।

मैं अपलक इन नयनो से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को।

निर्झर सा झिर झिर करता
माधवी कुञ्ज छाया मे
चेतना वही जाती थी
हो मन्त्र मुग्ध माया म।

पतझड था, झाड खडे थे
सूखी सी फुलवारी मे
किसलय नव कुसुम बिछा कर
आये तुम इस क्यारी म।

शशि मुख पर घूँघट डाले
अचल मे दीप छिपाये
जीवन की गोधूली मे
कौतूहल से तुम आये।

घन मे सुन्दर बिजली सी
बिजली मे चपल चमक सी
आखो मे काली पुतली
पुतली म श्याम झलक सी

प्रतिमा मे सजीवता सी
वस गयी सुछवि आखो मे
थी एक लकीर हृदय मे
जो अलग रही लाखो मे।

माना कि रूप सीमा है
सुन्दर! तव चिर यौवन मे
पर समा गये थे, मेरे
मन के निस्सीम गगन मे।

लावण्य शैल राई सा
जिस पर वारी वलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी प्यारी।

बांधा था विधु को किसने
इन काली जजीरो से
मणि वाले फणियो का मुख
क्यो भरा हुआ हीरो से ?

काली आखो मे कितनी
यौवन के मद की लाली
मानिक मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली ?

तिर रही अतृप्ति जलधि मे
नीलम की नाव निराली
कालापानी वेला सी
है अञ्जन रेखा काली।

अकित कर क्षितिज पटी को
तूलिका बरौनी तेरी
कितने घायल हृदयो की
बन जाती चतुर चितेरी।

कोमल कपोल पाली मे
सीधी सादी स्मित रेखा
जानेगा वही कुटिलता
जिसने भौं मे बल देखा।

विद्रुम सीपी सम्पुट मे
मोती के दाने कैसे
है हस न, शुक यह, फिर क्यो
चुगने की मुद्रा ऐसे ?

विकसित सरसिज वन-वैभव
मधु ऊषा के अचल मे
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल मे ।

मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलयसे पुरइन के
जलबिन्दु सदृश ठहरे कब
उन कानो मे दुख किनके ?

थी किस अनङ्ग के धनु की
वह शिथिल शिंजिनी दुहरी
अलबेली वाहुलता या
तनु छवि सर की नव लहरी ?

चचला स्नान कर आवे
चद्रिका पव मे जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी ।

छलना थी, तव भी मेरा
उसमे विश्वास घना था
उस माया की छाया मे
कुछ सच्चा स्वय वना था ।

वह रूप रूप ही केवल
या रहा हृदय भी उसमे
जड़ता की सब माया थी
चैतन्य समझ कर मुझमे ।

मेरे जीवन की उलझन
विखरी थी उनकी अलके
पी ली मधु मदिरा किसने
थी बन्द हमारी पलकें ।

ज्यो ज्यो उलझन बढती थी
बस शान्ति विहँसती बैठी
उस बन्धन मे सुख बँधता
करुणा रहती थी ऐंठी।

हिलते द्रुमदल कल किसलय
देती गलबाँही डाली
फूलो का चुम्बन, छिडती—
मधुपो की तान निराली।

मुरली मुखरित होती थी
मुकुलो के अधर विहँसते
मकरन्द भार से दब कर
श्रवणो मे स्वर जा बसते।

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोके
मुख चन्द्र चादनी जल से
मै उठता था मुँह धोके।

थक जाती थी सुख रजनी
मुख चन्द्र हृदय म होता
श्रम सीकर सदृश नखत से
अम्बर पट भीगा होता।

सोयेगी कभी न वैसी
फिर मिलन कुञ्ज मे मेरे
चादनी शिथिल अलसायी
सुख के सपनो से तेरे।

लहरो मे प्यास भरी है
है भँवर पात्र भी खाली
मानस का सब रस पी कर
लुढका दी तुमने प्याली।

किन्जल्क जाल हैं बिखरे
उडता पराग है रूखा
है स्नेह सरोज हमारा
विकसा, मानस मे सूखा।

छिप गयी कहा छू कर वे
मलयज की मृदुल हिलोरें
क्यो घूम गयी हैं आ कर
करुणा कटाक्ष की कोरें।

विस्मृति है, मादकता है
मूर्च्छना भरी है मन मे
कल्पना रही, सपना था
मुरली बजती निर्जन मे।

हीरे सा हृदय हमारा
कुचला शिरीष कोमल ने
हिमशीतल प्रणय अनल बन
अब लगा विरह से जलने।

अलियो से आख बचा कर
जब कज सकुचित होते
धुँधली संध्या प्रत्याशा
हम एक एक को रोते।

जल उठा स्नेह, दीपक सा,
नवनीत हृदय था मेरा
अब शेष धूमरेखा से
चित्रित कर रहा अँधेरा।

नीरव मुरली, कलरव चुप
अलिकुल थे बन्द नलिन मे
कालिन्दी वही प्रणय की
इस तममय हृदय पुलिन मे।

कुसुमाकर रजनी के जो
पिछले पहरो मे खिलता
उस मृदुल शिरीष सुमन सा
मैं प्रात धूल मे मिलता।

व्याकुल उस मधु सौरभ से
मलयानिल धीरे धीरे
निश्वास छोड जाता है
अब विरह तरङ्गिनि तीरे।

चुम्बन अंकित प्राची का
पीला कपोल दिखलाता
मैं कोरी आँख निरखता
पथ, प्रात समय सो जाता।

श्यामल, अचल धरणी का
भर मुक्ता आँसू कन से
छूँछा बादल बन आया
मैं प्रेम प्रभात गगन से।

विष प्याली जो पी ली थी
वह मदिरा बनी नयन मे
सौन्दर्य पलक प्याले का
अब प्रेम बना जीवन मे।

कामना सिन्धु लहराता
छवि पूरनिमा थी छाई
रतनाकर बनी चमकती
मेरे शशि की परछाईं।

छायानट छवि-परदे मे
सम्मोहन वेणु बजाता
सन्ध्या-कुहुकिनि-अञ्चल मे
कौतुक अपना कर जाता।

मादकता से आये तुम
सज्ञा से चले गये थे
हम व्याकुल पडे बिलखते
थे, उतरे हुए नशे से।

अम्बर असीम अन्तर मे
चञ्चल चपला से आकर
अब इन्द्रधनुष सी आभा
तुम छोड गये हो जाकर।

मकरन्द मेघ माला सी
वह स्मृति मदमाती आती
इस हृदय विपिन की कलिका
जिसके रस से मुसक्याती।

है हृदय शिशिरकण पूरित
मधु वर्षा से शशि! तेरी
मन मन्दिर पर बरसाता
कोई मुक्ता की ढेरी।

शीतल समीर आता है
कर पावन परस तुम्हारा
मैं सिहर उठा करता हूँ
बरसा कर आसू धारा

मधु मालतियाँ सोती हैं
कोमल उपधान सहारे
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर
गिनता अम्बर के तारे।

निष्ठुर! यह क्या छिप जाना?
मेरा भी कोई होगा
प्रत्याशा विरह-निशा की
हम होगे औ' दुख होगा।

जब शान्त मिलन सन्ध्या को
हम हेम जाल पहनाते
काली चादर के स्तर का
खुलना न देखने पाते।

अब छुटता नही छुड़ाये
रँग गया हृदय है ऐसा
आसू से धुला निखरता
यह रग अनोखा कैसा।

कामना कला की विकसी
कमनीय मूर्ति बन तेरी
खिचती है हृदय पटल पर
अभिलाषा बनकर मेरी।

आँसू ॥३१५६

मणि दीप लिये निज कर मे
पथ दिखलाने को आये
वह पावक पुञ्ज हुआ अब
किरनो की लट बिखराये।

चढ गयी और भी ऊँची
रुठी करुणा की वीणा
दीनता दप बन बैठी
साहस से कहती पीडा

यह तीव्र हृदय की मदिरा
जी भर कर—छक कर मेरी
अब लाल आँख दिखलाकर
मुझको ही तुमने फेरी।

नाविक! इस सूने तट पर
किन लहरो मे खे लाया
इस बीहड वेला मे क्या
अब तक था कोई आया।

उस पार कहा फिर जाऊँ
तम के मलीन अञ्चल मे
जीवन का लोभ नही, वह
वेदना छद्म मय छल मे।

प्रत्यावत्तन के पथ मे
पद चिह्न न शेष रहा है।
डूबा है हृदय मरुस्थल
आँसू नद उमड रहा है।

अवकाश शून्य फैला है
है शक्ति न और सहारा
अपदाथ तिरूँगा मैं क्या
हो भी कुछ कूल किनारा।

तिरती थी तिमिर उदधि मे
नाविक! यह मेरी तरणी
मुख चन्द्र किरण से खिचकर
आती समीप हो धरणी।

सूखे सिकता सागर मे
यह नैया मेरे मन की
आँसू की धार बहाकर
खे चला प्रेम बेगुन की।

यह पारावार तरल हो
फेनिल हो गरल उगलता
मथ डाला किस तृष्णा से
तल मे बडवानल जलता।

निश्वास मलय मे मिल कर
छाया पथ छू आयेगा
अन्तिम किरणें बिखरा कर
हिमकर भी छिप जायेगा।

चमकूँगा धूल कणो मे
सौरभ हो उड जाऊँगा
पाऊँगा कही तुम्हे तो
ग्रहपथ मे टकराऊँगा।

इस यान्त्रिक जीवन मे क्या
ऐसी थी कोई क्षमता
जगती थी ज्योति भरी सी।
तेरी सजीवता ममता।

है चन्द्र हृदय मे बैठा
उस शीतल किरण सहारे
सौन्दय सुधा बलिहारी
चुगता चकोर अगारे।

बलने का सम्बल लेकर
दीपक पतग से मिलता
जलने की दीन दशा मे
वह फूल सदृश हो खिलता।

इस गगन यूथिका वन मे
तारे जूही से खिलते
सित शतदल से शशि तुम क्यो
उनमे जाकर हो मिलते ?

मत कहो कि यही सफलता
कलियो के लघु जीवन की
मकरद भरी खिल जायें
तोडी जायें बेमन की।

यदि दो घडियो का जीवन
कोमल वृन्तो मे बीते
कुछ हानि तुम्हारी है क्या
चुपचाप चू पडे जीते।

सब सुमन मनोरथ अञ्जलि
बिखरा दी इन चरणो म
कुचलो न कीट सा, इनके
कुछ है मकरन्द कणो मे।

निर्मोह काल के काले—
पट पर कुछ अस्फुट लेखा
सब लिखी पडी रह जाती
सुख दुख मय जीवन रेखा।

दुख सुख मे उठता गिरता
ससार तिरोहित होगा
मुड कर न कभी देखेगा
किसका हित अनहित होगा।

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
दुख सुख दोनो नाचेंगे
है खेल आख का मन का।

इतना सुख ले पल भर मे
जीवन के अन्तस्तल से
तुम खिसक गये धीरे से
रोते अब प्राण विकल से।

क्यो छलक रहा दुख मेरा
ऊपा की मृदु पलको मे
हाँ, उलझ रहा सुख मेरा
सन्ध्या की घन अलको मे।

लिपटे सोते थे मन मे
सुख दुख दोनो ही ऐसे
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुञ्ज म जैसे।

अवकाश असीम सुखो से
आकाश तरग बनाता
हँसता सा छायापथ मे
नक्षत्र समाज दिखाता।

नीचे विपुला धरणी है
दुख भार वहन सी करती
अपने खारे आसू से
करुणा सागर को भरती।

धरणी दुख माग रही है
आकाश छीनता सुख को
अपने को देकर उनको
हूँ देख रहा उस मुख को।

इतना सुख जो न समाता
अन्तरिक्ष म, जल थल मे
उनकी मुट्ठी मे वन्दी
था आश्वासन के छल मे।

दुख क्या था उनको, मेरा
जो सुख लेकर यो भागे
सोते मे चुम्बन लेकर
जब रोम तनिक सा जागे।

सुख मान लिया करता था
जिसका दुख था जीवन मे
जीवन मे मृत्यु बसी है
जैसे बिजली हो घन मे।

उनका सुख नाच उठा है
यह दुख द्रुम दल हिलने से
शृगार चमकता उनका
मेरी करुणा मिलने से।

हो उदासीन दोनो से
दुख सुख से मेल करायें
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनायें।

चढ जाय अनन्त गगन पर
वेदना जलद की माला
रवि तीव्र ताप न जलाये
हिमकर का हो न उजाला।

नचती है नियति नटी सी
कन्दुक क्रीडा सी करती
इस व्यथित विश्व आगन मे
अपना अतृप्त मन भरती।

सन्ध्या की मिलन प्रतीक्षा
कह चलती कुछ मनमानी
ऊषा की रक्त निराशा
कर देती अन्त कहानी।

"विभ्रम मदिरा से उठकर
आओ तम मय अन्तर मे
पाओगे कुछ न, टटोलो
अपने बिन सूने घर मे।

इस शिथिल आह से खिंचकर
तुम आओगे—आओगे
इस बढी व्यथा को मेरी
रोओगे अपनाओगे।"

वेदना विकल फिर आई
मेरी चौदहो भुवन मे
सुख कही न दिया दिखाई
विश्राम कहाँ जीवन मे।

उच्छ्वास और आँसू मे
विश्राम थका सोता है
रोई आँखो मे निद्रा
बनकर सपना होता है।

निशि, सो जावें जब उर मे
ये हृदय व्यथा आभारी
उनका उन्माद सुनहला
सहला देना सुखकारी।

तुम स्पर्श हीन अनुभव सी
नन्दन तमाल के तल से
जग छा दो श्याम-लता सी
तन्द्रा पल्लव विह्वल से।

सपनो की सोनजुही सब
बिखरें, ये बन कर तारा
सित सरसिज से भर जावे
वह स्वर्गङ्गा की धारा

नीलिमा शयन पर बैठी
अपने नभ के आगन मे
विस्मृति का नील नलिन रस
बरसो अपाङ्ग के घन से।

चिर दग्ध दुखी यह वसुधा
आलोक माँगती तब भी
तम तुहिन बरस दो कन कन
यह पगली सोये अब भी।

विस्मृति समाधि पर होगी
वर्षा कल्याण जलद की
सुख सोये थका हुआ सा
चिन्ता छुट जाय विपद की।

चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।



रजनी की रोई आँखें
आलोक बिन्दु टपकातीं
तम की काली छलनाएँ
उनको चुप चुप पी जातीं।

सुख अपमानित करता सा
जब व्यङ्ग्य हँसी हँसता है
चुपके से तब मत रो तू
यह कैसी परवशता है।

अपने आँसू की अञ्जलि
आँखों से भर क्यों पीता
नक्षत्र पतन के क्षण में
उज्ज्वल होकर है जीता।

वह हँसी और यह आसू
घुलने दे—मिल जाने दे
बरसात नई होने दे
कलियो को खिल जाने दे।

चुन चुन ले रे कन कन से
जगती की सजग व्यथाएँ
रह जायेंगी कहने को
जन-रञ्जन करी कथाएँ।

जब नील निशा अञ्चल मे
हिमकर थक सो जाते है
अस्ताचल की घाटी मे
दिनकर भी खो जाते है।

नक्षत्र डूब जाते हैं
स्वर्गङ्गा की धारा म
बिजली वन्दी होती जब
कादम्बिनी की कारा मे।

मणिदीप विश्व-मन्दिर की
पहने किरणो को माला
तुम एक अकेली तब भी
जलती हो मेरी ज्वाला।

उत्ताल जलधि वेला मे
अपने सिर शैल उठाये
निस्तब्ध गगन के नीचे
छाती मे जलन छिपाये।

सकेत्त नियति का पाकर
तम से जीवन उलझाये
जब सोती गहन गुफा मे
चञ्चल लट को छिटकाये।

वह ज्वालामुखी जगत की
वह विश्व वेदना वाला
तब भी तुम सतत अकेली
जलती हो मेरी ज्वाला।

इस व्यथित विश्व पतझड की
तुम जलती हो मृदु होली
हे अरुणे ! सदा सुहागिनि
मानवता सिर की रोली।

जीवन सागर मे पावन
वडवानल की ज्वाला सी
यह सारा कलुप जलाकर
तुम जलो अनल वाला सी।

जगद्वन्दो के परिणय की
हे सुरभिमयी जयमाला
किरणो के केसर रज से
भव भर दो मेरी ज्वाला।

तेरे प्रकाश मे चेतन—
ससार वेदना वाला,
मेरे समीप होता है
पाकर कुछ करुण उजाला।

उसमे धुँधली छायाएँ
परिचय अपना देती हैं
रोदन का मूल्य चुकाकर
सब कुछ अपना लेती हैं।

— आसू ॥ ३२५ ॥

निमम जगती को तेरा
मङ्गलमय मिले उजाला
इस जलते हुए हृदय को
कल्याणी शीतल ज्वाला।

जिसके आगे पुलकित हो
जीवन है सिसकी भरता
हाँ मृत्यु नृत्य करती है
मुसक्याती खडी अमरता।

वह मेरे प्रेम विहँसते
जागो मेरे मधुवन म
फिर मधुर भावनाओ का
कलरव हो इस जीवन मे।

मेरी आहो मे जागो
सुस्मित मे सोने वाले
अधरो से हँसते हँसते
आँखो से रोने वाले।

इस स्वप्नमयी ससृति के
सच्चे जीवन तुम जागो
मगल किरणो से रञ्जित
मेरे सुन्दरतम जागो।

अभिलाषा के मानस म
सरसिज सी आँखें खोलो
मधुपो से मधु गुञ्जारो
कलरव से फिर कुछ बोलो।

आशा का फैल रहा है
यह सूना नीला अञ्चल
फिर स्वण-सृष्टि सी नाचे
उसमे करुणा हो चचल

मधु ससृति की पुलकावलि
जागो, अपने यौवन मे
फिर से मरन्द उद्गम हो
कोमल कुसुमो के वन मे।

फिर विश्व माँगता होवे
ले नभ की खाली प्याली
तुम से कुछ मधु की बूँदें
लौटा लेने को लाली।

फिर तम प्रकाश झगडे मे
नवज्योति विजयिनी होती
हँसता यह विश्व हमारा
बरसाता मजुल मोती।

प्राची के अरुण मुकुर म
सुन्दर प्रतिबिम्व तुम्हारा
उस अलस उषा मे देखूँ
अपनी आखो का तारा।

कुछ रेखाएँ हो ऐसी
जिनमे आकृति हो उलझी
तब एक झलक। वह कितनी
मधुमय रचना हो सुलझी।

जिसमे इतराई फिरती
नारी निसग सुन्दरता
छल्की पडती हो जिसमे
शिशु की उर्मिल निमलता।

आखो का निधि वह मुख हो
अवगुण्ठन नील गगन सा
यह शिथिल हृदय ही मेरा
खुल जावे स्वय मगन सा।

मेरी मानसपूजा का
पावन प्रतीक अविचल हो
झरता अनन्त यौवन मधु
अम्लान स्वण शतदल हो।

कल्पना अखिल जीवन की
किरनो से दृग तारा की
अभिषेक करे प्रतिनिधि बन
आलोकमयी धारा की।

वेदना मधुर हो जावे
मेरी निदय तन्मयता
मिल जावे आज हृदय को
पाऊँ मे भी सहृदयता।

मेरी अनामिका सङ्गिनि!
सुन्दर कठोर कोमलते!
हम दोनो रहे सखा ही
जीवन-पथ चलते चलते।

ताराओ की वे रातें
कितने दिन—कितनी घडिया
विस्मृति मे बीत गईं वे
निर्मोह काल की कडियाँ।

उद्वेलित तरल तरगे
मन की न लौट जावेंगी
हा, उस अनन्त कोने को
वे सच नहला आवेगी।

जल भर लाते हैं जिसको
छूकर नयनो के कोने
उस शीतलता के प्यासे
दीनता दया के दोने।

फेनिल उच्छ्वास हृदय के
उठते फिर मधुमाया मे
सोते सुकुमार सदा जो
पलको की सुख छाया मे।

आसू वर्षा से सिंचकर
दोनो ही कूल हरा हो
उस शरद प्रसन्न नदी मे
जीवन द्रव अमल भरा हो।

जैसे सरिता के तट पर
जो जहाँ खडा रहता है
विधु का आलोक तरल पथ
सन्मुख देखा करता है।

जागरण तुम्हारा त्यो ही
देकर अपनी उज्ज्वलता
इन छोटी बूँदो से भी
हर लेता सब पकिलता।

इस छोटी सी सीपी मे
रत्नाकर खेल रहा हो
करुणा की इन बूँदो में
आनन्द उँडेल रहा हो।

मेरे जीवन का जलनिधि
बन अधकार उर्मिल हो
आकाशदीप सा तब वह
तेरा प्रकाश झिलमिल हो।

हैं पडी हुई मुँह ढक कर
मन की जितनी पीडाएँ
वे हँसने लगें सुमन सी
करती कोमल क्रीडाएँ।

तेरा आलिगन कोमल
मृदु अमरबेलि सा फैले
धमनी के इस बधन म
जीवन ही हो न अकेले।

हे जन्म जन्म के जीवन
साथी ससृनि के दुख मे
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलस के सुख में।

जगती का कलुप अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे।

सपनो की सुख छाया मे
जब तन्द्रालस ससृति है
तुम कौन सजग हो आई
मेरे मन मे विस्मृति है।

तुम! अरे, वही हाँ तुम हो
मेरी चिर जीवनसगिनि
दुख वाले दग्ध हृदय की
वेदने! अश्रुमयि रङ्गिनि!

जब तुम्हे भूल जाता हूँ
कुड्मल किसलय के छल मे
तव कूक हूक सी बन तुम
आ जाती रगस्थल मे।

बतला दो अरे न हिचको
क्या देखा शून्य गगन मे
कितना पथ हो चल आई
रजनी के मृदु निजन मे!

सुख तृप्त हृदय कोने को
ढंकती तमश्यामल छाया
मधु स्वप्निल ताराओ की
जब चलती अभिनय माया।

देखा तुमने तब रुक कर
मानस कुमुदो का रोना
शशि किरणो का हँस हँसकर
मोती मकरन्द पिरोना।

देखा बौने जलनिधि का
शशि छूने को ललचाना
वह हाहाकार मचाना
फिर उठ उठ कर गिर जाना।

मुँह सिये, झेलती अपनी
अभिशाप ताप ज्वालाएँ
देखी अतीत के युग की
चिर मौन शैल मालाएँ।

जिनपर न वनस्पति कोई
श्यामल उगने पाती है
जो जनपद परस तिरस्कृत
अभिशप्त कही जाती हैं।

कलियो को उन्मुख देखा
सुनते वह कपट कहानी
फिर देखा उड जाते भी
मधुकर को कर मनमानी।

फिर उन निराश नयनो की
जिनके आसू सूखे हैं
उस प्रलय दशा को देखा
जो चिर वचित भूखे हैं।

सूखी सरिता की शय्या
वसुधा की करुण कहानी
कूलो मे लीन न देखी
क्या तुमने मेरी रानी ?

सूनी कुटिया कोने मे
रजनी भर जलते जाना
लघु स्नेह भरे दीपक का
देखा है फिर बुझ जाना।

सबका निचोड लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन मे
बरसो प्रभात हिमकन सा
आसू इस विश्व-सदन में।



उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।
करुणा की नव अँगराई-सी,
मलयानिल की परछाईं-सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर।

शीतल कोमल चिर कम्पन-सी,
दुर्ललित हठीले बचपन-सी,
तू लौट कहाँ जाती है री—
यह खेल खेल ले ठहर ठहर।

उठ उठ गिर गिर फिर फिर आती,
नर्तित पद चिह्न बना जाती,
सिकता की रेखायें उभार—
भर जाती अपनी तरल सिहर।

तू भूल न री, पंकज वन में,
जीवन के इस सूनेपन में,
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक।
आ चूम पुलिन के विरस अधर।

●

निज अलको के अन्धकार मे तुम कैसे छिप आओगे ?
इतना सजग कुतूहल ! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे !
आह, चूम लूँ जिन चरणो को चाँप-चाप कर उन्हे नही—
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा सी वह उधर वही।
वसुधा चरण चिह्न सी बन कर यही पडी रह जावेगी।
प्राची रज कुकुम ले चाहे अपना भाल सजावेगी।
देख न लूँ इतनी ही तो है इच्छा ? लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन-उँगलियो से ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ।
फिर कह दोगे, पहचानो तो मैं हूँ कौन बताओ तो।
किन्तु उन्ही अधरो से, पहले उनकी हँसी दबाओ तो।
सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अचल को अधरो से पकडो।
वेला बीत चली है चचल बाहु-लता से आ जकडो।

 

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ?
इसमे क्या है धरा, सुनो,
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित—
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।



मधुप गुनगुना कर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रही पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा मे असख्य जीवन-इतिहास—
यह लो, करते ही रहते है अपना व्यङ्ग्य मलिन उपहास।
तब भी कहते हो—कह डालें दुर्बलता अपनी बीती!
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती।
किन्तु कही ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना! अरी सरलते तेरी हँसी उडाऊँ मै।
भूले अपनी, या प्रवञ्चना औरो की दिखलाऊँ मैं।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चादनी रातो की।
अरे खिलखिला कर हँसते होने वाली उन बातो की।
मिला कहा वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया?
आलिङ्गन मे आते आते मुसक्या कर जो भाग गया?
जिसके अरुण कपोलो की मतवाली सुन्दर छाया मे।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया मे।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की।
सीवन को उधेड कर देखोगे क्यो मेरी कन्था की?
छोटे से जीवन की कैसे बडी कथाएँ आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नही कि औरो की सुनता मैं मौन रहूँ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्म कथा?
अभी समय भी नही—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।



अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियो के कानन कुञ्ज !
जगत नश्वरता से लघु त्राण, लता, पादप सुमनो के पुञ्ज !
तुम्हारी कुटियो मे चुपचाप, चल रहा था उज्ज्वल व्यापार।
स्वर्ग की वसुधा से शुचि संधि, गूँजता था जिससे ससार।

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

तुम्हारे कुञ्जो म तल्लीन, दर्शनो के होते थे वाद।
देवताओ के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के स्वप्नो के सवाद।
स्निग्ध तरु की छाया मे बैठ परिपदें करती थी सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार ?

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड़कर पार्थिव भोग विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार।
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव सुलभ दुलार।
दुःख का करके सत्य निदान, प्राणियो का करने उद्धार।
सुनाने आरण्यक सवाद, तथागत आया तेरे द्वार।

अरी बरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

मुक्ति जल की वह शीतल बाढ, जगत की ज्वाला करती शात ।
तिमिर का हरने को दुख भार, तेज अमिताभ अलौकिक कात ।
देव कर से पीडित विक्षुब्ध, प्राणियो से कह उठा पुकार—
तोड सकते हो तुम भव बन्ध, तुम्हे है यह पूरा अधिकार ।

अरी बरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड कर जीवन के अतिवाद, मध्य पथ से लो सुगति सुधार ।
दुख का समुदय उसका नाश, तुम्हारे कर्मो का व्यापार ।
विश्व मानवता का जय घोष, यही पर हुआ जलद-स्वर-मन्द्र ।
मिला था वह पावन आदेश, आज भी साक्षी हैं रवि चन्द्र ।

अरी वरुणा की शात कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

तुम्हारा वह अभिनन्दन दिव्य, और उस यश का विमल प्रचार ।
सकल वसुधा को दे सन्देश, धन्य होता है बारम्बार ।
आज कितनी शताब्दिया बाद, उठी ध्वसो मे वह झकार ।
प्रतिध्वनि जिसकी सुने दिगन्त, विश्व वाणी का बने विहार ।*



* मूलगन्ध कुटी विहार के उपलक्ष में ।

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक। धीरे धीरे।

जिस निर्जन मे सागर लहरी।
अम्बर के कानो मे गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

जहा साँझ सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो,
ताराओ की पाँत घनी रे।

जिस गम्भीर मधुर छाया मे—
विश्व चित्र-पट चल माया मे—
विभुता विभु सी पडे दिखाई,
दुख सुख वाली सत्य बनी रे।

श्रम विश्राम क्षितिज वेला से—
जहाँ सजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे।

•

हे सागर सङ्गम अरुण नील!

अतलान्त महा गभीर जलधि—
तज कर अपनी यह नियत अवधि,

लहरों के भीषण हासों में,
आकर खारे उच्छ्वासों में

युग युग की मधुर कामना के—
बन्धन को देता जहाँ ढील।
हे सागर सङ्गम अरुण नील!

पिङ्गल किरनों सी मधु-लेखा,
हिमशैल बालिका को तूने कब देखा!

कलरव संगीत सुनाती,
किस अतीत युग की गाथा गाती आती।

आगमन अनन्त मिलन बनकर—
बिखराता फेनिल तरल नील।
हे सागर सङ्गम अरुण नील!

आकुल अकूल बनने आती,
अब तक तो है वह आती,
देवलोक की अमृत कथा की माया—
छोड़ हरित कानन की आलस छाया—
विश्राम माँगती अपना।
जिसका देखा था सपना—
निस्सीम व्योम तल नील अंक में—
अरुण ज्योति की झील बनेगी कब सलील?
हे सागर सङ्गम अरुण नील!



उस दिन जब जीवन के पथ मे,

छिन्न पात्र ले कम्पित कर मे,
मधु भिक्षा की रटन अधर मे,
इस अनजाने निकट नगर मे,
आ पहुँचा था एक अकिञ्चन।

उस दिन जब जीवन के पथ मे,

लोगो की आँखें ललचाईं,
स्वय मागने को कुछ आईं,
मधु सरिता उफनी अकुलाई,
देने को अपना सचित धन।

उस दिन जब जीवन के पथ मे,

फूलो ने पखुरियाँ खोली,
आँखें करने लगी ठिठोली,
हृदयो ने न सम्हाली झोली,
लुटने लगे विकल पागल मन।

उस दिन जब जीवन के पथ मे,

छिन्न पात्र मे था भर आता—
वह रस बरबस था न समाता,
स्वय चकित सा समझ न पाता
कहाँ छिपा था, ऐसा मधुवन।

उस दिन जब जीवन के पथ मे,

मधु-मङ्गल की वर्षा होती,
काँटो ने भी पहना मोती,
जिसे बटोर रही थी रोती—
आशा, समझ मिला अपना धन।



बीती विभावरी जाग री!

अम्बर पनघट मे डुबो रही—
तारा घट ऊषा नागरी।

खग-कुल कुल कुल सा बोल रहा,
किसलय का अन्चल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।

अधरो म राग अमन्द पिये,
अलको मे मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोई है आली।
आँखों में भरे विहाग री!



आँखो से अलख जगाने को,
यह आज भैरवी आई है।
ऊषा सी आँखो मे कितनी,
मादकता भरी ललाई है।

कहता दिगन्त से मलय पवन,
प्राची की लाज भरी चितवन—
है रात घूम आई मधुवन,
यह आलस की अँगराई है।

लहरो में यह क्रीडा चचल,
सागर का उद्वेलित अञ्चल।
है पोछ रहा आँखें छलछल,
किसने यह चोट लगाई है?



आह रे, वह अधीर यौवन।

मत्त मारुत पर चढ उद्भ्रान्त,
बरसने ज्यो मदिरा अश्रान्त—
सिंधु वेला सी घन मडली,
अखिल किरनो को ढँक कर चली,
भावना के निस्सीम गगन,
बुद्धि चपला का क्षण नर्तन—
चूमने को अपना जीवन,
चला था वह अधीर यौवन।

आह रे, वह अधीर यौवन।

अब जागो जीवन के प्रभात !

वसुधा पर ओस बने बिखरे
हिमकन आँसू जो क्षोभ भरे
ऊषा बटोरती अरुण गात !

अब जागो जीवन के प्रभात !

तम-नयनों की ताराएँ सब—
मुँद रही किरण दल में हैं अब,
चल रहा सुखद यह मलय वात !

अब जागो जीवन के प्रभात !

रजनी की लाज समेटो तो,
कलरव से उठ कर भेंटो तो,
अरुणाचल में चल रही बात !
जागो अब जीवन के प्रभात !



कोमल कुसुमों की मधुर रात।
शशि-शतदल का यह सुख विकास,
जिसमें निर्मल हो रहा हास,
उसकी साँसों का मलय वात।
कोमल कुसुमों की मधुर रात।
वह लाज भरी कलियाँ अनन्त,
परिमल घूँघट ढँक रहा दन्त,
कँप कँप चुप चुप कर रही बात
कोमल कुसुमों की मधुर रात।
नक्षत्र-कुमुद की अलस माल,
वह शिथिल हँसी का सजल जाल—
जिसमें खिल खुलते किरन पात।
कोमल कुसुमों की मधुर रात।
कितने लघु-लघु कुड्मल अधीर,
गिरते बन शिशिर-सुगन्ध-नीर,
हो रहा विश्व सुख-पुलक गात।



कितने दिन जीवन जल निधि मे—

विकल अनिल से प्रेरित होकर
लहरी, कूल चूमने चल कर
उठती गिरती सी रुक रुक कर
सृजन करेगी छवि गति विधि में !

कितनी मधु-सगीत निनादित
गाथाएँ निज ले चिर-संचित
तरल तान गावेगी वचित !
पागल सी इस पथ निरवधि में !

दिनकर हिमकर तारा के दल
इसके मुकुर वक्ष मे निमल
चित्र बनायेंगे निज चचल !
आशा की माधुरी अवधि मे !



वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ?

जब सावन घन सघन बरसते—
इन आँखों की छाया भर थे।

सुरधनु रंजित नवजलधर से—
भरे, क्षितिज व्यापी अम्बर में,
मिले चूमते जब सरिता के,
हरित कूल युग मधुर अधर थे।

प्राण पपीहा के स्वर वाली—
बरस रही थी जब हरियाली—
रस जलकन मालती मुकुल से—
जो मदमाते गन्ध विधुर थे।

चित्र खींचती थी जब चपला
नील मेघ-पट पर वह विरला
मेरी जीवन-स्मृति के जिसमें—
खिल उठते वे रूप मधुर थे।

•

लहर ॥ ३० ॥

मेरी आँखों की पुतली में
तू बन कर प्रान समा जा रे!

जिससे कन कन में स्पन्दन हो,
मन मे मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो—
वह जीवन गीत सुना जा रे!

खिंच जाय अधर पर वह रेखा—
जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा,
वह स्मिति का चित्र बना जा रे!



जग की सजल कालिमा रजनी में मुखचन्द्र दिखा जाओ।
हृदय अँधेरी झोली इसमें ज्योति भीख देने आओ।
प्राणों की व्याकुल पुकार पर एक मींड ठहरा जाओ।
प्रेम वेणु की स्वर लहरी में जीवन गीत सुना जाओ।

 

स्नेहालिङ्गन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो।
जीवन धन! इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने दो।



स्कन्द ॥ ३५५ ॥

वसुधा के अचल पर
यह क्या कन कन सा गया बिखर ?
जल शिशु की चञ्चल क्रीडा सा,
जैसे सरसिज दल पर।

लालसा निराशा में ढलमल
वेदना और सुख मे विह्वल
यह क्या है रे मानव जीवन ?
कितना है रहा निखर।

मिलने चलते जब दो कन,
आकर्षण-मय चुम्बन बन,
दल के नस नस में बह जाती—
लघु लघु धारा सुन्दर।

हिलता डुलता चञ्चल दल,
ये सब कितने हृ रहे मचल ?
कन कन अनन्त अम्बुधि बनते !
कब रुकती लीला निष्ठुर !

तब क्या रे फिर यह सब क्या ?
यह रोप भरी लाली क्यो ?
गिरने दे नयनो से उज्ज्वल
आँसू के कन मनहर।
वसुधा के अचल पर !



अपलक जगती हो एक रात।

सब सोये हों इस भूतल में,
अपनी निरीहता सम्बल में
चलती हो कोई भी न बात।

पथ सोये हों हरियाली में,
हों सुमन सो रहे डालों में,
हों अलस उनींदे नखत पाँत।

नीरव प्रशान्ति का मौन बना,
चुपके किसलय से बिछल छना,
थकता हो पंथी मलय-वात।

वक्षस्थल में जो छिपे हुए—
सोते हों हृदय अभाव लिए—
उनके स्वप्नों का हो न प्रात।



जगती की मगलमयी ऊषा बन,
करुणा उस दिन आई थी।
जिसके नव गैरिक अचल की प्राची मे भरी ललाई थी।

भय सकुल रजनी बीत गई,
भव की व्याकुलता दूर गई,
घन तिमिर भार के लिए तडित् स्वर्गीय किरण बन आई थी।

खिलती पँखुरी पकज-वन की,
खुल रही आख ऋषि पत्तन की,
दुख की निममता निरख कुसुम-रस के मिस जा भर आई थी।

कल-कल नादिनि बहती बहती—
प्राणी दुख की गाथा कहती—
वरणा द्रव होकर शान्ति-वारि शीतलता सी भर लाई थी।

पुलकित मलयानिल कूलो मे
भरता अञ्जलि था फूलो म
स्वागत था अभया वाणी का निष्ठुरता लिये बिदाई थी।

उन शान्त तपोवन कुञ्जो में,
कुटियो, तृण-वीरुध पुञ्जो में,
उटजो में था आलोक भरा कुसुमित लतिका झुक आई थी।

मृग मधुर जुगाली करते से,
खग कलरव में स्वर भरते से,
विपदा से पूछ रहे किसकी पदध्वनि सुनने में आई थी।

प्राची का पथिक चला आता,
नभ पद-पराग से भर जाता,
वे थे पुनीत परमाणु दया ने जिनसे सृष्टि बनाई थी।

तम की तारुण्यमयी प्रतिमा,
प्रज्ञा पारमिता की गरिमा,
इस व्यथित विश्व की चेतनता गौतम सजीव बन आई थी।

उस पावन दिन की पुण्यमयी,
स्मृति लिये धरा है धैर्यमयी,
जब धम चक्र के सतत प्रवर्तन की प्रसन्न ध्वनि छाई थी।

युग युग की नव मानवता को,
विस्तृत वसुधा की विभुता को,
कल्याण सघ की जन्मभूमि आमन्त्रित करती आई थी।

स्मृति चिह्नो की जजरता मे,
निष्ठुर कर की ववरता में,
भूलें हम वह सन्देश न जिसने फेरी धम दुहाई थी।*



* मूलगन्ध कुटी विहार के समारोहोत्सव में मगलाचरण के रूप में गाया गया।

चिर तृषित कंठ से तृप्त-विधुर
वह कौन अकिञ्चन अति आतुर
अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ सदृश
ध्वनि कम्पित करता बार बार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

सागर लहरों सा आलिङ्गन
निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन
जल वैभव है सीमा विहीन
वह रहा एक कन को निहार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

अकरुण वसुधा से एक झलक
वह स्मृत मिलने को रहा ललक
जिसके प्रकाश में सकल कर्म
बनते कोमल उज्ज्वल उदार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

फैलाती है जब उषा राग
जग कहता है उसका विराग
वञ्चकता, पीडा, घृणा, मोह
मिलकर बिखेरते अधकार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

ढल विरल डालिया भरी मुकुल
झुकती सौरभ रस लिये अतुल
अपने विषाद विष में मूच्छित
काटो से बिंध कर बार बार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार

जीवन रजनी का अमल इन्दु
न मिला स्वाती का एक बिन्दु
जो हृदय सीप में मोती बन
पूरा कर देता लक्षहार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन कन से गिनकर
यह विश्व लिये है ऋण उधार,
तू क्यो फिर उठता है पुकार?
मुझको न मिला रे कभी प्यार।



काली आँखो का अन्धकार
जब हो जाता है वार पार,
मद पिये अचेतन कलाकार
उन्मीलित करता क्षितिज पार—
वह चित्र ! रग का ले बहार
जिसमे है केवल प्यार प्यार !

केवल स्मितिमय चादनी रात,
तारा किरनो से पुलक गात,
मधुपो मुकुलो के चले घात,
आता है चुपके मलय वात,
सपनो के बादल का दुलार।
तब दे जाता है बूँद चार !

तब लहरो सा उठ कर अधीर
तू मधुर व्यथा सा शून्य चीर,
सूखे किसलय सा भरा पीर
गिर जा पतझड का पा समीर।
पहने छाती पर तरल हार।
पागल पुकार फिर प्यार प्यार !



अरे कही देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को ?
मेरी आखो मे आकर फिर
आसू बन ढरने वाले को ?

सूने नभ मे आग जलाकर
यह सुवण सा हृदय गला कर
जीवन सन्ध्या को नहला कर
रिक्त जलधि भरने वाले को ?

रजनी के लघु लघु तम कन मे
जगती की ऊष्मा के वन मे
उस पर पडते तुहिन सघन मे
छिप, मुझसे डरने वाले को ?

निष्ठुर खेलो पर जो अपने
रहा देखता सुख के सपने
आज लगा है क्या वह कँपने
देख मौन मरने वाले को ?

•

शशि सी वह सुन्दर रूप विभा
चाहे न मुझे दिखलाना।
उसकी निमल शीतल छाया
हिमकन को बिखरा जाना।

ससार स्वप्न बनकर दिन सा
आया है नही जगाने,
मेरे जीवन के सुख निशीथ!
जाते जाते रुक जाना।
हाँ, इन जाने की घडियो
कुछ ठहर नही जाओगे?
छाया पथ मे विश्राम नही,
है केवल चलते जाना।

मेरा अनुराग फैलने दो,
नभ के अभिनव कलरव मे,
जाकर सूनेपन के तम म—
बन किरन कभी आ जाना।



अरे आ गई है भूली सी—
यह मधु ऋतु दो दिन को,
छोटी सी कुटिया में रच दूँ,
नई व्यथा साथिन को।

वसुधा नीचे ऊपर नभ हो,
नीड अलग सब से हो,
झाडखण्ड के चिर पतझड मे
भागो सूखे तिनको।

आशा से अंकुर झूलेंगे
पल्लव पुलकित होंगे,
मेरे किसलय का लघु भव यह,
आह, खलेगा किन को?

सिहर भरी कँपती आवेंगी
मलयानिल की लहरें,
चुम्बन लेकर और जगाकर—
मानस नयन नलिन को।

जवा कुसुम सी उषा खिलेगी
मेरी लघु प्राची मे,
हँसी भरे उस अरुण अधर का
राग रँगेगा दिन को।

अन्तरिक्ष छिड़केगा कन कन
निशि मे मधुर तुहिन को।

इस एकान्त सजन म कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से हैं
दे देने दो इनको।



निरधक तूने ठुकराया तव
मेरी टटी मधु प्याली को,
उसके सूखे अधर माँगते
तेरे चरणो की लाली को।

जीवन-रस के बचे हुए कन,
बिखरे अम्बर म आँसू बन,
वही दे रहा था सावन घन—
वसुधा को इस हरियाली को।

निदय हृदय मे हूक उठी क्या,
सोकर पहली चूक उठी क्या,
अरे कसक वह कूक उठी क्या,
झकृत कर सूखी डाली को ?

प्राणो के प्यासे मतवाले—
ओ क्षया से चलने वाले।
ढलें और विस्मृति के प्याले,
सोच न स्मृति मिटने वालो को।



एहर ॥ २६७॥

ओ री मानस की गहराई !
तू सुप्त, शान्त कितनी शीतल—
निर्वात मेघ ज्यों पूरित जल—
नव मुकुर नीलमणि फलक अमल,
ओ पारदर्शिका ! चिर चचल—
यह विश्व बना है परछाइ !
तेरा विषाद द्रव तरल तरल
मूर्छित न रहे ज्यों पिये गरल
सुख-लहर उठा री सरल सरल
लघु लघु सुन्दर सुन्दर अविरल,
—तू हँस जीवन की सुघराई !
हँस, झिलमिल हो लें तारा गन,
हँस खिलें कुञ्ज में सकल सुमन,
हँस, बिखरें मधु मरन्द के कन,
बन कर संसृति के तव श्रम कन,
—सब कह दें 'वह राका आई !'
हँस ले भय शोक प्रेम या रण,
हँस ले काला पट ओढ मरण,
हँस ले जीवन के लघु लघु क्षण,
देकर निज चुम्बन के मधुकण,
नाविक अतीत की उतराई !



मधुर माधवी सध्या म जव रागारुण रवि होता अस्त,
विरल मृदुल दलवाली डालो से उलझा समीर जव व्यस्त,
प्यार भरे श्यामल अम्वर म जब कोकिल की कक अधीर
नृत्य शिथिल बिछली पडती है वहन कर रहा है उसे समीर
तव क्यो तू अपनी आखो मे जल भरकर उदास होता,
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता,
वञ्चित रे! यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम?
किसी नयन की नील निशा मे क्या कर चुका क्षणिक विश्राम?
क्या झकृत हो जाते है उन स्मृति किरणो के टूटे तार?
सूने नभ मे स्वर तरग का फैलाकर मधु पारावार,
नक्षत्रो से जव प्रकाश की रश्मि खेलने आती है,
तब कमलो की सी तव सन्ध्या क्यो उदास हो जाती है?



अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।

सोता तारक-किरन-पुलक रोमावलि मलयज वात,
लेते अँगड़ाई नीड़ों में अलस विहग मृदुगात,

रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।

गूँज उठी तेरी पुकार—'कुछ मुझको भी दे देना—
कन कन बिखरा विभव दान कर अपना यश ले लेना।'

दुख सुख के दोनों डग भरता वहन कर रहा गात,
जीवन का दिन पथ चलने में कर देगा तू रात,

तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना,
सोने वाले जग कर देखें अपने सुख का सपना।

अशोक की चिन्ता

जलता है यह जीवन पतङ्ग
जीवन कितना ? अति लघु क्षण,
ये शलभ पुज से कण कण,
तृष्णा वह अनलशिखा बन—
दिखलाती रक्तिम यौवन।
जलने की क्या न उठे उमग ?

है ऊँचा आज मगध शिर—
पदतल मे विजित पडा गिर,
दूरागत क्रन्दन ध्वनि फिर
क्यो गूँज रही है अस्थिर—
कर विजयी का अभिमान भग ?

इन प्यासी तलवारो से,
इनकी पैनी धारो से,
निदयता की मारो से,
उन हिंसक हुकारो से,
नत मस्तक आज हुआ कलिग।

यह सुख कैसा शासन का ?
शासन रे मानव मन का ।
गिरि भार बना सा तिनका,
यह घटाटोप दो दिन का—
फिर रवि शशि किरणो का प्रसग ।

यह महादम्भ का दानव—
पीकर अनङ्ग का आसव—
कर चुका महा भीषण रव,
सुख दे प्राणी को मानव
तज विजय पराजय का कुढग ।

सकेत कौन दिखलाती,
मुकुटो को सहज गिराती,
जयमाला सूखी जाती,
नश्वरता गीत सुनाती,
तब नही थिरकते हैं तुरग ।

वैभव की यह मधुशाला,
जग पागल होने वाला,
अब गिरा—उठा मतवाला—
प्याले म फिर भी हाला,
यह क्षणिक चल रहा राग-रग ।

काली काली अलको मे,
आलस, मद नत पलको म,
मणि मुक्ता की झलका मे,
सुख की प्यासी ललका मे,
देखा क्षण भगुर है तरग ।

फिर निजन उत्सव शाला,
नीरव नूपुर श्लथ माला,
सो जाती है मधु बाला,
सूखा लुढका है प्याला,
बजती वीणा न यहाँ मृदग ।

इस नील विषाद गगन मे—
सुख चपला सा दुख घन मे,
चिर विरह नवीन मिलन मे,
इस मरु-मरीचिका-वन मे—
उलझा है चञ्चल मन कुरग।

आसू कन कन ले छल छल—
सरिता भर रही दृगचल,
सब अपने मे है चञ्चल,
छूटे जाते सूने पल,
खाली न काल का है निषग।

वेदना विकल यह चेतन,
जड का पीडा से नर्तन,
लय सीमा मे यह कम्पन,
अभिनयमय है परिवर्तन,
चल रहा यही कब से कुढग।

करुणा गाथा गाती है,
यह वायु बही जाती है,
ऊषा उदास आती है,
मुख पीला ले जाती है,
वन मधु पिङ्गल सन्ध्या सुरग।

आलोक किरन है आती,
रेशमी डोर खिच जाती,
दृग पुतली कुछ नच पाती,
फिर तम पट मे छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहग।

जब पल भर का है मिलना,
फिर चिर वियोग मे झिलना,
एक ही प्रात है खिलना,
फिर सूख धूल मे मिलना,
तब क्यो चटकीला सुमन रग?

ससृति के विक्षत पग रे।
यह चलती है डगमग रे।
अनुलेप सदृश तू लग रे।
मृदु दल बिखेर इस मग रे।
कर चुके मधुर मधुपान भृग।

भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग जग,
कटक मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरग,
जलता है यह जीवन पतग।



शेरसिंह का शस्त्र समर्पण

"ले लो यह शस्त्र है
गौरव ग्रहण करने का रहा कर म—
अब तो न लेश मात्र।
लालसिंह ! जीवित कलुप पञ्चनद का
देख, दिये देता है
सिंहो का समूह नख दन्त आज अपना।"
"अरी रण रङ्गिनी !
सिक्खो के शौय भरे जीवन की सगिनी !
कपिशा हुई थी लाल तेरा पानी पान कर।
दुमद दुरन्त धम दस्युओ की त्रासिनी—
निकल, चली जा तू प्रतारण के कर से।"
"अरी वह तेरी रही अन्तिम जलन क्या ?
तोपें मुँह खोले खडी देखती थी त्रास से
चिलियान वाला मे।
आज के पराजित जो विजयी थे कल ही,
उनके समर वीर कर मे तू नाचती
लप-लप करती थी—जीभ जैसे यम की !

उठी तू न लूट त्रास भय के प्रचार को,
दारुण निराशा भरी आखो से देखकर
दृप्त अत्याचार को
एक पुत्र-वत्सला दुराशामयी विधवा
प्रगट पुकार उठी प्राण भरी पीडा से—
और भी,

जन्मभूमि दलित विकल अपमान से
त्रस्त होकर कराहती थी
कैसे फिर रुकती ?"
"आज विजयी हो तुम
और है पराजित हम
तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किन्तु यह विजय प्रशसा भरी मन की—
एक छलना है।
वीरभूमि पञ्चनद वीरता से रिक्त नही।
काठ के हो गोल जहा
आटा बारूद हो

और पीठ पर हो दुरन्त दशनो का त्रास
छाती लडती हो भरी आग, बाहु बल से
उस युद्ध मे तो बस मृत्यु ही विजय है।
सतलज के तट पर मृत्यु श्यामसिंह की—
देखी होगी तुमने भी वृद्ध वीर मूर्ति वह
तोडा गया पुल प्रत्यावर्तन के पथ मे
अपने प्रवञ्चको से।

लिखता अदृष्ट था विधाता वाम कर से।
छल मे विलीन बल—बल मे विषाद था—
विकल विलास का।

यवनो के हाथो से स्वतन्त्रता को छीन कर,
खेलता था यौवन विलासी मत्त पञ्चनद—
प्रणय विहीन एक वासना की छाया मे।
फिर भी लडे थे हम निज प्राण पण से।

कहेगी शतद्रु-शत सगरो की साक्षिणी,
सिक्ख थे सजीव—
स्वत्व रक्षा मे प्रवुद्ध थे ।
जीना जानते थे,
मरने को मानते थे सिक्ख ।
किन्तु आज उनकी अतीत वीर गाथा हुई—
जीत होती जिसकी
वही है आज हारा हुआ ।"

"ऊर्जस्वित रक्त और उमङ्ग भरा मन था
जिन युवको के मणिवन्धो मे अवन्ध वल
इतना भरा था
जो उलटता शतघ्नियो को ।

गोले जिनके थे गेंद
अग्निमयी क्रीडा थी
रक्त की नदी मे सिर ऊँचा छाती सीधी कर
तैरते थे ।

वीर पञ्चनद के सपूत मातृभूमि के
सो गये प्रतारणा की थपकी लगी उन्हे
छल-वलिवेदी पर आज सब सो गये ।
रूप भरी, आशा भरी, यौवन अधीर भरी,
पुतली प्रणयिनी का बाहुपाश खोलकर,
दूध भरी दूध सी दुलार भरी मा की गोद,
सूनी कर सो गये ।

हुआ है सूना पञ्चनद ।
भिक्षा नही मागता हूँ
आज इन प्राणो की
क्योकि, प्राण जिसका आहार, वही इसकी
रखवाली आप करता है, महाकाल ही,

शेर पञ्चनद का प्रवीर रणजीत सिंह
आज मरता है देखो,
सो रहा है पञ्चनद आज उसी शोक में।
यह तलवार लो
ले लो यह थाती है।"

•

पेशोला की प्रतिध्वनि

अरुण करुण बिम्ब !

वह निधूम भस्म रहित ज्वलन पिण्ड !
विकल विवर्तनों से
विरल प्रवर्तनों में
श्रमित नमित सा—
पश्चिम के व्योम में है आज निरवलम्ब सा।
आहुतियां विश्व की अजस्र से लुटाता रहा—
सतत सहस्र कर माला से—
तेज ओज बल जो वदान्यता कदम्ब-सा।
पेशोला की उर्मियां हैं शान्त, घनी छाया में—
तट तरु है चित्रित तरल चित्रसारी में।
झोपड़े खड़े हैं बने शिल्प से विषाद के—
दग्ध अवसाद से।
धूसर जलद खंड भट पड़े हैं,
जैसे विजन अनंत में।
कालिमा बिखरती है सन्ध्या के कलंक सी,
दुन्दुभि-मृदङ्ग-तूर्य शान्त स्तब्ध, मौन हैं।
फिर भी पुकार सी है गूँज रही व्योम में—

"कौन लेगा भार यह ?
कौन विचलेगा नहीं ?
दुबलता इस अस्थिमास की—
ठोक कर लोहे से, परख कर वज्र से,
प्रलयोल्का खंड के निकष पर कस कर
चूर्ण अस्थि पुन्ज सा हँसेगा अट्टहास कौन ?
साधना पिशाचों की बिखर चूर-चूर होके
धूलि सी उड़ेगी किस दृप्त फूत्कार से।
कौन लेगा भार यह ?
जीवित है कौन ?
साँस चलती है किसकी
कहता है कौन ऊँची छाती कर, मैं हूँ—
—मैं हूँ—मेवाड़ मं,

अरावली शृंग सा समुन्नत सिर किस का ?
बोलो, कोई बोलो—अरे क्या तुम सब मृत हो ?

आह, इस खेवा की !—
कौन थामता है पतवार ऐसे अंधड़ में
अन्धकार पारावार गहन नियति सा —
उमड़ रहा है ज्योति रेखा-हीन क्षुब्ध हो।

खींच ले चला है—
काल धीवर अनन्त में,
साँस, सफरी सी अटकी है किसी आशा में।
आज भी पेशोला के—
तरल जल मंडलों में,
वही शब्द घूमता सा—
गूँजता विकल है।
किन्तु वह ध्वनि कहाँ ?
गौरव की काया पड़ी माया है प्रताप की
वही मेवाड़ !
किन्तु आज प्रतिध्वनि कहाँ ?"



प्रलय की छाया

थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की
सन्ध्या है आज भी तो धूसर क्षितिज मे।
और उस दिन तो,
निजन जलधि-वेला रागमयी स न्ध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रग रलियाँ।
दूरागत वशी रव—
गूँजता था धीवरो की छोटी छोटी नावो से।
मेरे उस यौवन के मालती मुकुल मे।
रध्र खोजती थी, रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को—हँसाने को।
पागल हुई मैं अपनी ही मृदुगन्ध से—
कस्तूरी मृग जैसी।
पश्चिम जलधि मे,
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थी मानो चूमने को मुझको,
और साँस लेता था समीर मुझे छूकर।

[illegible]

नृत्यशीला शैशव की स्फूर्तियाँ
दौड कर दूर जा खडी हो हँसने लगी।
मेरे तो,
चरण हुए थे विजडित मधु भार मे।
हँसती अनग-बालिकाएँ अन्तरिक्ष मे
मेरी उस क्रीडा के मधु अभिपेक मे
नत शिर देख मुझे।

कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र इस मेरी अगलतिका म।
पलकें मदिर भार से थी झुकी पडती।

नन्दन की शत शत दिव्य कुसुम-कु तला
अप्सराएँ मानो वे सुगन्ध की पुतलिया
आ आकर चूम रही अरुण अधर मेरा
जिसमे स्वय ही मुस्कान खिल पडती।

नूपुरो की झनकार घुली मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से
जैसे अ तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्त व्यापी सन्ध्या सगीत को।
कितनी मादकता थी ?
लेने लगी झपकी मै
सुख रजनी की विश्रम्भ-कथा सुनती,
जिसमे थी आशा
अभिलापा से भरी थी जो
कामना के कमनीय मृदुल प्रमोद मे
जीवन सुरा की वह पहली ही प्याली थी।"

'आखें खुली,
देखा मैने चरणा मे लोटती थी
विश्व की विभव राशि,
और थे प्रणत वही गुज्जर महीप भी।
वह एक सन्ध्या थी।"

"श्यामा सृष्टि युवती थी
तारक खचित नीलपट परिधान था
अखिल अनन्त मे
चमक रही थी लालसा की दीप्त मणिया—
ज्योतिमयी, हासमयी, विकल विलासमयी
बहती थी धीरे धीरे सरिता
उस मधु यामिनी मे
मदकल मलय पवन ले ले फूलो से
मधुर मरन्द-बिन्दु उसमे मिलाता था।

चादनी के अचल मे।
हरा भरा पुलिन अलस नीद ले रहा।
सृष्टि के रहस्य सी परखने को मुझको
तारिकाएँ झाकती थी।
शत शतदलो की
मुद्रित मधुर गन्ध भीनी भीनी रोम मे
बहाती लावण्य धारा।

स्मर शशि किरणे,
स्पर्श करती थी इस चन्द्रकान्त मणि को
स्निग्धता बिछलती थी जिस मेरे अग पर।
अनुराग पूर्ण था हृदय उपहार मे
गुर्ज्जरेश पावडे बिछाते रहे पलको के,
तिरते थे—
    मेरी अँगडाइयो की लहरो मे
पीते मकरन्द थे—
मेरे इस अधखिले आनन सरोज का
कितना सोहाग था, कैसा अनुराग था?
खिली स्वर्ण मल्लिका की सुरभित वल्लरी सी
गुर्ज्जर के थाले म मरन्द वर्षा करती मैं।'

"और परिवर्तन वह।
क्षितिज पटी को आन्दोलित करती हुई
नीले मेघ माला सी

नियति-नटी थी आइ सहसा गगन मे
तडित विलास सी नचाती भौहे अपनी।"

"पावन-सरोवर मे अवभृथ स्नान था
आ म-सम्मान-यज्ञ की वह पूर्णाहुति
सुना—जिस दिन पद्मिनी का जल मरना
सती के पवित्र आत्म गौरव की पुण्य-गाथा
गूँज उठी भारत के कोने कोने जिस दिन,

उन्नत हुआ था भाल
महिला-महत्त्व का।

दृप्त मेवाड के पवित्र बलिदान का
ऊर्जित आलोक
आख खोलता था सब की।
सोचने लगी थी कुल-वधुएँ, कुमारिकाएँ
जीवन का अपने भविष्य नये सिर से,

उसी दिन
बोधने लगी थी विषमय परतन्त्रता।

देव-मन्दिरो की मूक घण्टा ध्वनि
व्यग्य करती थी जब दीन सकेत से
जाग उठी जीवन की लाज भरी निद्रा से।

मैं भी थी कमला,
रूप रानी गुजरात की।
सोचती थी—
पद्मिनी जली थी स्वय किन्तु मै जलाऊँगी—
वह दावानल ज्वाला
जिसमे सुलतान जले।
देखे तो प्रचण्ड रूप ज्वाला सी धधकती
मुझको सजीव वह अपने विरुद्ध।
आह! कैसी वह स्पर्द्धा थी?
स्पर्द्धा थी रूप की
पद्मिनी की वाह्य रूप रेखा चाहे तुच्छ थी

मेरे इस साँचे से ढले हुए शरीर के
सन्मुख नगण्य थी।
देखकर मुकुर, पवित्र चित्र पद्मिनी का
तुलना कर उससे ,
मैंने समझा था यही।
वह अतिरञ्जित सी तूलिका चितेरी की
फिर भी कुछ कम थी।
किन्तु था हृदय कहाँ ?
वैसा दिव्य
अपनी कमी थी इतरा चली हृदय की
लघुता चली थी माप करने महत्त्व की।

'अभिनय आरम्भ हुआ
अनहिलवाड़ा में अनल चक्र घूमा फिर
चिर अनुगत सौन्दर्य के समादर में
गुर्ज्जरेश मेरी उन इंगितों में नाच उठे।
नारी के नयन ! त्रिगुणात्मक ये सन्निपात
किसको प्रमत्त नहीं करते
धैर्य किसका नहीं हरते ये ?
वही अस्त्र मेरा था।
एक झिटके में आज
गुर्जर स्वतंत्र साँस लेता था सजीव हो।

क्रोध सुलतान का दग्ध करने लगा
दावानल बन कर
हरा भरा कानन प्रफुल्ल गुजरात का।
बालकों की करुण पुकारें, और वृद्धों की
आर्त्तवाणी,
क्रन्दन रमणियों का,
भैरव संगीत बना, ताण्डव-नृत्य सा
होने लगा गुर्जर में।
अट्टहास करती सजीव उल्लास से
फाँद पड़ी मैं भी उस देश की विपत्ति में।
वही कमला हूँ मैं।

देख चिर सङ्गिनी रणाङ्गण मे, रङ्ग मे ,
मेरे वीर पति आह कितने प्रसन्न थे
बाधा, विघ्न, आपदाएँ,
अपनी ही क्षुद्रता मे टल्ती-विचलती ।
हँसते वे देख मुझे
मैं भी स्मित करती ।

किन्तु शक्ति कितनी थी उस कृत्रिमता में ?
सबल बचा न जब कुछ भी स्वदेश में
छोडना पडा ही उसे ।
निर्वासित हम दोनो खोजते शरण थे,
किन्तु दुर्भाग्य पीछा करने मे आगे था ।

"वह दुपहरी थी,
लू स झुलसाने वाली, प्यास से जलाने वाली ।
थके सो रहे थे तरुछाया म हम दोनो
तुर्कों का एक दल आया झझावात सा ।
मेरे गुज्जरेश !
आज किस मुख से कहू ?
सच्चे राजपूत थे,
वह खड्ग लीला खडी देखती रही मैं वही
गत प्रत्यागत मे और प्रत्यावर्तन मे
दूर वे चले गये,
और हुई बन्दी मैं ।
वाह री नियति !
उस उज्ज्वल आकाश म
पद्मिनी की प्रतिकृति सी किरणो मे बन कर
व्यङ्ग हास करती थी ।

एक क्षण भ्रम के भुलावे म डाल कर
आज भी नचाता वही,
आज सोचती हू जैसे पद्मिनी थी कहती—
"अनुकरण कर मेरा '
समझ सकी न मं ।

पद्मिनी की भूल जो थी उसे समझाने को
सिंहिनी सी दृप्त मूर्ति धारण कर
सन्मुख सुलतान के
मारने की, मरने की—अटल प्रतिज्ञा हुई।
उस अभिमान मे
मैंने ही कहा था—छाती ऊँची कर उनसे—

"ले चलो मैं गुजर की रानी हू, कमला हूँ"
वाह री! विचित्र मनोवृत्ति मेरी!
कैसा वह तेरा व्यग्य परिहास शील था?
उस आपदा मे आया ध्यान निज रूप का।

रूप यह!
देखे तो तुरुष्कपति मेरा भी
यह सौन्दय देखे, देखे यह मृत्यु भी
कितनी महान और कितनी अभूतपूव?
वन्दिनी मै बैठी रही
देखती थी दिल्ली कैसी विभव विलासिनी।
यह ऐश्वय की दुलारी, प्यारी क्रूरता की
एक छलना सी, सजने लगी थी सन्ध्या मे।
कृष्णा वह आई फिर रजनी भी।
खोलकर ताराओ की विरल दशन पक्ति
अट्टहास करती थी दूर मानो व्योम मे।
जो सुन न पडा अपने ही कोलाहल मे।
कभी सोचती थी प्रतिशोध लेना पति का
कभी निज रूप सुन्दरता की अनुभूति
क्षण भर चाहती जगाना मैं
सुलतान ही के उस निमम हृदय म,
नारी मैं!
कितनी अबला थी और प्रमदा थी रूप की!

साहस उमडता था वेग पूण ओघ सा
किन्तु हलकी थी मैं,

तृण बह जाता जैसे
वैसे मैं विचारो मे ही तिरती सी फिरती।
कैसी अवहेलना थी यह मेरी शत्रुता की
इस मेरे रूप की।

आज साक्षात होगा कितने महीनो पर
लहरी-सदृश उठती सी गिरती सी मैं
अद्भुत ! चमत्कार !! दृप्त निज गरिमा म
एक सौंदयमयी वासना की आंधी सी
पहुँची समीप सुलतान के।

तातारी दासियो ने मुझको झुकाना चाहा
मेरे ही घुटनो पर,
किन्तु अविचल रही।
मणि-मेखला म रही कठिन कृपाणी जो
चमकी वह सहसा
मेरे ही वक्ष का रुधिर पान करने को।
किन्तु छिन गई वह
और निरुपाय मे तो ऐंठ उठी डोरी सी,
अपमान-ज्वाला म अधीर होके जलती।
अन्त करने का और वही मर जाने का
मेरा उत्साह मन्द हो चला।
उसी क्षण बचकर मृत्यु महागत्त से सोचने लगी थी मैं—
"जीवन सौभाग्य है, जीवन अलभ्य है !"
चारो ओर लालसा भिखारिणी सी मागती थी—
प्राणो के कण-कण दयनीय स्पृहणीय
अपने विश्लेषण से उठे अकिंचन जो—
"जीवन अनन्त है,
इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है ?"
जीवन की सीमामयी प्रतिमा
कितनी मधुर है ?
विश्व भर से मैं जिसे छाती मे छिपाये रही।
कितनी मधुर भीख माँगते हैं सब ही —

अपना दल-अचल पसार कर वन-राजी ,
मागती है जीवन का विन्दु बिन्दु ओस सा
क्रन्दन करता सा जलनिधि भी
मागता है नित्य मानो जरठ भिखारी सा
जीवन की धारा मीठी मीठी सरिताओ से ।
व्याकुल हो विश्व, अन्ध तम से
भोर मे ही माँगता है
"जीवन की स्वणमयी किरणें प्रभा भरी ।
जीवन ही प्यारा है जीवन सौभाग्य है ।"
रो उठी मे रोष भरी बात कहती हुई
"मार कर भी क्या मुझे मरने न दोगे तुम ?
मानती हूँ शक्तिशाली तुम सुलतान हो
और मै हूँ बन्दिनी ।
राज्य है बचा नही,
किन्तु क्या मनुष्यता भी मुझम रही नही
इतनी मे रिक्त हूँ ?"
क्षोभ से भरा था कठ फिर चुप हो रही ।
शक्ति प्रतिनिधि उस दृप्त सुलतान की
अनुनय भरी वाणी गूँज उठी कान म ।
"देखता हूँ मरना ही भारत को नारिया का
एक गीत भार है ।
रानी तुम बन्दिनी हो मेरी प्राथनाओ म
पद्मिनी को खो दिया है
किन्तु तुमका नही ।
शासन करोगी इन मेरी क्रूरताओ पर
निज कामलता से—मानस की माधुरी से ।
आज इस तीव्र उत्तेजना की आँधी म
सुन न सकोगी, न विचार ही करोगी तुम
ठहरो विश्राम करो ।"
अति द्रुत गति से
कब सुलतान गये
जान सकी मै न, और तब से
यह रगमहल बना सुवण पीजरा ।

"एक दिन, सध्या थी,
मलिन उदास मेरे हृदय पटल सा
लाल पीला होता था दिगन्त निज क्षाभ से।
यमुना प्रशान्त मन्द मन्द निज धारा मे,
करुण विषाद मयी
बहती थी धरा के तरल अवसाद सी।
बैठी हुई कालिमा की चित्र-पटी देखती
सहसा मैं चौक उठी द्रुत पद शब्द से

सामने था
शैशव से अनुचर
मानिक युवक अब
खिंच गया सहसा
पश्चिम-जलधि-कूल का वह सुरम्य चित्र
मेरी इन दुखिया अँखडियो के सामने।
जिसको बना चुका था मेरा वह बालपन
अद्भुत कुतूहल औ' हँसी की कहानी से।
मैंने कहा —
"कैसे तू अभागा यहा पहुँचा है मरने ?"
"मरने तो नही यहा जीवन की आशा मे
आ गया हूँ रानी !—भला
कैसे मैं न आता यहा ?"
कह, वह चुप था।
छुरे एक हाथ म
दूसरे से दोनो हाथ पकडे हुए वही
प्रस्तुत थी तातारी दासिया।

सहसा सुलतान भी दिखाई पडे,
और मैं थी मूक गरिमा के इन्द्रजाल मे।

"मृत्यु दड !"
वज्र निर्घोष सा सुनाई पडा भीषणतम—
मरता हैं मानिक !

गूँज उठा कानो मे—
"जीवन अलभ्य है, जीवन सौभाग्य है।"

उठी एक गर्व सी
किन्तु झुक गई अनुनय की पुकार मे
"उसे छोड दीजिए"—निकल पडा मुँह से।

हँसे सुलतान, और अप्रतिम होती मै
जकडी हुई थी अपनी ही लाज शृङ्खला मे।

प्रार्थना लौटाने का उपाय अब कौन था ?
अपने अनुग्रह के भार से दबाते हुए
कहा सुलतान ने—
"जाने दो रानी की पहली यह आज्ञा है।"

हाय रे हृदय ! तूने
कौडी के मोल बेचा जीवन का मणि-कोष
और आकाश को पकडने की आशा मे
हाथ ऊँचा किये सिर दे दिया अतल मे।

"अन्तर्निहित थी
लालसाएँ, वासनाएँ जितनी अभाव मे
जीवन की दीनता मे और पराधीनता मे
पलने लगी वे चेतना के अनजान मे।
धीरे धीरे आती है जैसे मादकता
आखो के अजान मे, ललाई मे ही छिपती ,
चेतना थी जीवन की फिर प्रतिशोध की।
किन्तु किस युग से वासना के विन्दु रहे सीचते
मेरे संवेदनो को।
यामिनी के गूढ अन्धकार मे
सहसा जो जाग उठे तारा से
दुर्बलता को मानती सी अवलम्ब मैं
खडी हुई जीवन की पिच्छिल सी भूमि पर।
बिखरे प्रलोभनो को मानती सी सत्य मैं
शासन की कामना मे झूमी मतवाली हो।

एक क्षण, भावना के उस परिवर्तन का
कितना अर्जित था ?
जीवित हैं गुर्ज्जरेश ! कर्णदेव !
भेजा संदेश मुझे "शीघ्र अन्त कर दो
जीवन की लीला।"
लालसा की अर्द्ध कृति सी !
उस प्रत्यावर्तन में प्राण जो न दे सके, हाँ
जीवित स्वयं हैं।

जियें फिर क्यों न सब अपनी ही आशा में ?
वन्दिनी हुई मैं अबला थी,
प्राणों का लोभ उन्हें फिर क्यों न बचा सका ?
प्रेम कहाँ मेरा था ?
और मुझमें भी कैसे कहूँ शुद्ध प्रेम था।
मानिक कहता है, आह, मुझे मर जाने को।
रूप ने बनाया रानी मुझे गुजरात की,
वही रूप आज मुझे प्रेरित था करता
भारतेश्वरी का पद लेने को।

लोभ मेरा मूर्तिमान प्रतिशोध था बना
और सोचती थी मैं, आज हूँ विजयिनी
चिर पराजित सुल्तान पद तल में।
कृष्णागुरुवर्तिका
जल चुकी स्वर्ण पात्र के ही अभिमान में
एक धूम रेखा मात्र शेष थी,
उस निस्पन्द रंग मन्दिर के व्योम में
क्षीणगन्ध निरवलम्ब।
किन्तु मैं समझती थी, यही मेरा जीवन है !
यह उपहार है, यह शृङ्गार है।
मेरी रूप माधुरी का।
मणि नूपुरों की बीन बजी, झनकार से
गूँज उठी रंगशाला इस सौंदर्य की
विश्व था मनाता महोत्सव अभिमान का

सोचा यह उस दिन,
जिस दिन अधिकार-क्षुब्ध उस दास ने,
अन्त किया छल से काफ़ूर ने
अलाउद्दीन का, मुमूर्षु सुलतान का।
आँधी मे नृशसता की रक्त-वर्षा होने लगी
रूप वाले, शील वाले, प्यार से पले हुए
प्राणी राज-वश के
मारे गये।
वह एक रक्तमयी सन्ध्या थी।
शक्तिशाली होना अहोभाग्य है
और फिर
बाधा-विघ्न-आपदा के तीव्र प्रतिघात का
सबल विरोध करने मे कैसा सुख है?—
इसका भी अनुभव हुआ था भली भाति मुझे
किन्तु वह छलना थी मिथ्या अधिकार की।

जिस दिन सुना अकिञ्चन परिवारी ने,
आजीवन दास ने, रक्त से रँगे हुए,
अपने ही हाथो पहना है राज का मुकुट।

अन्त कर दास राजवश का,
लेकर प्रचड प्रतिशोध निज स्वामी का
मानिक ने, खुसरू के नाम से
शासन का दण्ड किया ग्रहण सदप है।

उसी दिन जान सकी अपनी मैं सच्ची स्थिति
मैं हूँ किस तल पर?
सैकडो ही वृश्चिको का डक लगा एक साथ
मैं जो करने थी आई
उसे किया मानिक ने।
खुसरू ने॥
उद्धत प्रभुत्व का
वात्याचक्र! उठा प्रतिशोध-दावानल मे
कह गया अभी अभी नीच परिवारी वह!

"नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है
जिसमे पवित्रता की छाया भी पडी नही।
जितने उत्पीडन थे चूर हो दबे हुए,
अपना अस्तित्व हैं पुकारते,
नश्वर ससार मे
ठोस प्रतिहिंसा की प्रतिध्वनि हैं चाहते।"
"लूटा था दृप्त अधिकार ने
जितना विभव, रूप, शील और गौरव का
आज वे स्वतन्त्र हो निखरते हैं।
एक माया-स्तूप सा
हो रहा है लोप इन आँखो के सामने।
देख कमलावती!
ढुलक रही है हिम-विन्दु सी
सत्ता सौन्दय के चपल आवरण की।
हँसती है वासना की छलना पिशाची सी
छिपकर चारो ओर व्रीडा की अँगुलियाँ
करती सकेत है व्यग्य उपहास मे।
ले चली वहाती हुई अघ के अतल म
वेग भरी वासना।
अन्तक शरभ के
काले काले पङ्ख टकते हैं अन्ध तम से।
पुण्य ज्योति हीन कलुपित सौन्दय का—
गिरता नक्षत्र नीचे कालिमा की धारा सा
असफल सृष्टि सोती—
प्रलय की छाया मे।

निवेदन

कामायनी के आदि सस्करण की प्रतिच्छवि रूप मे प्रस्तुत इस तथावत पुनमुद्रण को ग्रहण करने की सहृदय कृपा करें इसके स्वरूप का अभिप्राय बताने वाली आगामी पक्तियो को आरात्रिक रूप मानते वाग्देवत्ता प्रसादपूबक क्षमा करें।

पूज्य पिताजी द्वारा प्रयुक्त वतनी का यहाँ यथावत् व्यवहार है। यद्यपि उनके पचमाक्षरी-सन्धि के वे नियम यान्त्रिक सशय मे मुद्रणाधीन त्रुटियो की आशका से आचीण न हो सके जिन्हे आश्वस्त-सुविधा की दशा में पालित होना है। मुझे स्मरण है, आदिसस्करण के समय भो यह प्रश्न उठा था और यन्त्र की विवशता के कारण इस नियम के अपवाद की उपेक्षा हुई। आदि सस्करण मे व्यवहृत कुछ टाइपो का इस पुनमुद्रण मे यथावत् व्यवहार शक्य नही हुआ क्योकि आज उनके कुछ दूसरे रूप ही प्रचलित ह जैसे अ, झ, ल आदि।

विराम और समास चिह्ना के अवस्थान पर कही कही मतभेद हैं और मतभेद के अनुपात मे सहज अर्थान्तर और अभिवित परक भेद स्वाभाविक ह। किन्तु, कामायनो मे वैसे चिह्ना का अवस्थान स्यात् सहज और निर्विवाद न रहेगा उसे अर्थानुकूलन का एक समवायी आरोपण कहना भी अनुचित न होगा। युक्तायुक्त प्रसगविकल्पणोपरि वैसे चिह्नो के न्यास पूवक सामान्य पठन-पाठन और अध्ययन-अध्यापन के लिये अन्य सस्करण याजित किये जा सकते है जा विद्वानो के मन्तव्य सग्रहतया आपयन्त अनुत्तर निणय पर निभर है किन्तु स्वाध्याय के अथ भी वे कहा तक उपादेय होगे यह अभी नही कहा जा सकता।

निवेदन ॥ ३९९ ॥

ऐसा कथन तथ्य का अपलाप है कि पूज्य पिताजी स्वास्थ्य की अशक्यता से उस आदि सस्करण के मुद्रणकाल मे चिह्ना के दोषो एव अभावो पर ध्यान नही दे पाये। और, अनेक त्रुटिया तब से चली आ रही है। वस्तुत अन्तिम प्रूफ और किन्ही सर्गो के तो दो दो प्रूफ स्वत देख कर उन्होने मुद्रणादेश दिये उन कतिपय रक्षित प्रूफ-कापियो को अद्यापि देखा जा सकता है जो इसकी साक्षी है।

वास्तविकता यह है कि इन चिह्नो को वे बहुधा लिपि मे अल्करण प्राय और काव्य के स्वच्छन्द प्रवाह पर अकुश रूप मानते थे। उनकी धारणा थी कि शब्दो को स्वय बोलना चाहिये कि हमे कहा रखना है, किस रूप मे उपस्थित होना है, किस से जुडना है और कहा से पृथक होना है पश्चिमीय "पक्चुयेशना" की बैसाखी भारती काव्य भाषा के लिये अनिवायत आवश्यक नही। परन्तु आज पक्चुयेशनो के अभाव म अध्ययन-अध्यापन म यदा कदा कठिनाई का अनुभव किया जा रहा है कही कही उनके अवस्थान-दोष से अर्थान्तर भी हो जात है और वहा कामायनी की पक्ति "प्रकट हुआ था दोष उसी से जो सबको गुणकारी था" सार्थक होने लगती है।

आदि सस्करण के सत्तावन पत्र की अन्तिम पक्ति म काव्य शालीनता और सहृदय-गौरव के उचितावस्थान पूवक इस प्रसग को अपने ढग से परिभाषित करते उन्हे कहना पडा "कुछ और भी पदच्छद अनुस्वार तथा विराम चिह्ना की त्रुटिया रह गई ह जिन्ह सुधार लीजिये। यह बात उस सहृदय-पक्ष की दृष्टि से कही गई जिसे चिह्ना की त्रुटिया प्रतीत होती हो, न कि कवि-पक्ष से ऐसा कहते चिह्न-न्यास और अथ ग्रहण के लिये सहृदय-पक्ष को उसी प्रकार स्वतन्त्र रखा गया जिस प्रकार आमुख की अन्तिम पक्ति द्वारा कल्पना कवि के एकनिष्ठ अधिकार की वस्तु कही गई है।

कामायनी ने, अपने भाव चार म मनुष्यता के मनोवैज्ञानिक-इतिहास का चिन्तन और मानवता के विकास पर विचार, युगपत् किये फिर तो स्वाभाविक था कि सवत्त और विवत्त की सन्ध्या कामायनी के कथानक

को जन्म देती। प्राय बीस वर्षों का समय काव्य-स्वरूप के उपादान-सचयन मे लगा। "इन्दु" मे प्रकाशित निबन्ध 'भक्ति" (किरण ८ फागुन सवत् १९६६ ईसवीय १९०९) के पूर्व "श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवेहि" की विवेचना अग्रसर हो चुकी थी—जहाँ कहा गया है—"मनुष्य जब आध्यात्मिक उन्नति करने लगता है तब उसके चित्त मे नाना भाव उत्पन्न होते हैं और उन्ही भावो के पर्यालोचन म उसके हृदय म एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है उसे लोग चिन्ता कहते हैं।" यहाँ कामायनी का उद्बोधन-पव किंवा उपोद्घात ही है—"चिन्ताप्रवृत्तसिद्धार्थाः उपोद्घातप्रचक्षते" प्राय बीस वर्षों के अनवरत और व्यापक मनन चिन्तन द्वारा कामायनी के उपादान प्रस्तुत हुये और श्रीपचमी सवत् १९८४ (ईसवीय १९२७) से कामायनी लिपि-विग्रह धारण करने लगी जहा, अकस्मात् ही चिन्ता से काव्यारभ नही हो गया उसके पूवरग मे कुछ यस्मात् कस्मात् भी है। अस्तु, विविध सरणियो और भूमिकाओ मे सचरण करते श्रुतिया आदि के जो सवाद मिले वे कामायनी की पाण्डुलिपि म अग्रस्थानीय हुये जिन्हे सन्दभ सकेत के रूप मे ही लिया जा सकता है, वहा कामायनी की कथा, उसके चरित्रो, और उन चरित्रो मे निहित साकेतिक सहज स्फूर्ति प्रतिबिम्बित है। स्वाध्यायी के लिये इस सन्दभ-सकेत का महत्त्व कुछ अधिक होना चाहिये पाठक के लिये भल ही अल्प हो। सुतराम्, अग्रवर्त्ती पृष्ठो म उसका लिपि-पाठ और मुद्रण-पाठ परस्पर सम्मुख दे दिया गया है।

आदिसस्करण के सशोधन-पत्र द्वारा इगित त्रुटियो का यथास्थल माजन कर लिया गया है कही-कही पाण्डुलिपि से भी सहायता लेनी पडी यथा पृष्ठ ४१९ की तेरहवी पक्ति म "हाहाकार" का पाण्डुलिपीय रूप रखा गया है। पृष्ठ ४२६ की तेरहवी पक्ति पाण्डुलिपि मे "वाष्प बना उडता जाता था है, जब कि आदि सस्करण म उडता के स्थान पर उजडा है। किन्तु, पाठ विकल्पता स बचने का भरसक यत्न किया गया है। एमे कतिपय स्थल पृष्ठात टिप्पणियो मे सकेतित है।

तन्मेमन शिवसकल्पमस्तु

हुताशनी वै० २०३२ — रत्नशकर प्रसाद

(कामायनी की पाण्डुलिपि मे प्राप्त सन्दभ-सवेत लिपिपाठ)

श्रद्धा देवा यजमाना वायु गोपा उपासते
श्रद्धा हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु (१०-१५१ ४)°
कामायनी—कामगोत्रजा श्रद्धा नामर्षिका—सायण
इलामकृण्व मनुपस्य शासनीम (१-३१ ११)°
सरस्वती साधयन्ती धिय न इला दवी भारती विश्वतूर्ति
तिस्त्रो देवी स्वधया वर्हिरेदमच्छिद्र पा तु शरण निपद्य ! (२-३ ८)°
आ नो यज्ञ भारती तूयमेत्विला मनुष्वदिह चेतयन्ती
तिस्त्रो दवी वर्हिरेद स्योन सरस्वती स्वपस सद तु (१० ११० ८)°
यदा वै श्रद्धधात्यथमनुते, नाश्रद्दध मनुते श्रद्धधदवमनुते (छान्दोग्य)
—अ० ७ खण्ड १८ ।

ततो मनु श्राद्धदेव सज्ञायामास भारत
श्रद्धाया जनयामास दशपुत्रानस आत्मवान् ११
तत्रश्रद्धामनो पत्नी होतार समयाचत—१४
} भागवत ९ स्कन्ध—१ —अध्याय

श्रद्धा देवो वै मनु —(शतपथ १ अध्याय ४ ब्राह्मण) —१५
'मनवहवै प्रात इत्यादि जलप्रलय की कथा शतपथ के ८अध्याय—१ब्राह्मण में है ।
प्रजापति पर रुद्र का क्रोध—(शतपथ ६ प्रपाठक २ ब्राह्मण)
किल्ताकुलीऽइति हासुर ब्रह्मावासतु —(१४, शतपथ १ अध्याय ४ ब्राह्मण)
कही कही इला के साथ महीदेवी का नाम भी आया है—

इला सरस्वती मही तिस्त्रोऽवीमयाभुव । वर्हि सीद त्वस्त्रिध '' (५–५–८)°
इससे स्पष्ट है कि इला पृथ्वी के अर्थ में नही प्रयुक्त हैं किन्तु मेधावाहिनी देवी है ।

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तर दिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मि नेतस्मिन्नग्नौ दवा श्रद्धा जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमोराजा सभवति (९—षष्ठे द्वितीय ब्राह्मण) वृहदारण्यक

तथा मनुपस्य मनोरिडामेतन्नामधेया पुत्री शासनी धर्मोपदेशिकर्त्रीमकृण्वन् कृतवत —सायण— १–३१–११°

नोऽस्मन्धीयधिय बुद्धि याग वा साधयन्ती निवतयन्ती सरस्वतीऽइत नामिका दवी भारती च विश्वतूर्तिर्विश्वानितूर्णानियस्या सा तादृशी सवविषयगतावाक् ।
एतदुभयविशेषण २–३–८–सायण°

° = ऋग्वेद ।

आमुख

आय साहित्य मे मानवो के आदि पुरप मनु का इतिहास वेदो से लेकर पुराण और इतिहासो मे बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को, रूपक के आवरण मे, चाहे पिछल काल मे मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो जैसा कि सभी वैदिक इतिहासो के साथ निरुक्त के द्वारा किया गया, किन्तु मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवत्तक के रूप मे मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति मे दृढता से मानी गयी है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है। प्राय लोग गाथा और इतिहास मे मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम-युग के मनुष्यो के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय मे जो भावपूण इतिवृत्त सग्रहीत किये थे, उन्हे आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कह कर अलग कर दिया जाता है, क्योकि उन चरित्रो के साथ भावनाओ का भी बीच बीच म सबध लगा हुआ सा दीखता है। घटनाएँ कही अतिरजित सी भी जान पडती हैं। तथ्य-सग्रहकारिणी तकबुद्धि को ऐसी घटनाओ मे रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है। किन्तु उनम भी कुछ सत्याश घटना से सम्बद्ध है ऐसा तो मानना ही पडेगा। आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वत्तमान सस्कृति का क्रमपूण इतिहास ही होता है, परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ

से प्रारम्भ होती है ठीक उसी के पहिले सामूहिक चेतना की दृढ और गहरे रगा की रेखाओ से, बीती हुई और भी पहले की बातो का उल्लेख स्मृति पट पर अमिट रहता है, परन्तु कुछ अतिरजित सा। वे घटनाएँ आज विचित्रता से पूण जान पडती हैं। सम्भवत इसीलिए हमको अपनी प्राचीन श्रुतियो का निरुक्त के द्वारा अथ करना पडा, जिससे कि उन अर्थों का अपनी वत्तमान रुचि से सामजस्य किया जाय।

यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बडा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने म समथ हो सकता है। आज हम सत्य का अथ घटना कर लेते ह। तब भी उसके तिथि क्रम मात्र से स तुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल म क्या रहस्य है ? आत्मा की अनुभति ! हा, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव म परिणत हो जाती है। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरतन सत्य के रूप म प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग युग के पुरुषो की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।

जल प्लावन भारतीय इतिहास म एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवा से विलक्षण, मानवा की एक भिन्न सस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। वह इतिहास ही है। 'मनवे वै प्रात इत्यादि से इस घटना का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण के आठवें अध्याय मे मिलता है। देवगण के उच्छृखल स्वभाव,

निर्बाध आत्मतुष्टि मे अन्तिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नये युग की सूचना मिली। इस मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु हुए। मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष है। राम कृष्ण और बुद्ध इन्ही के वशज है। शतपथ ब्राह्मण मे उन्हे श्रद्धादेव कहा गया है, 'श्रद्धादेवो वै मनु' (का० १ प्र० १)। भागवत मे इन्ही वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है।

"ततो मनु श्राद्धदेव सज्ञायामास भारत
श्रद्धाया जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्।"
(९-१-११)

छादोग्य उपनिषद् मे मनु और श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या भी मिलती है। "यदावै श्रद्धधाति अथ मनुते नाऽश्रद्धन् मनुते" यह कुछ निरुक्त की सी व्याख्या है। ऋग्वेद मे श्रद्धा और मनु दोना का नाम ऋषियो की तरह मिलता है। श्रद्धा वाल सूक्त मे सायण ने श्रद्धा का परिचय देते हुए लिखा है, "कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका"। श्रद्धा कामगोत्र की बालिका है, इसीलिए श्रद्धा नाम के साथ उसे कामायनी भी कहा जाता है। मनु प्रथम पथ-प्रदर्शक और अग्निहोत्र प्रज्वलित करनेवाले तथा अन्य कई वैदिक कथाओ के नायक हैं—"मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजे, यदनुकृत्येमा प्रजा यजन्ते" (५-१ शतपथ)। इनके सबध मे वैदिक साहित्य म बहुत-सी बातें बिखरी हुई मिलती हैं, किन्तु उनका क्रम स्पष्ट नही है। जल प्लावन का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय से आरम्भ होता है, जिसमे उनकी

नाव के उत्तरगिरि हिमवान प्रदेश म पहुँचने का प्रसग है। वहा ओघ के जल का अवतरण होने पर मनु भी जिस स्थान पर उतरे उसे मनोरवसपण कहते हैं। "अपीपर वै त्वा, वृक्षे नाव प्रतिबध्नीष्व, त तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्चैत्सीद् यावद् यावदुदक समवा यात्—तावत् तावदन्ववसर्पासि इति स ह तावत् तावदेवान्ववसस"। तदप्येतदुत्तरस्य गिरेमनारवमपणमिति। (८–१)"

श्रद्धा के साथ मनु का मिलन होने के बाद उसी निजन प्रदेश मे उजडी हुई सृष्टि को फिर से आरम्भ करने का प्रयत्न हुआ। किन्तु असुर पुराहित के मिल जाने से इन्हाने पशु बलि की। "किलाताकुली—इति हासुरब्रह्मावासतु। तौ हाचतु—श्रद्धादेवो वै मनु—आव नु वेदावेति। तौ हागत्याचतु—मनो! याजयाव त्वेति।"

इस यज्ञ के बाद मनु म जो पूव परिचित देव प्रवृत्ति जाग उठी, उसने इडा के सम्पक म आने पर उन्हे श्रद्धा के अतिरिक्त एक दूसरी ओर प्रेरित किया। इडा के सबध म शतपथ म कहा गया है कि उसकी उत्पत्ति या पुष्टि पाक यज्ञ से हुई और उस पूण योपिता को देखकर मनु ने पूछा कि "तुम कौन हो? इडा ने कहा, "तुम्हारी दुहिता हूँ।' मनु ने पूछा कि "मेरी दुहिता कैसे?' उसने कहा, "तुम्हारे दही, घी इत्यादि के हवियो से ही मेरा पोषण हुआ है।" "ता ह" मनुरुवाच—"का असि' इति। "तव दुहिता" इति। "कथ भगवति? मम दुहिता" इति। (शतपथ ६ प्र० ३ ब्रा०)।

इडा के लिए मनु को अत्यधिक आकपण हुआ और श्रद्धा से

वे कुछ खिचे। ऋग्वेद मे इडा का कई जगह उल्लेख मिलता है। यह प्रजापति मनु की पथप्रदर्शिका मनुष्योका शासन करनेवाली कही गयी है। "इडामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम्' (१ ३१ ११ ऋग्वेद) इडा के सम्बन्ध म ऋग्वेद मे कई मत्र मिलते ह—"सरस्वती साधयन्ती धिय न इडा देवी भारती विश्वतूर्ति तिस्रो देवी स्वधयावर्हिरेदमच्छिद्र पान्तु शरण निषद्य।" (ऋग्वेद—२—३—८) "आनो यज्ञ भारतीतूयमेत्विडा मनुष्वदिह् चेतयन्ती। तिस्रो देवीर्वर्हिरेद स्योन सरस्वती स्वपस सदन्तु।" ऋग्वेद—१०–११०—८) इन मत्रो मे मध्यमा, वैखरी और पश्यन्ती की प्रतिनिधि भारती, सरस्वती के साथ इडा का नाम आया है। लौकिक सस्कृत मे इडा शब्द पृथ्वी अर्थात् बुद्धि, वाणी आदि का पयायवाची है। गो भू वाचस्त्विडा इला'। (अमर) इस इडा या वाक् के साथ मनु या मन के एक और विवाद का भी शतपथ म उल्लेख मिलता है जिसम दोना अपने महत्त्व के लिए झगडते ह। "अथातोमनसश्च" इत्यादि (४ अध्याय ५ ब्राह्मण) ऋग्वेद म इडा को धी, बुद्धि का साधन करने वाली, मनुष्य को चेतना प्रदान करने वाली कहा है। पिछले काल म सम्भवत इडा को पृथ्वी आदि से सम्बद्ध कर दिया गया हो, किन्तु ऋग्वेद ५—५—८ म इडा और सरस्वती के साथ मही का अलग उल्लेख स्पष्ट है। "इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीमयोभुव" से मालूम पडता ह कि मही से इडा भिन्न है। इडा को मेधमसाहिनी नाडी भी कहा गया है।

अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धि का विकास, राज्य स्थापना इत्यादि इडा के प्रभाव से ही मनु ने किया। फिर तो इडा

पर भी अधिकार करने की चेष्टा के कारण मनु को देवगण का कोपभाजन होना पड़ा। 'तद्वै देवाना आग आस' (७-४—शतपथ) इस अपराध के कारण उन्हे दण्ड, भोगना पडा। तरुद्रोऽभ्यावत्य विव्याध" (७-४-शतपथ) इडा देवताओ की स्वसा थी। मनुष्यो को चेतना प्रदान करन वाली थी। इसीलिए यज्ञो म इडा कम होता है। यह इडा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने मे सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास मे, अधिक सुख की खोज मे, दुख मिलना स्वाभाविक है। यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास म रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, साकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नही। मनु अर्थात् मन के दोनो पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमश श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है। 'श्रद्धा हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु' (ऋग्वेद १०—१५१—४) इन्ही सबके आधार पर 'कामायनी' की कथा सृष्टि हुई है। हा 'कामायनी' की कथा शृखला मिलाने के लिए कही कही थोडी बहुत कल्पना को भी काम म ले आने का अधिकार, मैं नही छोड सका हूँ।

चिन्ता

हिम गिरि के उत्तुग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष, भीगे नयनो से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह।

नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन,
एक तत्त्व को ही प्रधानता
कहो उमे जड या चेतन।

दूर दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उमी के हृदय समान,
नीरवता सी शिला चरण से
टकराता फिरता पवमान।

तरुण तपस्वी सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान,
नीचे प्रलय सिंधु लहरो का
होता था सवरण अवसान।

उमी तपस्वी से लम्बे, थे
देवदारु दो चार खडे,
हुए हिम धवल, जैसे पत्थर
बन कर ठिठुरे रहे अडे।

अवयव की दृढ मास-पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमे सचार।

चिंता कातर बदन हो रहा
पौरुष जिसमे ओत प्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का
बहता भीतर मधुमय स्रोत।

बँधी महा-वट से नौका थी
सूखे मे अब पडी रही,
उतर चला था वह जल-प्लावन,
और निकलने लगी मही।

निकल रही थी मर्म वेदना,
करुणा विकल कहानी सी,
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही,
हँसती सी पहचानी सी।

"ओ चिंता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कप सी मतवाली !

हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा !
हरी भरी सी दौड-धूप, ओ
जल-माया की चल - रेखा !

इस ग्रह कक्षा की हलचल ! री
तरल गरल की लघु लहरी,
जरा अमर जीवन की, और न
कुछ सुनने वाली, बहरी !

अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी !
अरी आधि, मधुमय अभिशाप !
हृदय-गगन मे धूमकेतु सी,
पुण्य सृष्टि मे सुन्दर पाप।

मनन करावेगी तू कितना ?
उस निश्चित जाति का जीव,
अमर मरेगा क्या ? तू कितनी
गहरी डाल रही है नीव।

आह! घिरेगी हृदय लहलहे
खेतो पर करका घन सी,
छिपी रहेगी अतरतम मे
सब के तू निगूढ धन सी।

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता
तेरे हैं कितने नाम!
अरी पाप है तू, जा, चल, जा
यहा नही कुछ तेरा काम!

विस्मृति आ, अवसाद घेर ले,
नीरवते! बस चुप कर दे,
चेतनता चल जा, जडता से
आज शून्य मेरा भर दे।"

"चिंता करता हूँ मैं जितनी
उस अतीत की, उस सुख की,
उतनी ही अनत मे बनती
जाती रेखायें दुख की।

आह सर्ग के अग्रदूत! तुम
असफल हुए, विलीन हुए,
भक्षक या रक्षक, जो समझो,
केवल अपने मीन हुए।

अरी आँधियो! ओ बिजली की
दिवा रात्रि तेरा नर्त्तन,
उसी वासना की उपासना,
वह तेरा प्रत्यावर्त्तन।

मणि-दीपो के अंधकारमय
अरे निराशापूर्ण भविष्य!
देव-दम्भ के महा मेध मे
सब कुछ ही बन गया हविष्य।

अरे अमरता के चमकीले
पुतलो! तेरे वे जयनाद,
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि
बन कर मानो दीन विषाद।

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित
हम सब थे भूले मद मे,
भोले थे, हाँ तिरते केवल
सब विलासिता के नद मे।

वे सब डूबे, डूबा उनका
विभव, बन गया पारावार,
उमड रहा है देव सुखो पर
दु ख जलधि का नाद अपार।"

"वह उन्मत्त विलास हुआ क्या ?
स्वप्न रहा या छलना थी।
देव सृष्टि की सुख विभावरी
ताराओ की कलना थी।

चलते थे सुरभित अञ्चल से
जीवन के मधुमय निश्वास,
कोलाहल मे मुखरित होता
देव जाति का सुख-विश्वास।

सुख, केवल सुख का वह सग्रह,
केन्द्रीभूत हुआ इतना,
छायापथ मे नव तुषार का
सघन मिलन होता जितना।

सब कुछ थे स्वायत्त, विश्व के
बल, वैभव, आनद अपार,
उद्वेलित लहरो सा होता, उस
समृद्धि का सुख-सञ्चार।

कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती
अरुण किरण सी चारो ओर,
सप्त सिंधु के तरल कणो मे,
द्रुम दल मे, आनद विभोर।

शक्ति रही हा शक्ति, प्रकृति थी
पद-तल मे विनम्र विश्रात,
कँपती धरणी, उन चरणो से
होकर प्रतिदिन ही आक्रात।

स्वय देव थे हम सब, तो फिर
क्यो न विशृंखल होती सष्टि
अरे अचानक हुई इसी से
कडी आपदाओ की वृष्टि,

गया, सभी कुछ गया, मधुरतम
सुर बालाओ का शृगार,
उषा ज्योत्स्ना सा यौवन स्मित
मधुप सदृश निश्चित विहार।

भरी वासना सरिता का वह
कैसा था मदमत्त प्रवाह,
प्रलय-जलधि मे सगम जिसका
देख हृदय था उठा कराह।"

"चिर किशोर-वय, नित्य विलासी,
सुरभित जिससे रहा दिगत,
आज तिरोहित हुआ कहा वह
मधु से पूर्ण अनत वसत?

कुसुमित कुञ्जो मे वे पुलकित
प्रेमालिगन हुए विलीन,
मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें
और न सुन पडती अब बीन।

अब न कपालो पर छाया सी
पडती मुख की सुरभित भाप,
भुज मूला म, शिथिल वसन की
व्यस्त न होती है अब माप।

कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार,
मुखरित था कलरव, गीतो मे
स्वर लय का होता अभिसार।

सौरभ से दिगत पूरित था,
अतरिक्ष आलोक-अधीर,
सब मे एक अचेतन गति थी,
जिससे पिछडा रहे समीर।

वह अनग पीडा अनुभव सा
अग भगियो का नतन,
मधुकर के मरद-उत्सव सा
मदिर भाव से आवत्तन।

सुरा सुरभिमय बदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग,
कल कपोल था जहा बिछलता
कल्पवृक्ष का पीत पराग।

विकल वासना के प्रतिनिधि वे
सब मुरझाये चले गये,
आह! जले अपनी ज्वाला से,
फिर वे जल मे गले, गये।"

अधकार मे मलिन मित्र की
धुँधली आभा लीन हुई,
वरुण व्यस्त थे, घनी कालिमा
स्तर स्तर जमती पीन हुई।

पचभूत का भैरव मिश्रण,
शपाओ के शकल-निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तिया
खोज रही ज्या खोया प्रात।

वार बार उस भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिगन के हेतु अशेष।

उधर गरजती सिंधु लहरिया
कुटिल काल के जालो सी,
चली आ रही फेन उगलती
फन फैलाये व्यालो सी।

धँसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वाला - मुखियो के निश्वास,
और सकुचित क्रमश उसके
अवयव का होता था ह्रास।

सबल तरंगाघातों से उस
क्रुद्ध सिंधु के, विचलित सी
व्यस्त महा कच्छप सी धरणी,
ऊभ-चूभ थी विकलित सी।

बढ़ने लगा विलास वेग सा
वह अति भैरव जल संघात,
तरल तिमिर से प्रलय पवन का
होता आलिंगन प्रतिघात।

वेला क्षण क्षण निकट आ रही
क्षितिज क्षीण फिर लीन हुआ,
उदधि डुबाकर अखिल धरा को
बस मर्यादा हीन हुआ।

करका क्रंदन करती गिरती
और कुचलना था सब का,
पंचभूत का यह तांडवमय
नृत्य हो रहा था कब का।"

अंधकार में मलिन मित्र की
धुँधली आभा लीन हुई,
वरुण व्यस्त थे, घनी कालिमा
स्तर स्तर जमती पीन हुई।

पंचभूत का भैरव मिश्रण,
शंपाओं के शकल-निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।

बार बार उस भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिंगन के हेतु अशेष।

उधर गरजती सिंधु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी,
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों सी।

धँसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वाला-मुखियों के निश्वास,
और संकुचित क्रमश: उसके
अवयव का होता था ह्रास।

सबल तरगाघातो से उस
क्रुद्ध सिधु के, विचलित सी
व्यस्त महा कच्छप सी धरणी,
ऊभ चूभ थी विकलित सी।

बढने लगा विलास वेग सा
वह अति भैरव जल सघात,
तरल तिमिर से प्रलय पवन का
होता आलिंगन प्रतिघात।

वेला क्षण क्षण निकट आ रही
क्षितिज क्षीण फिर लीन हुआ,
उदधि डुबाकर अखिल धरा को
बस मर्यादा हीन हुआ।

करका क्रदन करती गिरती
और कुचलना था सब का,
पचभूत का यह ताडवमय
नृत्य हो रहा था कब का।"

"एक नाव थी, और न उसमे
डाडे लगते, या पतवार,
तरल तरगो मे उठ गिर कर
बहती पगली बारम्बार।

लगते प्रबल थपेडे, धुँधले
तट का था कुछ पता नही,
कातरता से भरी निराशा
देख नियति पथ बनी वही।

लहरें व्योम चूमती उठती,
चपलायें असख्य नचती।
गरल जलद की खडी झडी मे
बूँदें निज ससृति रचती।

चपलायें उस जलधि, विश्व मे
स्वय चमत्कृत होती थी
ज्यो विराट बाडव ज्वालाये
खड-खड हो रोती थी।

जलनिधि के तल वासी जलचर
विकल निकलते उतराते,
हुआ विलोडित गृह तब प्राणी
कौन! कहा! कब! सुख पाते?

घनीभूत हो उठे पवन, फिर
श्वासो की गति होती रुद्ध,
और चेतना थी बिलखाती,
दृष्टि विफल होती थी क्रुद्ध।

उस विराट आलोडन मे, ग्रह
तारा बुद-बुद से लगते।
प्रखर प्रलय पावस मे जगमग,
ज्योतिरिंगणो से जगते।

प्रहर दिवस कितने बीते, अब
इसको कौन बता सकता।
इनके सूचक उपकरणो का,
चिन्ह न कोई पा सकता।

काला शासन-चक्र मृत्यु का
कब तक चला न स्मरण रहा
महा मत्स्य का एक चपेटा
दीन पोत का मरण रहा।

किन्तु उसी ने ला टकराया
इस उत्तर-गिरि के शिर से
देव सृष्टि का ध्वस अचानक
श्वास लगा लेने फिर से।

आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह सर्ग के प्रथम अक का
अधम पात्र मय सा विष्कभ !"

"ओ जीवन की मरु मरीचिका,
कायरता के अलस विषाद !
अरे पुरातन अमृत ! अगतिमय
मोहमुग्ध जर्जर अवसाद।

मौन ! नाश ! विध्वस ! अधेरा !
शून्य वना जो प्रगट अभाव,
वही सत्य है, अरी अमरते !
तुझको यहा कहा अव ठाव।

मृत्यु, अरी चिर-निद्रे ! तेरा
अक हिमानी सा शीतल,
तू अनत मे ल्हर वनाती
काल-जलधि की सी हलचल।

महा-नृत्य का विषम सम, अरी
' अखिल स्पदनो की तू माप
तेरी ही विभूति बनती है
सृष्टि सदा होकर अभिशाप।

अधकार के अट्टहास सी,
मुखरित सतत चिरतन सत्य,
छिपी सष्टि के कण-कण मे तू,
यह सुन्दर रहस्य है नित्य।

जीवन तेरा क्षुद्र अश है
व्यक्त नील घन-माला म,
सौदामिनी-सधि सा सुन्दर
क्षण भर रहा उजाला म।"

पवन पी रहा था शब्दो को
निजनता की उखडी साँस
टकराती थी, दीन प्रतिध्वनि
बनी हिम शिलाओ के पास।

चिन्ता ॥ ८-९॥

धू धू करता नाच रहा था
अनस्तित्व का ताण्डव नृत्य,
आकर्षण विहीन विद्युत्कण
बने भारवाही थे भृत्य।

मृत्यु सदृश शीतल निराश ही
आलिंगन पाती थी दृष्टि,
परम व्योम से भौतिक कण सी
घने कुहासों की थी वृष्टि।

वाष्प बना उजडा[1] जाता था
या वह भीषण जल-संघात,
सौर चक्र में आवर्तन था
प्रलय निशा का होता प्रात।

---

1 [illegible]—उड़ता। सुधा आश्विन—१९८ (अक्टूबर १९२८) में [illegible] प्रकाशित हुआ है—[illegible] है।

[illegible] ॥ ६१०॥

आशा

उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित कालरात्रि भी
जल मे अर्तनिहित हुई।

वह विवण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से,
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि म
शरद विकास नये सिर से।

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम ससृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीडा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।

धीरे धीरे हिम-आच्छादन
हटने लगा धरातल से,
जगी वनस्पतिया अलसाई
मुख धोती शीतल जल से।

नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने,
जलधि लहरियो की अँगडाई[1]
बार बार जाती सोने।

---

१ पाण्डुलिपि में—अगराई।

सिंधु सज पर धग वधू अब
तनिक संकुचित बठी सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति म
मान किये सी ऐंठी सी।

देखा मनु ने वह अतिरंजित
विजन विश्व का नव एकात,
जैसे कोलाहल सोया हो
हिम शीतल जडता सा श्रात।

इन्द्रलील मणि महा चषक था
सोम रहित उलटा लटका,
आज पवन मृदु सास ले रहा
जैसे बीत गया खटका।

वह विराट था हेम घोलता
नया रग भरने को आज,
कौन? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज।

"विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम, मरुत, चचल पवमान,
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन मे अम्लान?

किसका था भ्रू-भग प्रलय सा
जिसमे ये सब विकल रहे,
अरे! प्रकृति के शक्ति चिह्न ये
फिर भी कितने निबल रहे!

विकल हुआ सा काप रहा था,
सकल भूत चेतन समुदाय,
उनकी कैसी बुरी दशा थी
वे थे विवश और निरुपाय।

देव न थे हम और न ये हैं
सब परिवर्तन क पुतले,
हाँ—कि गर्व-रथ मे तुरग सा,
जितना जो चाहे जुत ले।"

"महानील इस परम व्योम म,
अतरिक्ष मे ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते से सधान !

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण मे खिचे हुए,
तृण, वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिचे हुए ?

सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहा ?

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ।

हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान'—
मद[1] गँभीर धीर स्वर सयुत
यही कर रहा सागर गान ।

---

१ पाण्डुलिपि म—मन्द्र ।

"यह क्या मधुर स्वप्न सी झिलमिल
सदय हृदय मे अधिक अधीर,
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही
आशा बनकर प्राण समीर!

यह कितनी स्पृहणीय बन गई
मधुर जागरण सी छविमान,
स्मिति की लहरो सी उठती है
नाच रही ज्यो मधुमय तान।

जीवन! जीवन! की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह,
किसके चरणो मे नत होता
नव प्रभात का शुभ उत्साह।

म हूँ, यह वरदान सदृश क्यो
लगा गूँजने कानो मे!
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानो मे।

पाक यज्ञ करना निश्चित कर
लगे शालियों को चुनने,
उधर वन्हि ज्वाला भी अपना
लगी धूम पट थी बुनने।

शुष्क डालियों से वृक्षों की
अग्नि अर्चियाँ हुईं समिद्ध,
आहुति की नव धूम गंध से
नभ कानन हो गया समृद्ध।

और सोचकर अपने मन में,
जैसे हम हैं बचे हुए,
क्या आश्चर्य और कोई हो
जीवन लीला रचे हुए।

अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
कहीं दूर रख आते थे,
होगा इससे तृप्त अपरिचित
समझ सहज सुख पाते थे।

दुख का गहन पाठ पढ़ कर अब
सहानुभूति समझते थे,
नीरवता की गहराई में
मग्न अकेले रहते थे।

मनन किया करते वे बैठे
ज्वलित अग्नि के पास वहा,
एक सजीव तपस्या जैसे
पतझड मे कर वास रहा।[1]

फिर भी धडकन कभी हृदय मे
होती, चिंता कभी नवीन,
योही लगा बीतने उनका
जीवन अस्थिर दिन दिन दीन।

प्रश्न उपस्थित नित्य नये थे
अधकार की माया मे,
रग बदलते जो पल पल मे
उस विराट की छाया मे।

अध प्रस्फुटित उत्तर मिलते
प्रकृति सकमक रही समस्त,
निज अस्तित्व बना रखने मे
जीवन आज हुआ था व्यस्त।

तप मे निरत हुए मनु नियमित—
कर्म लगे अपना करने।
विश्व रग मे कर्मजाल के
सूत्र लगे घन हो घिरने।

---

१ पाण्डुलिपि में—एक सजीव तपस्या का मानो पतझड में राज्य रहा।

उस एकात नियति शासन मे
चले विवश धीरे धीरे,
एक शात स्पदन लहरो का
होता ज्यो सागर तीरे।

विजन जगत की तद्रा म
तव चलता था सूना सपना,
ग्रह पथ के आलोक वृत्त से
काल जाल तनता अपना।

प्रहर दिवस रजनी आती थी
चल जाती सदेश विहीन,
एक विराग-पूर्ण ससति म
ज्यो निष्फल आरभ नवीन।

धवल मनोहर चद्र बिम्ब से
अकित सुदर स्वच्छ निशीथ,
जिसमे शीतल पवन गा रहा
पुलकित हो पावन उद्गीथ।

नीचे दूर दूर विस्तृत था
उर्मिल सागर व्यथित अधीर,
अतरिक्ष मे व्यस्त उसी सा
रहा चन्द्रिका निधि गभीर।

खुली उसी रमणीय दृश्य म
अलस चेतना की आखें,
हृदय कुसुम की खिली अचानक
मधु से वे भीगी पाँखे।

व्यक्त नील मे चल प्रकाश का
कपन सुख वन बजता था,
एक अतीद्रिय स्वप्न लोक का
मधुर रहस्य उलझता था।

नव हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख समान
चिर परिचित सा चाह रहा था
द्वद्व सुखद करके अनुमान।

आशा ।। [illegible] ।।

दिवा रात्रि या—मित्र वरण की
बाला का अक्षय शृंगार,
मिलन लगा हँसने जीवन के
उर्मिल सागर के उस पार।

तप से संयम का संचित बल
तृषित और व्याकुल था आज,
अट्टहास कर उठा रिक्त का
वह अधीर तम, सूना राज।

धीर समीर परस से पुलकित
विकल हो चला श्रांत शरीर।
आशा की उलझी अलकों से
उठी लहर मधुगन्ध अधीर।

मनु का मन था विकल हो उठा
संवेदन से खा कर चोट,
संवेदन ! जीवन जगती को
जो कटुता से देता घोट।

"आह! कल्पना का सुन्दर यह,
जगत मधुर कितना होता!
सुख स्वप्नों का दल छाया में
पुलकित हो जगता—सोता।

संवेदन का और हृदय का
यह संघर्ष न हो सकता,
फिर अभाव असफलताओं की
गाथा कौन कहा बकता।

कब तक और अकेले? कह दो
हे मेरे जीवन बोलो?
किसे सुनाऊँ कथा? कहो मत,
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।

[1]"तम के सुंदरतम रहस्य, हे
कांति किरण रंजित तारा!
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल
बिंदु, भरे नव रस सारा।

---

१ नव-ज्योति—मई १९२८ में प्रकाशित।

शांतिमयी छाया के देश,
हे अनन्त की गणना, देते
तुम कितना मधुमय संदेश।

आह शून्यते! चुप होने में
तू क्या इतनी चतुर हुई,
इंद्रजाल जननी! रजनी तू
क्यों अब इतनी मधुर हुई?

[1]"जब कामना सिंधु तट आयी
ले संध्या का तारा दीप,
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी
तू हँसती क्या अरी प्रतीप?

इस अनंत काले शासन का
वह जब उच्छृंखल इतिहास,
आँसू औ' तम घोल लिख रही
तू सहसा करती मृदु हास।

१ वार्षिक सरस्वती १९२८ में प्रकाशित।

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से—
आती चूम चूम चल जाती
पढी हुई किस टोने से।

किस दिगत रेखा मे इतनी
सचित कर सिसकी सी साँस,
यो समीर मिस हाफ रही सी
चली जा रही किसके पास।

विकल खिलखिलाती है क्यो तू ?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर,
तुहिन कणो, फेनिल लहरो मे,
मच जावेगी फिर अधेर।

घूँघट उठा देख मुसक्याती
किसे ठिठकती सी आती,
विजन गगन मे किसी भूल सी
किसको स्मृति पथ मे लाती।

रजत कुसुम के नव पराग सी
उडा न दे तू इतनी धूल,
इस ज्योत्स्ना की, अरी बावली !
तू इसमे जावेगी भूल।

आशा ॥४४९॥

आतप तापित जीवन सुख की
शातिमयी छाया के देश,
हे अनन्त की गणना, देते
तुम कितना मधुमय सदेश।

आह शून्यते। चुप होने मे
तू क्या इतनी चतुर हुई,
इद्रजाल जननी। रजनी तू
क्यो अब इतनी मधुर हुई?

[1]"जब कामना सिंधु तट आयी
ले सध्या का तारा दीप,
फाड सुनहली साडी उसकी
तू हँसती क्यो अरी प्रतीप?

इस अनत काले शासन का
वह जब उच्छृखल इतिहास,
आँसू औ' तम घोल लिख रही
तू सहसा करती मदु हास।

---

१ वार्षिक सरस्वती १९२८ में प्रकाशित।

मिले कहीं वह पड़ा अचानक
उसको भी न लुटा देना,
देख तुझे भी दूँगा तेरा
भाग, न उसे भुला देना।



श्रद्धा

"कौन तुम ? ससृतिज लनिधि तीर
तरगो से फेंकी मणि एक,
कर रहे निजन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?

'मधुर विश्रात और एकात—
जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चचल मन का आलस्य !"

सुना यह मनु ने मधु गुजार
मधुकरी का सा जब सानद,
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यो सुन्दर छद,

एक झिटका सा लगा सहप,
निरखने लग लुटे से, कौन—
गा रहा यह सुन्दर सगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।

१ पाण्डुलिपि में—विधुर 'माधुरी अगस्त १९२८ में प्रकाशित अथवा अतिम छन्द।

[1]और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इद्रजाल अभिराम,
कुसुम-वैभव मे लता समान
चद्रिका से लिपटा घनश्याम।

हृदय की अनुकृति वाह्य उदार
एक लम्बी काया, उन्मुक्त,
मधु पवन क्रीडित ज्यो शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ सयुक्त।

मसृण गाँधार देश के, नील
रोम वाले मेषो के चर्म,
ढँक रहे थे उसका वपु कात
वन रहा था वह कोमल वर्म।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अग,
खिला हो ज्यो विजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रग।

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हो घन श्याम,
अरुण रवि मडल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम।

---

१ माधुरी अगस्त १९२८ में इन्द्रजाल शीर्षक से प्रकाशित।

या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड कर धधक रही हो कात,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी मे अश्रात।

घिर रहे ये घुँघराले बाल
अस अवलबित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।

और उस मुख पर वह मुसक्यान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।

नित्य यौवन छवि से हो दीप्त
विश्व की करुण कामना मूर्ति,
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यो जड मे स्फूर्ति।

उषा की पहली लेखा कात,
माधुरी से भीगी भर मोद,
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।

पवन प्रेरित सौरभ साकार,
[1]रचित परमाणु पराग शरीर
खडा हो ले मधु का आधार।

और पडती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु राका मन की साध,
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध।

कहा मनु ने, "नभ धरणी बीच
बना जीवन रहस्य निरुपाय,
एक उल्का सा जलता भ्रात,
शून्य मे फिरता हूँ असहाय।

शैल निर्झर न बना हतभाग्य
गल नही सका जो कि हिम खड
दौड कर मिला न जलनिधि अक
आह वैसा ही हूँ पापड।

---

१ उठ खडा हो परमाणु पराग गठित तन ले मधु का आधार (पाण्डुलिपि में पूर्वरूप)।

पहेली सा जीवन है व्यस्त
उसे सुलझाने का अभिमान
बताता है विस्मृति का मार्ग
चल रहा हूँ बन कर अनजान।

भूलता ही जाता दिन रात
सजल अभिलाषा कलित अतीत,
बढ रहा तिमिर गर्भ मे नित्य
दीन जीवन का यह सगीत।

क्या कहूँ, क्या हूँ मै उद्भ्रात ?
विवर म नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरग,
शून्यता का उजडा सा राज।

एक विस्मृति का स्तूप अचेत,
ज्योति का धुँधला सा प्रतिबिम्ब,
और जडता की जीवन राशि
सफलता का सकलित विलम्ब।

एक दिन सहसा सिंधु अपार
लगा टकराने नग तल क्षुब्ध,
अकेला यह जीवन निरपाय
आज तक घूम रहा विश्रब्ध।

यहा देखा कुछ वलि का अन्न
भूत हित-रत किसका यह दान !
इधर कोई है अभी सजीव,
हुआ ऐसा मन म अनुमान।

तपस्वी ! क्यो इतने हो क्लात ?
वेदना का यह कैसा वेग ?
आह ! तुम कितने अधिक हताश
बताओ यह कैसा उद्वेग !

हृदय मे क्या है नही अधीर,
लालसा जीवन की निश्शेष ?
कर रहा वंचित कही न त्याग
तुम्हे, मन मे धर सुन्दर वेश !

दु ख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओ का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बन कर अनजान।

कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी मे सब होते अनुरक्त।

काम मगल से मडित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

'दुःख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमे सुख गात।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओ का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल,

विषमता की पीडा से व्यस्त
हो रहा स्पदित विश्व महान,
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

नित्य समरसता का अधिकार,
उमडता कारण जलधि समान,
व्यथा से नीली लहरो बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।"

लगे कहने मनु सहित विषाद —
'मधुर मारुत से ये उच्छ्वास
अधिक उत्साह तरग अबाध
उठाते मानस म सविलास।

किंतु जीवन कितना निरुपाय।
लिया है देख नही सदेह
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह।"

कहा आगतुक ने सस्नेह —
"अरे, तुम इतने हुए अधीर !
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मर कर जिसको वीर।

तप नही केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकाक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।

प्रकृति के यौवन का शृगार
करेंगे कभी न बासी फूल,
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह उत्सुक है उनकी धूल।

पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक,
नित्य नूतनता का आनद
किये है परिवर्तन म टेक।

युगो की चट्टानो पर सष्टि
डाल पद चिह्न चली गभीर,
देव, गधव, असुर की पक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।

"एक तुम, यह विस्तृत भू खड
प्रकृति वैभव से भरा अमद,
कम का भोग, भोग का कम
यही जड का चेतन आनद।

अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते ? तुच्छ विचार !
तपस्वी ! आकपण से हीन
कर सके नही आत्म विस्तार।

दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कही अवलब,
तुम्हारा सहचर बन कर क्या न
उऋण होऊँ मै बिना विलम्ब ?

समपण लो सेवा का सार
सजल ससृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सग
इसी पद तल मे विगत विकार।

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।

बनो ससृति के मूल रहस्य,
तुम्ही से फैलेगी वह बेल,
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।

"और यह क्या तुम सुनते नही
विधाता का मगल वरदान—
'शक्तिशाली हो, विजयी बनो'',
विश्व म गूँज रहा जय गान।

"डरो मत अरे अमृत संतान
अग्रसर है मंगल मय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिची आवेगी सकल समृद्धि।

देव असफलताओ का ध्वंस
प्रचुर उपकरण जुटा कर आज,
पडा है बन मानव संपत्ति
पूर्ण हो मन[1] का चेतन राज।

चेतना का सुंदर इतिहास
अखिल मानव भावो का सत्य,
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य
अक्षरो से अंकित हो नित्य।

विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण,
पटें सागर, बिखरें ग्रह पुंज
और ज्वालामुखिया हो चूर्ण।

उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खडी सानंद,
आज से मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल मे रहे न बंद।

---

१ पाण्डुलिपि में—मनु।

जलधि के फूटें कितने उत्स
द्वीप, कच्छप डूबें-उतरायँ,
किंतु वह खडी रहे दृढ मूर्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय।

विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढता व्यापार
हँसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का क्रीडामय सचार।

शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।"

काम

"मधुमय वसत जीवन वन के,
वह अन्तरिक्ष की लहरो मे,
कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरो मे!

क्या तुम्हे देख कर आते यो,
मतवाली कोयल बोली थी!
उस नीरवता मे अलसाई
कलियो ने आखें खोली थी!

जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने मे लुक रहना,
तब शिथिल सुरभि से धरणी मे
बिछलन न हुई थी? सच कहना।

जब लिखते थे तुम सरस हँसी
अपनी, फूलो के अचल मे,
अपना कलकठ मिलाते थे
झरनो के कोमल कल कल म।

निश्चिंत आह! वह था कितना
उल्लास, काकली के स्वर म।
आनद प्रतिध्वनि गूँज रही
जीवन दिगत के अबर म।

शिशु चित्रकार चंचलता में
कितनी आशा चित्रित करते !
अस्पष्ट एक लिपि ज्योतिमयी
जीवन की आँखों में भरते।

लतिका घूँघट से चितवन की
वह कुसुम दुग्ध सी मधु धारा,
प्लावित करती मन अजिर रही,
था तुच्छ विश्व वैभव सारा।

वे फूल और वह हँसी रही
वह सौरभ, वह निश्वास छना,
वह कलरव, वह संगीत अरे
वह कोलाहल एकांत बना।"

कहते कहते कुछ सोच रहे
लेकर निश्वास निराशा की,
मनु अपने मन की बात, रुकी
फिर भी न प्रगति अभिलाषा की।

"ओ नील आवरण जगती के
दुर्बोध न तू ही है इतना,
अवगुंठन होता आंखों का
आलोक रूप बनता जितना।[1]

चल चक्र वरुण का ज्योति भरा
व्याकुल तू क्यों देता फेरी ?
तारों के फूल बिखरते हैं
लुटती है असफलता तेरी।

नव नील कुंज हैं झीम रहे,
कुसुमों की कथा न बंद हुई,
है अंतरिक्ष आमोद भरा
हिम कणिका ही मकरंद हुई।

इस इंदीवर से गंध भरी
बुनती जाली मधु की धारा,
मन-मधुकर की अनुराग मयी
बन रही मोहिनी सी कारा।

अणुओं को है विश्राम कहाँ
यह कृतिमय वेग भरा कितना,
अविराम नाचता कंपन है,
उल्लास सजीव हुआ कितना।

---

१ नागरी प्रचारिणी सभा के कोशोत्सव स्मारक संग्रह में आवरण शीर्षक से संवत १९८५ में सत्रहवें छन्दपद्य के प्रकाशित।

उन नृत्य शिथिल निश्वासों की,
    कितनी है मोहमयी माया,
जिनसे समीर छनता छनता
    बनता है प्राणों की छाया।

आकाश-रन्ध्र हैं पूरित से
    यह सृष्टि गहन सी होती है,
आलोक सभी मूर्च्छित सोते,
    यह आँख थकी सी रोती है।

सौंदर्यमयी चंचल कृतियाँ
    बनकर रहस्य हैं नाच रही,
मेरी आँखों को रोक वहीं
    आगे बढ़ने में जाँच रही।

मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी,
    वह सब क्या छाया उलझन है ?
सुन्दरता के इस परदे में
    क्या अन्य धरा कोई धन है ?

मेरी अक्षय निधि ! तुम क्या हो
    पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें ?
उलझन प्राणों के धागों की
    सुलझन का समझूँ मान तुम्हें।

माधवी निशा की अलसाई
अलकों में लुकते तारा सी,
क्या हो सूने मरु-अंचल में
अंतःसलिला की धारा सी।

श्रुतियों में चुपके चुपके से
कोई मधु धारा घोल रहा,
इस नीरवता के परदे में
जैसे कोई कुछ बोल रहा।

है स्पर्श मलय के झिलमिल सा
संज्ञा को और सुलाता है,
पुलकित हो आँखें बन्द किये
तंद्रा को पास बुलाता है।

व्रीडा है यह चंचल कितनी
विभ्रम से घूँघट खींच रही,
छिपने पर स्वयं मृदुल कर से
क्यों मेरी आँखें मींच रही।

उद्‌बुद्ध क्षितिज की श्याम छटा
इस उदित शुक्र की छाया में,
ऊषा सा कौन रहस्य लिये
सोती किरनों की काया में।

काम ॥ ४७७॥

उठती है किरनो के ऊपर
कोमल किसलय की छाजन सी,
स्वर का मधु निस्वन रध्रो मे
जैसे कुछ दूर बजे बसी।

सब कहते है 'खोलो खोलो
छवि देखूँगा जीवन धन की',
आवरण स्वय बनते जाते
है भीड लग रही दर्शन की।

चादनी सदृश खुल जाय कही
अवगुठन आज सँवरता सा,
जिसमे अनत कल्लोल भरा
लहरो मे मस्त विचरता सा—

अपना फेनिल फन पटक रहा,
मणियो का जाल लुटाता सा,
उन्निद्र दिखाई देता हो
उन्मत्त हुआ कुछ गाता सा।'

"जो कुछ हो, मैं न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के,
आने दो कितनी आती हैं
बाधायें दम सयम बन के।

नक्षत्रो, तुम क्या देखोगे
इस ऊषा की लाली क्या है?
सकल्प भर रहा है उनमे
सदेहो की जाली क्या है?

कौशल यह कोमल कितना है
सुषमा दुर्भेद्य बनेगी क्या?
चेतना इन्द्रियो की मेरी
मेरी ही हार बनेगी क्या?"

"पीता हूँ, हा म पीता हूँ
यह स्पर्श, रूप, रस, गध भरा
मधु लहरो के टकराने से
ध्वनि मे है क्या गुजार भरा।

तारा बनकर यह बिखर रहा
क्या स्वप्नों का उन्माद अरे !
मादकता माती नींद लिये
सोऊँ मन में अवसाद भरे।"

चेतना शिथिल सी होती है
उन अंधकार की लहरों में,
मनु डूब चले धीरे-धीरे
रजनी के पिछले पहरों में।

उस दूर क्षितिज में सृष्टि बनी
स्मृतियों की संचित छाया से,
इस मन को है विश्राम कहाँ
चंचल यह अपनी माया से।

जागरण लोक था भूल चला
स्वप्नों का सुख संचार हुआ,
कौतुक सा बन मनु के मन का
वह सुन्दर क्रीडागार हुआ।

था व्यक्ति सोचता आलस में
चेतना सजग रहती दुहरी,
कानों के कान खोल कर के
सुनती थी कोई ध्वनि गहरी।

"प्यासा हूँ मैं अब भी प्यासा
संतुष्ट ओघ से मैं न हुआ,
आया फिर भी वह चला गया
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ।

देवों की सृष्टि विलीन हुई
अनुशीलन में अनुदिन मेरे,
मेरा अतिचार न बंद हुआ
उन्मत्त रहा सबको घेरे।

मेरी उपासना करते वे
मेरा संकेत विधान बना,
विस्तृत जो मोह रहा मेरा
वह देव विलास वितान तना।

मैं काम रहा सहचर उनका
उनके विनोद का साधन था,
हँसता था और हँसाता था
उनका मैं कृतिमय जीवन था।

जो आकर्षण बन हँसती थी
रति थी अनादि वासना वही,
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के
अंतर में उसकी चाह रही।

हम दोनों का अस्तित्व रहा
उस आरम्भिक आवर्त्तन सा,
जिससे संसृति का बनता है
आकार रूप के नर्त्तन सा।

उस प्रकृति लता के यौवन में
उस पुष्पवती के माधव का,
मधु हास हुआ था वह पहला
दो रूप मधुर जो ढाल सका।"

"वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई
अपने आलस का त्याग किये,
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े
जिसका सुन्दर अनुराग लिये।

कुकुम का चूण उडाते से
मिलने को गले ललकते से
अतरिक्ष के मघु उत्सव के
विद्युत्कण मिले झलकते से ।

वह आकपण, वह मिलन हुआ
प्रारम्भ माधुरी छाया मे,
जिसको कहते सव सृष्टि, वनी
मतवाली अपनी माया म ।

प्रत्येक नाश विश्लपण भी
सश्लिष्ट हुए, वन सृष्टि रही,
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था
मादक मरद की वृष्टि रही ।

भुज-लता पडी सरिताओ की
शैला के गले सनाथ हुए,
जलनिधि का अचल व्यजन वना
धरणी का, दो दो साथ हुए ।

कोरक अकुर सा जन्म रहा,
हम दोनो साथी झूल चले,
उस नवल सग के कानन मे
मृदु मलयानिल से फूल चले ।

हम भूख प्यास से जाग उठे,
आकाक्षा तृप्ति समन्वय म,
रति काम बने उस रचना मे
जो रही नित्य यौवन वय मे।"

"सुरबालाओ की सखी रही
उनकी हृत्त्री की लय थी,
रति, उनके मन को सुलझाती
वह राग भरी थो, मधुमय थी।

मैं तृष्णा था विकसित करता
वह तृप्ति दिखाती थी उनको,
आनद-समन्वय होता था
हम ले चलते पथ पर उनको।

वे अमर रहे न विनोद रहा,
चेतनता रही, अनग हुआ,
हूँ भटक रहा अस्तित्व लिये
सचित का सरल प्रसग हुआ।"

"यह नीड मनोहर कृतियो का
यह विश्व कर्म रगस्थल है,
है परपरा लग रही यहा
ठहरा जिसमे जितना बल है।

वे कितने ऐसे होते है
जो केवल साधन बनते हैं,
आरम्भ और परिणामो के
सबध सूत्र से बुनते है।

ऊषा की सजल गुलाली जो
घुलती है नीले अबर मे,
वह क्या है ? क्या तुम देख रहे
वर्णो के मेघाडबर मे ?

अतर है दिन औ' रजनी का
यह साधक कर्म बिखरता है,
माया के नीले अचल मे
आलोक बिंदु सा झरता है।"

उस लता कुज की झिल-मिल से
हेमाभरश्मि थी खेल रही,
देवा के सोम सुधा रस की
मनु के हाथा म बेल रही।

वासना

चल पडे कब से हृदय दो पथिक से अश्रात,
यहा मिलने के लिए, जो भटकते थे भ्रात।
एक गृह-पति, दूसरा था अतिथि विगत विकार,
प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार।

एक जीवन सिंधु था, तो वह लहर लघु लोल,
एक नवल प्रभात, तो वह स्वण किरण अमोल।
एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम,
दूसरा रजित किरण से श्री कलित घनश्याम।

नदी तट के क्षितिज म नव जलद, सायकाल,
खेलता ज्यो दा बिजलियो से मधुरिमा जाल।
लड रहे अविरत युगल थे चेतना के पाश,
एक सकता था न कोई दूसरे को फाँस।

था समपण में ग्रहण का एक सुनिहित भाव,
थी प्रगति, पर अडा रहता था सतत अटकाव।
चल रहा था विजन-पथ पर मधुर जीवन-खेल,
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल।

नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष,
गूढ अतर का छिपा रहता रहस्य विशेष।
दूर जैसे सघन वन-पथ अत का आलोक,
सतत होता जा रहा हो, नयन की गति रोक।

गिर रहा निस्तेज गोलक जलधि में असहाय,
घन पटल में डूबता था किरण का समुदाय।
कर्म का अवसाद दिन से कर रहा छल छंद,
मधुकरी का सुरस संचय हो चला अब बंद।

उठ रही थी कालिमा धूसर क्षितिज में दीन,
भेंटता अंतिम अरुण आलोक वैभव हीन।
यह दरिद्र मिलन रहा रच एक करुणा लोक,
शोक भर निर्जन निलय में बिछुड़ते थे कोक।

मनु अभी तक मनन करते थे लगाये ध्यान,
काम के संदेश से ही भर रहे थे कान।
इधर गृह में आ जुटे थे उपकरण अधिकार,
शस्य पशु या धान्य का होने लगा संचार।

नई इच्छा खींच लाती, अतिथि का संकेत—
चल रहा था सरल शासन युक्त सुरुचि समेत।
देखते थे अग्निशाला से कुतूहल युक्त,
मनु चमत्कृत निज नियति का खेल बंधन मुक्त।

एक माया! आ रहा था पशु अतिथि के साथ।
हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ।
चपल कोमल कर रहा फिर सतत पशु के अंग,
स्नेह से करता चमर उद्ग्रीव हो वह संग।

कभी पुलकित रोम राजी से शरीर उछाल,
भाँवरों से निज बनाता अतिथि सन्निधि जाल।
कभी निज भोले नयन से अतिथि वदन निहार,
सकल संचित स्नेह देता दृष्टि पथ से ढार,

और वह पुचकारने का स्नेह शवलित चाव,
मजु ममता से मिला बन हृदय का सद्भाव।
देखत ही देखते दोनो पहुँच कर पास,
लगे करने सरल शोभन मधुर मुग्ध विलास।

वह विराग विभूति ईर्षा पवन से हो व्यस्त,
बिखरती थी, और खुलते ज्वलन कण जो अस्त।
किन्तु यह क्या ? एक तीखी घूँट हिचकी आह !
कौन देता है हृदय म वेदना मय डाह ?

"आह यह पशु और इतना सरल सुन्दर स्नेह !
पल रहे मेरे दिये जो अन्न से इस गेह।
मैं ? कहा मैं ? ले लिया करते सभी निज भाग,
और देते फेंक मेरा प्राप्य तुच्छ विराग।

अरी नीच कृतघ्नते ! पिच्छल शिला सलग्न,
मलिन काई सी करेगी हृदय कितने भग्न ?
हृदय का राजस्व अपहृत, कर अधम अपराध,
दस्यु मुझसे चाहते हैं सुख सदा निर्बाध।

विश्व मे जो सरल सुन्दर हो विभूति महान् ,
सभी मेरी है, सभी करती रहे प्रतिदान।
यही तो, मै ज्वलित वाडव वन्हि नित्य अशात,
सिन्धु लहरा सा करें शीतल मुझे सब शात।'

आ गया फिर पास क्रीडाशील अतिथि उदार,
चपल शैशव सा मनोहर भूल का ले भार।
कहा "क्या तुम अभी बैठे ही रहे धर ध्यान,
देखती है आँख कुछ, सुनते रहे कुछ कान—

मन कहीं, यह क्या हुआ है ? आज कैसा रग ?"
नत हुआ फण दृप्त ईर्षा का विलीन उमग।
और सहलाने लगा कर-कमल कोमल कात,
देख कर वह रूप सुषमा मनु हुए कुछ शात।

कहा "अतिथि ! कहा रहे तुम किधर थे अज्ञात,
और यह सहचर तुम्हारा कर रहा ज्यो बात—
किसी सुलभ भविष्य की, क्या आज अधिक अधीर ?
मिल रहा तुमसे चिरतन स्नेह सा गभीर ?

[1]कौन हो तुम खीचते यो मुझे अपनी ओर
और ललचाते स्वय हटते उधर की ओर !
ज्योत्स्ना निझर ! ठहरती ही नही यह आख,
तुम्हे कुछ पहचानने की खो गयी सी साख।

कौन करुण रहस्य है तुमम छिपा छविमान ?
लता वीरुध दिया करते जिस छाया दान।
पशु कि हो पाषाण सब म नृत्य का नव छद
एक आलिगन बुलाता सभी को सानद।

राशि राशि बिखर पडा है शात सचित प्यार,
रख रहा है उसे ढोकर दीन विश्व उधार।
देखता हूँ चकित जैसे ललित लतिका लास,
अरुण घन की सजल छाया म दिनात निवास—

और उसम हो चला जैसे सहज सविलास,
मदिर माधव यामिनी का धीर पद विन्यास।
आह यह जो रहा सूना पडा कोना दीन,
ध्वस्त मदिर का बसाता जिसे कोई भी न—

---

१ कौन शीपक स माधुरी श्रावण १९६८ सवत म बाइसवी पक्ति पयत प्रकाशित।

उसी मे विश्राम माया का अचल आवास,
अरे यह सुख नीद कैसी, हो रहा हिम ह्रास !
वासना की मधुर छाया ! स्वास्थ्य बल विश्राम !
हृदय की सौंदर्य्य प्रतिमा ! कौन तुम छवि धाम !

कामना की किरन का जिसमे मिला हो ओज,
कौन हो तुम, इसी भूले हृदय की चिर खोज !
कुन्द मदिर सी हँसी ज्यो खुली सुषमा वाट,
क्या न वैसे ही खुला यह हृदय रुद्ध कपाट ?''

कहा हँसकर "अतिथि हूँ मैं, और परिचय व्यर्थ,
तुम कभी उद्विग्न इतने थे न इसके अर्थ !
चलो, देखो वह चला आता बुलाने आज—
सरल हँसमुख विधु जलद लघु खण्ड वाहन साज !

कालिमा धुलने लगी घुलने लगा आलोक,
इसी निभृत अनत म बसने लगा अब लोक,
इस निशामुख की मनोहर सुधामय मुसक्यान,
देख कर सब भूल जायें दुख के अनुमान।

देख लो, ऊँचे शिखर का व्योम चुम्बन व्यस्त,
लौटना अंतिम किरण का और होना अस्त।
चलो तो इस कौमुदी में देख आवें आज,
प्रकृति का यह स्वप्न शासन, साधना का राज।'

सृष्टि हँसने लगी आँखों में खिला अनुराग,
राग रंजित चंद्रिका थी उड़ा सुमन पराग।
और हँसता था अतिथि मनु का पकड़कर हाथ,
चले दोनों स्वप्न पथ में स्नेह संबल साथ।

देवदारु निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात,
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।
आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गंध,
पवन के घन घिरे पड़ते थे बने मधु अंध।

शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कांत,
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रांत।
उसी झुरमुट में हृदय की भावना थी भ्रांत
जहाँ छाया सृजन करती थी कुतूहल कांत।

कहा मनु ने "तुम्हे देखा अतिथि ! कितनी बार,
किन्तु इतने तो न थे तुम दबे छवि के भार !
पूर्व जन्म कहूँ कि था स्पृहणीय मधुर अतीत,
गूँजते जब मदिर घन मे वासना के गीत।

भूल कर जिस दृश्य को मैं बना आज अचेत,
वही कुछ सव्रीड, सस्मित कर रहा संकेत।
"मैं तुम्हारा हो रहा हूँ" यही सुदृढ विचार,
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार।

मधु बरसती विधु किरन हैं कापती सुकुमार,
पवन मे है पुलक मथर चल रहा मधु भार।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यो हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?

आज क्यो सदेह होता रूठने का व्यर्थ,
क्यो मनाना चाहता सा बन रहा असमर्थ !
धमनियो मे वेदना सा रक्त का सचार,
हृदय मे है कापती धडकन, लिये लघु भार !

चेतना रंगीन ज्वाला परिधि में सानन्द,
मानती सी दिव्य सुख कुछ गा रही है छंद।
अग्नि कीट समान जलती है भरी उत्साह,
और जीवित है, न छाले हैं न उसमें दाह।

कौन हो तुम विश्व माया कुहक सी साकार,
प्राण सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार।
हृदय जिसकी कांत छाया में लिये निश्वास,
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश।"

श्याम नभ में मधु किरन सा फिर वही मृदु हास,
सिंधु की हिलकोर दक्षिण का समीर विलास।
कुंज में गुंजरित कोई मुकुल सा अव्यक्त,
लगा कहने अतिथि, मनु थे सुन रहे अनुरक्त—

"यह अतृप्ति अधीर मन की क्षोभयुत उन्माद,
सखे! तुमुल तरग सा उच्छ्वासमय सवाद।
मत कहो पूछो न कुछ, देखो न कैसी मौन,
विमल राका मूर्ति बन कर स्तब्ध बैठा कौन!

विभव मतवाली प्रकृति का आवरण वह नील,
शिथिल है, जिस पर बिखरता प्रचुर मगल खील,
राशि-राशि नखत कुसुम की अचना अश्रात
बिखरती है, तामरस सुन्दर चरण के प्रात।"

मनु निरखने लगे ज्यो-ज्यो यामिनी का रूप,
वह अनन्त प्रगाढ छाया फैलती अपरूप,
बरसता था मदिर कण सा स्वच्छ सतत अनन्त,
मिलन का सगीत होने लगा था श्रीमत्त।

छूटती चिनगारियाँ उत्तेजना उद्भ्रांत,
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशांत।
वात चक्र समान कुछ था बाँधता आवेश,
धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश,

कर पकड़ उन्मत्त से हो लगे कहने, "आज,
देखता हूँ दूसरा कुछ मधुरिमामय साज।
वही छवि! हाँ वही जैसे! किन्तु क्या यह भूल?
रही विस्मृति सिंधु में स्मृति नाव विकल अकूल?

जन्म संगिनि एक थी जो काम बाला, नाम—
मधुर श्रद्धा था, हमारे प्राण को विश्राम—
सतत मिलता था उसी से अरे जिसको फूल,
दिया करते अर्घ में मकरन्द, सुषमा मूल।

प्रलय में भी बच रहे हम फिर मिलन का मोद,
रहा मिलने को बचा सूने जगत की गोद।
ज्योत्स्ना सी निकल आई! पार कर नीहार,
प्रणय विधु है खड़ा नभ में लिये तारक हार।

कुटिल कुतल से बनाती काल माया जाल,
नीलिमा से नयन की रचती तमिस्रा माल।
नीद सी दुर्भेद्य तम की, फेंकती यह दृष्टि,
स्वप्न सी है बिखर जाती हँसी की चल सृष्टि।

हुई केंद्रीभूत सी है साधना की स्फूर्ति,
दृढ सकल सुकुमारता म रम्य नारी मूर्त्ति।
दिवाकर दिन या परिश्रम का विकल विश्रात,
मै पुरुष शिशु सा भटकता आज तक था भ्रात।

चन्द्र की विश्राम राका बालिका सी कात,
विजयिनी सी दीखती तुम माधुरी सी शात।
पददलित सी थकी व्रज्या ज्यो सदा आक्रात,
शस्य श्यामल भूमि मे होती समाप्त अशात।

आह! वैसा ही हृदय का बन रहा परिणाम,
पा रहा हूँ आज देकर तुम्ही से निज काम।
आज ले लो चेतना का यह समपण दान।
विश्व रानी! सुन्दरी नारी! जगत की मान!"

लज्जा

"कोमल किसलय के चचल मे
नन्ही कलिका ज्यो छिपती सी,
गोधूली के धूमिल पट मे
दीपक के स्वर मे दिपती सी।

मजुल स्वप्नो की विस्मति मे
मन का उन्माद निखरता ज्यो,
सुरभित लहरो की छाया मे
बुल्ले का विभव विखरता ज्यो,

वैसी ही माया मे लिपटी
अधरो पर उँगली धरे हुए।
माधव के सरस कुतूहल का
आखो मे पानी भरे हुए।

नीरव निशीथ मे लतिका सी
तुम कौन आ रही हो वढती ?
कोमल वाहे फैलाये सी
आलिगन का जादू पढती।

किन इन्द्रजाल के फूलो से
लेकर सुहाग कण राग भरे,
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला जिमसे मधु धार ढरे ?

पुलकित कदंब की माला सी
पहना देती हो अंतर में,
झुक जाती है मन की डाली
अपनी फलभरता के डर में।

वरदान सदृश हो डाल रही
नीली किरनों से बुना हुआ,
यह अंचल कितना हलका सा
कितने सौरभ से सना हुआ।

सब अंग मोम से बनते हैं
कोमलता में बल खाती हूँ,
मैं सिमिट रही सी अपने में
परिहास गीत सुन पाती हूँ।

स्मित बन जाती है तरल हँसी
नयनों में भर कर बाँकपना!
प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो
वह बनता जाता है सपना।

मेरे सपनों में कलरव का
संसार आँख जब खोल रहा,
अनुराग समीरों पर तिरता
था इतराता सा डोल रहा।

अभिलाषा अपने यौवन में
उठती उस सुख के स्वागत को,
जीवन भर के बल वैभव से
सत्कृत करती दूरागत को।

किरनों का रज्जु समेट लिया
जिसका अवलंबन ले चढ़ती,
रस के निर्झर में धँस कर मैं
आनंद शिखर के प्रति बढ़ती।

छूने में हिचक, देखने में
पलकें आँखों पर झुकती हैं,
कलरव परिहास भरी गूँजें
अधरों पर सहसा रुकती हैं।

संकेत कर रही रोमाली
चुपचाप बरजती खड़ी रही,
भाषा बन भौंहों की काली
रेखा सी भ्रम में पड़ी रही।

तुम कौन ? हृदय की परवशता ?
सारी स्वतंत्रता छीन रही,
स्वच्छंद सुमन जो खिल रहे
जीवन वन से हो बीन रही !"

लज्जा ॥ ५०९ ॥

सध्या की लाली मे हँसती,
उसका ही आश्रय लेती सी,
छाया प्रतिमा गुनगुना उठी
श्रद्धा का उत्तर देती सी।

"इतना न चमत्कृत हो बाले!
अपने मन का उपकार करो,
मैं एक पकड हूँ जो कहती
ठहरो कुछ सोच विचार करो।

अंबर-चुम्बी हिम शृगो से
कलरव कोलाहल साथ लिये,
विद्युत की प्राणमयी धारा
बहती जिसमे उन्माद लिये।

मगल कुकुम की श्री जिसमे
निखरी हो ऊषा की लाली,
भोला सुहाग इठलाता हो
ऐसी हो जिसमे हरियाली।

हो नयनो का कल्याण बना
आनद सुमन सा विकसा हो,
वासती के वन-वैभव मे
जिसका पचम स्वर पिक सा हो,

जो गूँज उठे फिर नस नस मे
मूर्च्छना समान मचलता सा,
आखो के साचे म आकर
रमणीय रूप बन ढलता सा,

नयनो की नीलम की घाटी
जिस रस घन से छा जाती हो,
वह कौध की जिससे अतर की
शीतलता ठढक पाती हो।

हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का
गोधूली की सी ममता हो,
जागरण प्रात सा हँसता हो
जिममे मध्यान्ह निखरता हो।

हो चकित निकल आई सहसा
जो अपने प्राची के घर मे,
उस नवल चद्रिका से बिछले
जो मानस की लहरो पर से।

लज्जा ॥१११॥

फूलों की कोमल पखड़िया
बिखरें जिसके अभिनदन मे,
मकरद मिलाती हो अपना
स्वागत के कुकुम चदन म

कोमल किसलय ममर रव से
जिसका जय घाप सुनाते हो,
जिसम दुख सुख मिलकर मन के
उत्सव आनद मनाते हो।

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौंदय्य जिसे सब कहते हैं,
जिसम अनत अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

मैं उसी चपल की धात्री हूँ
गौरव महिमा हूँ सिखलाती,
ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे से समझाती।

मैं देव सृष्टि की रति रानी
निज पचावण से वचित हो,
बन आवजना मूर्ति दीना
अपनी अतृप्ति सी सचित हो।

अवशिष्ट रह गई अनुभव मे
अपनी अतीत असफलता सी,
लीला विलास की खेद भरी
अवसाद मयी श्रम दलिता सी।

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ
मतवाली सुदरता पग मे
नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।

लाली बन सरल कपोलो मे
आखो मे अजन सी लगती,
कुचित अलको सी घुँघराली
मन की मरोर बन कर जगती।

चचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली,
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ
जो बनती कानो की लाली।"

"हाँ ठीक, परन्तु बताओगी
मेरे जीवन का पथ क्या है?
इस निविड निशा म ससृति की
आलोकमयी रेखा क्या है?

यह आज समझ तो पायी हूँ
मैं दुबलता मे नारी हूँ,
अवयव की सुन्दर कोमलता
लकर मे सब से हारी हूँ।

पर मन भी क्या इतना ढीला
अपने ही होता जाता है!
घनश्याम खड सी आखो मे
क्यो सहसा जल भर आता है?

सवस्व समपण करने की
विश्वास महा तरु छाया मे,
चुपचाप पडी रहने की क्यो
ममता जगती है माया मे?

छाया पथ मे तारक द्युति सी
झिलमिल करने की मधु लीला,
अभिनय करती क्यो इस मन मे
कोमल निरीहता श्रम शीला?

निस्सबल होकर तिरती हूँ
इस मानस की गहराई मे,
चाहती नही जागरण कभी
सपने की इस सुघराई मे।

नारी जीवन का चित्र यही
क्या ? विकल रग भर देती हो,
अस्फुट रेखा की सीमा मे
आकार कला को देती हो।

रुकती हूँ और ठहरती हूँ
पर सोच विचार न कर सकती,
पगली सी काई अतर मे
बैठी जैसे अनुदिन बकती।

मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वय तुल जाती हूँ,
भुज लता फँसा कर नर तरु से
भूले सी झोंके खाती हूँ।

इस अपण म कुछ और नही
केवल उत्मग छलकता है,
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता।"

लज्जा ॥५१५॥

"क्या कहती हो ठहरो नारी !
सकल्प अश्रु जल से अपने,
तुम दान कर चुकी पहले ही
जीवन के साने स सपने।

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल म,
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुदर समतल मे।

देवो की विजय, दानवो की
हारो का होता युद्ध रहा,
सघप सदा उर अतर म
जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।

आँसू से भीगे अचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्मित रेखा से
यह सन्धि पत्र लिखना होगा।"

कर्म

दस

[illegible]

सग का नाम पाण्डुलिपि में यज्ञ है आदि सस्करण के मुद्रण काल में परिवत्तन पूवक कम हुवा ।

कर्म सूत्र संकेत सदृश थी
सोम लता तब मनु को,
चढी शिंजिनी सी, खीचा फिर
उसने जीवन धनु को।

हुए अग्रसर उसी मार्ग मे
छुटे तीर से फिर वे,
यज्ञ-यज्ञ की कटु पुकार से
रह न सके अब थिर वे।

भरा कान मे कथन काम का
मन मे नव अभिलाषा,
लगे सोचने मनु अतिरंजित
उमड रही थी आशा।

ललक रही थी ललित लालसा
सोम-पान की प्यासी,
जीवन के उस दीन विभव मे
जैसी बनी उदासी।

जीवन की अविराम साधना
भर उत्साह खडी थी,
ज्यो प्रतिकूल पवन मे तरणी
गहरे लौट पडी थी।

श्रद्धा के उत्साह वचन, फिर
काम प्रेरणा मिल के,
भ्रांत अर्थ बन आगे आये
बने ताड़ थे तिल के।

बन जाता सिद्धांत प्रथम फिर
पुष्टि हुआ करती है,
बुद्धि उसी ऋण को सबसे ले
सदा भरा करती है।

मन जब निश्चित सा कर लेता
कोई मत है अपना,
बुद्धि दैव-बल से प्रमाण का
सतत निरखता सपना।

पवन वही हिलकोर उठाता
वही तरलता जल में।
वही प्रतिध्वनि अंतरतम की
छा जाती नभ तल में।

सदा समर्थन करती उसकी
तर्कशास्त्र की पीढ़ी,
"ठीक यही है सत्य! यही है
उन्नति सुख की सीढ़ी।

और सत्य! यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है,
मेधा के क्रीडा-पंजर का
पाला हुआ सुआ है।

सब बातों में खोज तुम्हारी
रट सी लगी हुई है,
किन्तु स्पर्श से तर्क करों के
बनता 'छुईमुई' है।

असुर पुरोहित उस विप्लव से
बच कर भटक रहे थे,
वे किलात आकुलि थे जिनने
कष्ट अनेक सहे थे।

देख देख कर मनु का पशु जो
व्याकुल चंचल रहती
उनकी आमिष लोलुप रसना
आँखों से कुछ कहती।

क्यों किलात! खाते-खाते तृण
और कहाँ तक जीऊँ,
कब तक मैं देखूँ जीवित पशु
घूँट लहू का पीऊँ।

कर्म ॥ ५[illegible]

क्या कोई इसका उपाय ही
नहीं कि इसको खाऊँ ?
बहुत दिनों पर एक बार तो
सुख की बीन बजाऊँ।'

आकुलि ने तब कहा, 'देखते
नहीं साथ में उसके,
एक मृदुलता की, ममता की
छाया रहती हँस के।

अंधकार को दूर भगाती
वह आलोक किरन सी,
मेरी माया बिंध जाती है
जिससे हलके घन सी।

तो भी चलो आज कुछ करके
तब मैं स्वस्थ रहूँगा,
या जो भी आवेंगे सुख दुख
उनको सहज सहूँगा।'

यों ही दोनों कर विचार उस
कुंज द्वार पर आए,
जहाँ सोचते थे मनु बैठे
मन से ध्यान लगाये।

"कर्म यज्ञ से जीवन के
सपनो का स्वर्ग मिलेगा,
इसी विपिन मे मानस की
आशा का कुसुम खिलेगा।

किन्तु बनेगा कौन पुरोहित ?
अब यह प्रश्न नया है
किस विधान से करूँ यज्ञ यह
पथ किस ओर गया है।

श्रद्धा! पुण्य-प्राप्य है मेरी
वह अनत अभिलाषा,
फिर इस निर्जन मे खोजे
अब किसको मेरी आशा।"

यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी
धधक रही थी ज्वाला,
दारुण दृश्य। रुधिर के छींटे
अस्थि खंड की माला।

वेदी की निर्मम प्रसन्नता,
पशु की कातर वाणी,
मिलकर वातावरण बना था
कोई कुत्सित प्राणी।

सोम पात्र भी भरा, धरा था
पुरोडाश भी आगे,
श्रद्धा वहाँ न थी मनु के तब
सुप्त भाव सब जागे।

"जिसका था उल्लास निरखना
वही अलग जा बैठी,
यह सब क्यों फिर ? दृप्त वासना
लगी गरजने ऐंठी।

जिसमे जीवन का सचित सुख
सुन्दर मूत्त बना है।
हृदय खोल कर कैसे उसको
कहूँ कि वह अपना है?

वही प्रसन नही? रहस्य कुछ
इसम सुनिहित होगा,
आज वही पशु मर कर भी क्या
सुख मे बाधक होगा?

श्रद्धा रूठ गयी तो फिर क्या
उसे मनाना होगा,
या वह स्वय मान जायेगी,
किस पथ जाना होगा?"

पुरोडाश के साथ सोम का
पान लगे मनु करने,
लगे प्राण के रिक्त अश को
मादकता से भरने।

सध्या की धूसर छाया मे
शैल शृग की रेखा,
अकित थी दिगत अबर मे
लिये मलिन शशि-लेखा।

श्रद्धा अपनी शयन गुहा मे
दुखी लौट कर आयी,
एक विरक्ति बोझ सी ढोती
मन ही मन विलखायी।

सूखी काष्ठ सन्धि मे पतली
अनल शिखा जलती थी,
उस धुंधले गृह मे आभा से
तामस को छलती थी।

किंतु कभी बुझ जाती पाकर
शीत पवन के झोंके,
कभी उसी से जल उठती तब
कौन उसे फिर रोके।

कामायनी पडी थी अपना
कोमल चर्म विछा के
श्रम मानो विश्राम कर रहा
मृदु आलस को पाके।

धीरे धीरे जगत चल रहा
अपने उस ऋजु पथ मे,
धीरे धीरे खिलते तारे
मृग जुतते विधु रथ मे।

अंचल लटकाती निशीथिनी
अपना ज्योत्स्ना-शाली,
जिसकी छाया म सुख पावे
सृष्टि वेदना वाली।

उच्च शैल शिखरो पर हँसती
प्रकृति चचला वाला,
धवल हँसी विखराती अपनी
फैला मधुर उजाला।

जीवन की उद्दाम लालसा
उलझी जिससे व्रीडा,
एक तीव्र उन्माद और मन
मथने वाली पीडा,

मधुर विरक्ति भरी आकुलता,
घिरती हृदय गगन मे
अतर्दाह स्नेह का तब भी
होता था उस मन मे।

वे असहाय नयन थे खुलते—
मुँदते भीपणता मे,
आज स्नेह का पात्र खडा था,
स्पष्ट कुटिल कटुता मे।

"कितना दुख जिसे मैं चाहूँ
वह कुछ और बना हो,
मेरा मानस चित्र खीचना
सुदर सा सपना हो।

जाग उठी है दारुण ज्वाला
इस अनत मधुवन मे
कैसे बुझे कौन कह देगा
इस नीरव निजन मे।

यह अनत अवकाश नीड सा
जिसका व्यथित बसेरा,
वही वेदना सजग पलक मे
भर कर अलस बेरा।

काप रहे हैं चरण पवन के
विस्तृत नीरवता सी,
घुली जा रही है दिशि दिशि की
नभ मे मलिन उदासी।

अतरतम की प्यास, विकलता से
लिपटी बढती है,
युग युग की असफलता का
अवलबन ले चढती है।

विश्व विपुल आतक त्रस्त है
अपने ताप विषम से,
फैल रही है घनी नीलिमा
अतर्दाह परम से।

[1]उद्वेलित है उदधि, लहरिया
लौट रही व्याकुल सी,
चक्रवाल की धुंधली रेखा
मानो जाती झुलसी।

सघन घूम कुण्डल मे कैसी
नाच रही यह ज्वाला।
तिमिर फणी पहने हैं मानो
अपने मणि की माला।

जगतीतल का सारा क्रदन
यह विषमयी विषमता,
चुभने वाला अतरग छल
अति दारुण निर्ममता।

---

१ माधुरी में विषपान शीर्षक से 'श्रमकण से ये तारे'' पर्यन्त प्रकाशित।

जीवन के वे निष्ठुर दंशन
जिनकी आतुर पीडा,
कलुप चक्र सी नाच रही है
बन आँखो की क्रीडा।

स्खलन चेतना के कौशल का
भूल जिसे कहते है,
एक विन्दु, जिसमे विषाद के
नद उमडे रहते है।

आह वही अपराध, जगत की
दुर्बलता की माया,
धरणी की वर्जित मादकता,
सचित तम की छाया।

नील गरल से भरा हुआ
यह चद्र कपाल लिये हो,
इन्ही निमीलित ताराओ मे
कितनी शाति पिये हो।

अखिल विश्व का विष पीते हो
सृष्टि जियेगी फिर से,
कहो अमर शीतलता इतनी
आती तुम्हे किधर से?

अचल अनंत नील लहरों पर
बैठे आसन मारे,
देव ! कौन तुम झरते तन से
श्रमकण से ये तारे !

इन चरणों में कर्म कुसुम की
अंजलि वे दे सकते,
चले आ रहे छायापथ में
लोक पथिक जो थकते !

किन्तु कहाँ वह दुर्लभ उनको
स्वीकृति मिली तुम्हारी !
लौटाये जाते वे असफल
जैसे नित्य भिखारी !

[1]प्रखर विनाशशील नर्तन में
विपुल विश्व की माया,
क्षण-क्षण होती प्रकट नवीना
बन कर उसकी काया !

सदा पूर्णता पाने को सब
भूल किया करते क्या ?
जीवन में यौवन लाने को
जी जी कर मरते क्या ?

१ विजय में प्रकाशित ।

यह व्यापार महा गतिशाली
कहीं नहीं थमता क्या!
क्षणिक विनाशों में स्थिर मंगल
चुपके से हँसता क्या?

यह विराग संबंध हृदय का
कैसी यह मानवता!
प्राणी को प्राणी के प्रति बस
बची रही निर्ममता!

जीवन का संतोष अन्य का
रोदन बन हँसता क्यों?
एक एक विश्राम प्रगति को
परिकर सा कसता क्यों?

दुर्व्यवहार एक का कैसे
अन्य भूल जावेगा
कौन उपाय! गरल को कैसे
अमृत बना पावेगा!"

जाग उठी थी तरल वासना
मिली रही मादकता,
मनु को कौन वहाँ आने से
भला रोक अब सकता।

खुले मसण भुज-मूलो से
वह आमन्त्रण था मिलता,
उन्नत वक्षो मे आलिगन
सुख लहरो सा तिरता।

नीचा हो उठता जो धीमे
धीमे निश्वासो म,
जीवन का ज्यो ज्वार उठ रहा
हिमकर के हासो मे।

जागृत था सौंदय्य यदपि वह
सोती थी सुकुमारी,
रूप चद्रिका म उज्ज्वल थी
आज निशा सी नारी।

वे मासल परमाणु किरण से
विद्युत थे बिखराते,
अलको की डोरी मे जीवन
कण कण उलझे जाते।

विगत विचारो के श्रम सीकर
वने हुए थे मोती,
मुख मडल पर करुण कल्पना
उनको रही पिरोती।

छूते थे मनु और कटंकित
होती थी वह वेली,
स्वस्थ व्यथा की लहरो सी
जो अगलता थी फैली।

वह पागल सुख इस जगती का
आज विराट बना था,
अधकार मिश्रित प्रकाश का
एक वितान तना था।

कामायनी जगी थी कुछ कुछ
खोकर सब चेतनता,
मनोभाव आकार स्वय ही
रहा बिगडता बनता।

जिसके हृदय सदा समीप हैं
वही दूर जाता है,
और क्रोध होता उस पर ही
जिससे कुछ नाता है।

प्रिय को ठुकरा कर भी मन की
माया उलझा लेती,
प्रणय शिला प्रत्यावर्त्तन मे
उसको लौटा देती।

जलदागम मारुत से कम्पित
पल्लव सदृश हथेली,
श्रद्धा की, धीरे से मनु ने
अपने कर मे ले ली।

अनुनय वाणी में, आँखो मे
उपालम्भ की छाया
कहने लगे "अरे यह कैसी
मानवती की माया।

स्वर्ग बनाया है जो मैंने
उसे न विफल बनाओ
अरी अप्सरे! उस अतीत के
नूतन गान सुनाओ।

इस निर्जन मे ज्योत्स्ना पुलकित
विधुयुत नभ के नीचे
केवल हम तुम और कौन है?
रहो न आँखें मीचे।

काम ॥५४७॥

एक अचेतनता लाती सी
सविनय श्रद्धा बोली,
"बचा जान यह भाव सृष्टि ने
फिर से आँखें खोली।

भेद बुद्धि निर्मम ममता की
समझ, बची ही होगी,
प्रलय पयोनिधि की लहरें भी
लौट गयी ही होंगी।

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ।

रचना मूलक सृष्टि यज्ञ यह
यज्ञ-पुरुष का जो है
संसृति सेवा भाग हमारा
उसे विकसने को है।

सुख को सीमित कर अपने मे
केवल दुख छोडोगे
इतर प्राणियो की पीडा लख
अपना मुँह मोडोगे।

ये मुद्रित कलिया दल मे सब
सौरभ बन्दी कर लें
सरस न हो मकरद बिंदु से
खुल कर तो ये मर लें।

सूखें, झडें, और तब कुचले
सौरभ को पाओग,
फिर आमोद कहा से मधुमय
वसुधा पर लाओगे।

सुख अपने सतोप के लिए
सग्रह मूल नही है
उसमे एक प्रदर्शन जिसको
देखें अन्य, वही है।

निर्जन मे क्या एक अकेले,
तुम्हे प्रमोद मिलेगा ?
नही इसी से अन्य हृदय का
कोई सुमन खिलेगा।

सुख समीर पाकर, चाहे हो
वह एकांत तुम्हारा
बढ़ती है सीमा संसृति की
बन मानवता धारा।"

हृदय हो रहा था उत्तेजित
बातें कहते कहते
श्रद्धा के थे अधर सूखते
मन की ज्वाला सहते।

उधर सोम का पात्र लिये मनु
समय देखकर बोले—
"श्रद्धे! पी लो इसे बुद्धि के
बंधन को जो खोले।

वही करूँगा जो कहती हो
सत्य, अकेला सुख क्या।'
यह मनुहार! रुकेगा प्याला
पीने से फिर मुख क्या?

आखें प्रिय आँखो मे, डूबे
अरुण अधर थे रस म
हृदय काल्पनिक विजय मे सुखी
चेतनता नस नस मे।

छल वाणी की वह प्रवचना
हृदयो की शिशुता को,
खेल खिलाती, भुलवाती जो
उस निमल विभुता को।

जीवन का उद्देश्य लक्ष्य की
प्रगति दिशा को पल मे
अपने एक मधुर इगित से
बदल सके जो छल मे।

वही शक्ति अवलब मनोहर
निज मनु को थी देती,
जो अपने अभिनय से मन को
सुख मे उलझा लेती।

"श्रद्धे, होगी चन्द्रशालिनी
यह भव रजनी भीमा,
तुम बन जाओ इस जीवन के
मेरे सुख की सीमा।

लज्जा का आवरण प्राण को
ढँक लेता है तम से,
उसे अकिंचन कर देता है
अलगाता 'हम तुम' से।

कुचल उठा आनन्द, यही है
बाधा, दूर हटाओ,
अपने ही अनुकूल सुखों को
मिलने दो मिल जाओ।'

और एक फिर व्याकुल चुम्बन
रक्त खौलता जिससे,
शीतल प्राण धधक उठता है
तृषा तृप्ति के मिस से।

दो काठों की संधि बीच उस
निभृत गुफा में अपने,
अग्नि शिखा बुझ गई, जागने
पर जैसे सुख सपने।



ईर्ष्या

पल भर की उस चचलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार।
श्रद्धा की अब वह मधुर निशा
फैलाती निष्फल अधकार।

मनु को अब मगया छोड नही
रह गया और था अधिक काम
लग गया रक्त था उस मुख मे
हिंसा-सुख लाली से ललाम।

हिंसा ही नही और भी कुछ
वह खोज रहा था मन अधीर।
अपने प्रभुत्व की सुख सीमा
जो बढती हो अवसाद चीर।

जो कुछ मनु के करतलगत था
उसमे न रहा कुछ भी नवीन
श्रद्धा का सरल विनोद नही
रुचता अब था बन रहा दीन।

उठती अतस्तल से सदैव
दुर्ललित लालसा जो कि कात,
वह इद्रचाप सी झिलमिल हो
दब जाती अपने आप शात।

"निज उदगम का मुख बद किये
कब तक सोयेंगे अलस प्राण,
जीवन की चिर चचल पुकार
रोये कब तक, है कहाँ त्राण !

श्रद्धा का प्रणय और उसकी
आरम्भिक सीधी अभिव्यक्ति
जिसमे व्याकुल आलिगन का
अस्तित्व न तो है कुशल सूक्ति ।

भावना मयी वह स्फूर्ति नही
नव नव स्मित रेखा मे विलीन,
अनुराध न तो उल्लास, नही
कुसुमोद्‌गम सा कुछ भी नवीन ।

आती है वाणी मे न कभी
वह चाव भरी लीला हिलोर,
जिसम नूतनता नत्य मयी
इठलाती हो चचल मरोर ।

जब देखो बैठी हुई वहीं
शालिया बीन कर नहीं श्रात।
या अन्न इकट्ठे करती है
होती न तनिक सी कभी क्लात।

बीजो का सग्रह और उधर
चलती है तकली भरी गीत,
सब कुछ लेकर बैठी है वह
मेरा अस्तित्व हुआ अतीत!"

लौटे ये मृगया से थक कर
दिखलाई पडता गुफा द्वार,
पर और न आगे बढने की
इच्छा होती, करते विचार।

मृग डाल दिया, फिर धनु को भी
मनु बैठ गये शिथिलित शरीर,
बिखरे थ सब उपकरण वही
आयुध, प्रत्यचा, शृ ग, तीर।

'दिन भर थे कहाँ भटकते तुम'
बोली श्रद्धा भर मधुर स्नेह
"यह हिंसा इतनी है प्यारी
जो भुलवाती है देह-गेह!

मैं यहाँ अकेली देख रही
पथ, सुनती सी पद-ध्वनि नितांत,
कानन में जब तुम दौड़ रहे
मृग के पीछे बन कर अशांत!

ढल गया दिवस पीला-पीला
तुम रक्तारुण वन रहे घूम,
देखो नीड़ों में विहग युगल
अपने शिशुओं को रहे चूम!

उनके घर में कोलाहल है
मेरा सूना है गुफा द्वार!
तुमको क्या ऐसी कमी रही
जिसके हित जाते अन्य द्वार?'

"श्रद्धे तुमको कुछ कमी नहीं
पर मैं तो देख रहा अभाव,
भूली सी कोई मधुर वस्तु
जैसे कर देती विकल घाव।

चिर मुक्त पुरुष वह कब इतने
अवरुद्ध श्वास लेगा निरीह!
गति हीन पंगु सा पड़ा-पड़ा
ढह कर जैसे बन रहा डीह।

जब जड़ बंधन सा एक मोह
कसता प्राणों का मृदु शरीर,
आकुलता और जकड़ने की
तब ग्रंथि तोड़ती हो अधीर।

हँस कर बोले, बोलते हुए
निकले मधु निर्झर ललित गान,
गानों में हो उल्लास भरा
झूमें जिसमें वन मधुर प्रान।

वह आकुलता अब कहाँ रही
जिसमें सब कुछ ही जाय भूल।
आशा के कोमल तंतु सदृश
तुम तकली में हो रही झूल।

श्रद्धे ! यह नव संकल्प नहीं—
चलने का लघु जीवन अमोल,
मैं उसको निश्चय भोग चलूँ
जो सुख चलदल सा रहा डोल !

देखा क्या तुमने कभी नहीं
स्वर्गीय सुखों पर प्रलय-नृत्य ?
फिर नाश और चिर निद्रा है
तब इतना क्यों विश्वास सत्य ?

यह चिर प्रशांत मंगल की क्यों
अभिलाषा इतनी रही जाग ?
यह संचित क्यों हो रहा स्नेह
किस पर इतनी हो सानुराग ?

यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार !
केवल मेरी ही चिंता का
तव चित्त वहन कर रहे भार।

मेरा सुंदर विश्राम बना
सृजता हो मधुमय विश्व एक
जिसमें बहती हो मधु धारा
लहरें उठती हों एक एक।

"मैने तो एक बनाया है
चल कर देखो मेरा कुटीर,"
यों कह कर श्रद्धा हाथ पकड़
मनु को ले चली वहीं अधीर।

उस गुफा समीप पुआलों की
छाजन छोटी सी शांति-पुंज,
कोमल लतिकाओं की डालें
मिल सघन बनाती जहाँ कुंज,

थे वातायन भी कटे हुये
प्राचीर पर्णमय रचित शुभ्र,
आवें क्षण भर तो चले जाय
रुक जाय कहीं न समीर, अभ्र।

उसमे था झूला पड़ा हुआ
वेतसी लता का सुरुचि पूर्ण,
बिछ रहा धरातल पर चिकना
सुमनों का कोमल सुरभि चूर्ण।

कितनी मीठी अभिलाषायें
उसमें चुपके से रहीं घूम!
कितने मंगल के मधुर गान
उसके कानों को रहे चूम!

मनु देख रहे थे चकित नया
यह गृह-लक्ष्मी का गृह-विधान!
पर कुछ अच्छा सा नहीं लगा
'यह क्या? किसका सुख साभिमान?'

चुप थे पर श्रद्धा ही बोली
"देखो यह तो बन गया नीड,
पर इसमें कलरव करने को
आकुल न हो रही अभी भीड।

तुम दूर चले जाते हो जब
तब लेकर तकली यहाँ बैठ,
मैं उसे फिराती रहती हूँ
अपनी निर्जनता बीच पैठ।

मैं बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्त्तन में स्वर विभोर—
'चल री तकली धीरे धीरे
प्रिय गये खेलने को अहेर।'

जीवन का कोमल ततु बढ़े
तेरी ही मजुलता समान,
चिर नग्न प्राण उनमे लिपटें
सुदरता का कुछ बढे मान।

किरनो सी तू बुन दे उज्ज्वल
मेरे मधु जीवन का प्रभात।
जिसमे निवसना प्रकृति सरल
ढँक ले प्रकाश से नवल गात।

वासना भरी उन आखो पर
आवरण डाल दे कातिमान,
जिसमे सौदय्य निखर आवे
लतिका मे फुल्ल कुसुम समान।

अब वह आगतुक गुफा बीच
पशु सा न रहे निवसन नग्न,
अपने अभाव की जडता मे
वह रह न सकेगा कभी मग्न।

सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व कभी जब रहोगे न,
मैं उसके लिये बिछाऊँगी
फूलो के रस का मृदुल फेन।

झूले पर उसे झुलाऊँगी
दुलरा कर लूँगी बदन चूम।
मेरी छाती से लिपटा इस
घाटी में लेगा सहज घूम।

वह आवेगा मृदु मलयज सा
लहराता अपने मसृण बाल,
उसके अधरों से फैलेगी
नव मधुमय स्मिति लतिका प्रवाल।

अपनी मीठी रसना से वह
बोलेगा ऐसे मधुर बोल,
मेरी पीड़ा पर छिड़केगा
जो कुसुम धूलि मकरंद घोल।

मेरी आँखों का सब पानी
तब बन जायेगा अमृत स्निग्ध,
उन निर्विकार नयनों में जब
देखूँगी अपना चित्र मुग्ध।"

"तुम फूल उठोगी लतिका सी
कंपित कर सुख सौरभत रग,
मै सुरभि खोजता भटकूँगा
वन-वन बन कस्तूरी कुरग।

यह जलन नही सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पचभूत की रचना मे
मै रमण करूँ बन एक तत्व।

यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार!
भिक्षुक मैं ? ना, यह कभी नही
मैं लौटा लूँगा निज विचार।

तुम दानशीलता से अपनी
बन सजल जलद वितरो न विंदु,
इस सुख नभ मे मैं विचरूँगा
बन सकल कलाधर शरद इदु।

भूले से कभी निहारोगी
कर आकपण मय हास एक,
मायाविनि! मै न उसे लूँगा
वरदान समझ कर, जानु टेक!

"किस गहन गुहा से अति अधीर
झझा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महा समीर
ले साथ विकल परमाणु पुज नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर
भयभीत सभी को भय देता भय की उपासना मे विलीन
प्राणी कटुता को बाँट रहा जगती को करता अधिक दीन
निर्माण और प्रतिपद विनाश मे दिखलाता अपनी क्षमता
सघर्ष कर रहा सा जब से, सब से विराग सब पर ममता
अस्तित्व चिरतन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर
किस लक्ष्य भेद को शून्य चीर ?"

देखे मैने वे शैल शृग
जो अचल हिमानी से रजित, उन्मुक्त, उपेक्षा भरे तुग
अपने जड गौरव के प्रतीक वसुधा का कर अभिमान भग
अपनी समाधि म रहे सुखी बह जाती हैं नदियाँ अबोध
कुछ स्वेद बिंदु उसके लेकर वह स्तिमित नयन गत शोक क्रोध
स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा मे वैसी चाहता नही इस जीवन की
मै तो अबाध गति मरुत सदृश, हूँ चाह रहा अपने मन की
जो चूम चला जाता अग जग प्रति पग मे कपन की तरग
वह ज्वलन शील गतिमय पतग।

अपनी ज्वाला से कर प्रकाश

जब छोड चला आया सुदर प्रारभिक जीवन का निवास
वन, गुहा, कुज मरु अचल म हूँ खोज रहा अपना विकास
पागल मैं, किस पर सदय रहा ? क्या मैंने ममता ली न तोड ?
किस पर उदारता से रीझा ? किससे न लगा दी कडी होड ?
इस विजन प्रात मे विलख रही मेरी पुकार उत्तर न मिला
लू सा झुलसाता दौड रहा कब मुझसे कोई फूल खिला
मैं स्वप्न देखता हूँ उजडा कल्पना लोक मे कर निवास
देखा कब मैंने कुसुम हास।

इस दुख मय जीवन का प्रकाश

नभ नील लता की डालो मे उलझा अपने सुख से हताश
कलियाँ जिनको मैं समझ रहा वे काँटे बिखरे आस पास
कितना बीहड पथ चला और पड रहा कहीं थक कर नितात
उन्मुक्त शिखर हँसते मुझ पर रोता मैं निर्वासित अशात
इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही
खोखली शून्यता म प्रतिपद असफलता अधिक कुलाच रही
पावस रजनी म जुगुनू गण को दौड पकडता म निराश
उन ज्योति कणो का कर विनाश।

जीवन निशीथ के अधकार !

तू नील तुहिन जल निधि बन कर फैला है कितना वार पार
कितनी चेतनता की किरन है डूब रही ये निर्विकार
कितना मादक तम, निखिल भुवन भर रहा भूमिका म अभग
तू मूर्तिमान हो छिप जाता प्रतिपल के परिवत्तन अनग
ममता की क्षीण अरुण रेखा खिलती है तुझमे ज्योति कला
जैसे सुहागिनी की ऊर्मिल अलका मे कुकुम चूण भला
रे चिर निवास विश्राम प्राण के मोह जलद छाया उदार
माया रानी के केश भार।

जीवन निशीथ के अधकार !

तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम सा दुर्निवार
जिसमे अपूण लालसा, कसक, चिनगारी सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की कालिंदी बह रही चूम कर सब दिगन्त
मन शिशु की क्रीडा नौकायें बस दौड लगाती है अनन्त
कुहुकिनि अपलक दृग के अजन ! हँसती तुझमे सुन्दर छलना
धूमिल रेखाओ से सजीव चचल चित्रो की नव-कल्पना
इस चिर प्रवास श्यामल पथ मे छायी पिक प्राणो की पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार।

यह उजड़ा सूना नगर प्रात
जिसमे सुख दुख की परिभाषा विध्वस्त शिल्प सी हो नितात
निज विकृत वक्र रेखाओ से, प्राणी का भाग्य बनी अशात
कितनी सुखमय स्मृतियाँ, अपूर्ण रुचि बन कर मँडराती विकीर्ण
इन ढेरो म दुखभरी कुरुचि दब रही अभी बन पत्र जीर्ण
आती दुलार को हिचकी सी सूने कोनो म कसक भरी
इस सूखे तरु पर मनोवृत्ति आकाश-बेलि सी रही हरी
जीवन समाधि के खडहर पर जो जल उठते दीपक अशात
फिर बुझ जाते वे स्वय शात।'

यो सोच रहे मनु पडे श्रात
श्रद्धा का सुख साधन निवास जब छोड चले आये प्रशात
पथ पथ म भटक अटकते वे आये इस ऊजड नगर प्रात
बहती सरस्वती वेग भरी निस्तब्ध हो रही निशा श्याम
नक्षत्र निरखते निर्निमेष वसुधा की वह गति विकल वाम
वृत्रघ्नी का वह जनाकीर्ण उपकूल आज कितना सूना
देवेश इद्र की विजय कथा की स्मृति देती थी दुख दूना
वह पावन सारस्वत प्रदेश दुस्वप्न देखता पडा क्लात
फैला था चारो ओर ध्वात।

"जीवन का लेकर नव विचार
जब चला द्वद्व था असुरो मे प्राणो की पूजा का प्रचार
उस ओर आत्म विश्वास निरत सुर वर्ग कह रहा था पुकार—
'मैं स्वय सतत आराध्य आत्म मगल उपासना मे विभोर
उल्लास शील मैं शक्ति केन्द्र, किसकी खोजूँ फिर शरण और
आनद उच्छलित शक्ति स्रोत जीवन विकास वैचित्र्य भरा
अपना नव नव निर्माण किये रखता यह विश्व सदैव हरा"
प्राणो के सुख साधन मे ही, सलग्न असुर करते सुधार
नियमो मे बँधते दुर्निवार।

था एक पूजता देह दीन
दूसरा अपूर्ण अहता मे अपने को समझ रहा प्रवीण
दोनो का हठ था दुर्निवार, दोनो ही थे विश्वास हीन
फिर क्यो न तर्क को शस्त्रो से वे सिद्ध करें क्यो हो न युद्ध
उनका सघर्ष चला अशात वे भाव रहे अब तक विरुद्ध
मुझमे ममत्व मय आत्म मोह स्वातत्र्य मयी उच्छृखलता
हो प्रलय भीत तन रक्षा मे पूजन करने की व्याकुलता
वह पूर्व द्वद्व परिवर्त्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन
सचमुच मै हूँ श्रद्धा विहीन।"

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि

द्वयता मे लगी निरतर ही वर्णो की करती रहे वृष्टि
अनजान समस्यायें गढती रचती हो अपनी ही विनष्टि
कोलाहल कलह अनत चले, एकता नष्ट हो, बढे भेद
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हा मिले अनिच्छित दुखद खेद
हृदयो का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जडता
पहचान सकेंगे नही परस्पर चले विश्व गिरता पडता
तब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि
दुख देगी यह सकुचित दृष्टि।

अनवरत उठे कितनी उमग

चुम्बित हो आँसू जलधर से अभिलाषाओ के शैल शृग
जीवन नद हाहाकार भरा, हो उठती पीडा की तरग
लालसा भरे यौवन के दिन पतझड से सूखे जायें बीत
संदेह नये उत्पन्न रहे उनसे सतप्त सदा सभीत
फैलेगा स्वजनो का विरोध बन कर तम वाली श्याम अमा
दारिद्रय दलित बिलखाती हो यह शस्य श्यामला प्रकृति रमा
दुख नीरद म या इद्रधनुष बदल नर कितने नये रग
बन तृष्णा ज्वाला का पतग।

वह प्रेम न रह जाये पुनीत
अपने स्वार्थों से आवृत हो मगल रहस्य सकुचे सभीत
सारी ससति हो विरह भरी, गाते ही बीतें करुण गीत
आकाक्षा जलनिधि की सीमा हो क्षितिज निराशा सदा रक्त
तुम राग विराग करो सबसे अपने को कर शतश विभक्त
मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध, दोनो मे हो सद्भाव नही
वह चलने को जब कहे कही तब हृदय विकल चल जाय कही
रोकर बीतें सब वतमान क्षण सुदर सपना हो अतीत
पेंगो मे झूले हार जीत।

सकुचित असीम अमोघ शक्ति
जीवन को बाधा मय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति
या कभी अपूण अहता म हो रागमयी सी महासक्ति[1]
व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा मे रहे बद
सवज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अश विद्या बन कर कुछ रचे छद
कतृत्व सकल बन कर आवे नश्वर छाया सी ललित कला
नित्यता विभाजित हो पल पल मे काल निरतर चले ढला
तुम समझ न सको, बुराई से शुभ इच्छा की है बडी शक्ति
हो विफल तक से भरी युक्ति।

---

१ आदिसस्करण एव पाण्डुलिपि उभय में इस स्थल पर यही ह, महाशक्ति नहीं जसा कतिपय पिछले पुनमु द्रणो में त्रुटिवश छपता आया ह।

जीवन सारा बन जाय युद्ध

उस रक्त अग्नि की वर्षा मे वह जायें सभी जो भाव शुद्ध
अपनी शकाओ से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध
अपने को आवृत किये रहो दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप
वसुधा के समतल पर उन्नत चलता फिरता हो दभ स्तूप
श्रद्धा इस ससृति की रहस्य व्यापक विशुद्ध विश्वासमयी
सब कुछ देकर नव निधि अपनी तुम से ही तो वह छली गयी
हो वर्तमान से वचित तुम अपने भविष्य मे रहो रुद्ध
सारा प्रपच ही हो अशुद्ध।

तुम जरा मरण मे चिर अशात

जिसको अब तक समझे थे सब जीवन म परिवर्तन अनत
अमरत्व वही अब भूलेगा तुम व्याकुल उसको कहो अत
दुखमय चिर चितन के प्रतीक। श्रद्धा वचक बनकर अधीर
मानव सतति ग्रह रश्मि रज्जु से भाग्य बाध पीटे लकीर
'कल्याण भूमि यह लोक' यही श्रद्धा रहस्य जाने न प्रजा
अतिचारी मिथ्या मान इसे परलोक वचना से भर जा
आशाओ मे अपने निराश निज बुद्धि विभव से रहे भ्रात
वह चलता रहे सदैव श्रात।"

अभिशाप प्रतिध्वनि हुई लीन

नभ सागर के अतस्तल मे जैसे छिप जाता महा मीन
मृदु मरुत लहर मे फेनोपम तारागण झिलमिल हुए दीन
निस्तब्ध मौन था अखिल लोक तद्रालस था वह विजन प्रात
रजनी तम पुजीभूत सदृश मनु श्वास ले रहे थे अशात
वे सोच रहे थे "आज वही मेरा अदृष्ट बन फिर आया
जिसने डाली थी जीवन पर पहले अपनी काली छाया
लिख दिया आज उसने भविष्य ! यातना चलेगी अतहीन
अब तो अवशिष्ट उपाय भी न ।"

करती सरस्वती मधुर नाद

बहती थी श्यामल घाटी मे निर्लिप्त भाव सी अप्रमाद
सब उपल उपेक्षित पडे रहे जैसे वे निष्ठुर जड विषाद
वह थी प्रसन्नता की धारा जिसमे था केवल मधुर गान
थी कर्म निरतरता प्रतीक चलता था स्ववश अनन्त ज्ञान
हिम शीतल लहरो का रह रह कूलो से टकराते जाना
आलोक अरुण किरणो का उन पर अपनी छाया बिखराना
अद्भुत था ! निज निर्मित पथ का वह पथिक चल रहा निर्विवाद
कहता जाता कुछ सुसवाद ।

प्राची मे फैला मधुर राग

जिसके मडल मे एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग
जिसके परिमल से व्याकुल हो श्यामल कलरव सब उठे जाग
आलोक रश्मि से बुने उषा अचल मे आदोलन अमद
करता, प्रभात का मधुर पवन सब ओर वितरने को मरद
उस रम्य फलक पर नवल चित्र सी प्रकट हुई सुन्दर बाला
वह नयन महोत्सव की प्रतीक अम्लान नलिन की नव माला
सुषमा का मडल सुस्मित सा बिखराता ससृति पर सुराग
सोया जीवन का तम विराग।

बिखरी अलकें ज्यो तर्क जाल

वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमे भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे ससृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ मे कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारो के नभ का था मधुर अभय अवलब दिये
त्रिवली थी त्रिगुण तरगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणो मे थी गति भरी ताल।

नीरव थी प्राणों की पुकार
मूर्च्छित जीवन सर निस्तरग नीहार घिर रहा था अपार
निस्तब्ध अलस बन कर सोयी चलती न रही चचल बयार
पीमा मा मुकुलित कज आप अपनी मधु बूँदें मधुर मौन
निस्वन दिगत म रहे रुद्ध सहसा बोले मनु "अरे कौन
आलोकमयी स्मिति चेतनता आयी यह हेमवती छाया"
तद्रा के स्वप्न तिरोहित थे बिखरी केवल उजली माया
वह स्पर्श दुलार पुलक से भर बीते युग को उठता पुकार
वीचिया नाचती बार बार।

प्रतिभा प्रसन्न मुख सहज खोल
वह बोली "मैं हूँ इडा, कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोल।"
नासिका नुकीली के पतले पुट फरक रहे कर स्मित अमोल
"मनु मेरा नाम सुनो बाले। मैं विश्व पथिक सह रहा क्लेश।"
"स्वागत। पर देख रहे हो तुम यह उजडा सारस्वत प्रदेश
भौतिक हलचल से यह चचल हो उठा देश ही था मेरा
इसमे अब तक हूँ पडी इसी आशा से आये दिन मेरा।'

❀ ❀ ❀

"मैं तो आया हूँ देवि बता दो जीवन का क्या सहज मोल
भव के भविष्य का द्वार खोल।

"इस विश्व कुहर मे इद्रजाल
जिसने रच कर फैलाया है ग्रह तारा विद्युत नखत माल
सागर की भीषण तम तरग सा खेल रहा वह महाकाल
तब क्या इस वसुधा के लघु लघु प्राणी को करने को सभीत
उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत
तब मूर्ख आज तक क्यों समझे हैं सृष्टि उसे जो नाशमयी
उसका अधिपति ! होगा कोई, जिस तक दुख की न पुकार गयी
सुख नीडो को घेरे रहता अविरत विषाद का चक्रवाल
किसने यह पट है दिया डाल ?

शनि का सुदूर वह नील लोक
जिसकी छाया सा फैला है ऊपर नीचे यह गगन शोक
उसके भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक
वह एक किरन अपनी देकर मेरी स्वतन्त्रता म सहाय
क्या बन सकता है ? नियति जाल से मुक्ति दान का कर उपाय।"

× × ×

"कोई भी हो वह क्या बोले, पागल बन नर निर्भर न करे
अपनी दुर्बलता बल सम्हाल गतव्य मार्ग पर पैर धरे
मत कर पसार निज पैरो चल, चलने की जिसको रहे झोक
उसको कब कोई सके रोक।

"हाँ तुम ही हो अपने सहाय ?
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किसकी नर शरण जाय
जितने विचार सस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने म परिकर कस कर बन कमलीन
सबका नियमन शासन करते बस बढा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कही विषमता या ममता
तुम जडता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक मे रहे छाय।"

हँस पडा गगन वह शून्य लोक
जिसके भीतर बस कर उजडे कितने ही जीवन मरण शोक
कितने हृदयो के मधुर मिलन क्रदन करते बन विरह कोक
ले लिया भार अपने सिर पर मनु ने यह अपना विषम आज
हँस पडी उषा प्राची नभ मे देखे नर अपना राज काज
चल पडी देखने वह कौतुक चचल मलयाचल की बाला
लख लाली प्रकृति कपोलो मे गिरता तारा दल मतवाला
उनिद्र कमल कानन म होती थी मधुपो की नोक झोक
वसुधा विस्मृत थी सकल शोक।

"जीवन निशीथ का अधकार
भग रहा क्षितिज के अचल मे मुख आवृत कर तुमको निहार
तुम इडे उपा सी आज यहा आयी हो बन कितनी उदार
कलरव कर जाग पडे मेरे ये मनोभाव सोये विहग
हँसती प्रसन्नता चाव भरी बन कर किरनो की सी तरग
अवलम्ब छोड कर औरो का जब बुद्धिवाद को अपनाया
मैं बढा सहज, तो स्वय बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया
मेरे विकल्प सकल्प बनें, जीवन हो कर्मो की पुकार
सुख साधन का हो खुला द्वार।"



स्वप्न

सध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती,
मुरझा कर क्व गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती।
क्षितिज भाल का कुकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियो पर मँडराती।

कामायनी कुसुम वसुधा पर पडी, न वह मकरद रहा,
एक चित्र बस रेखाओ का, अब उसमे है रग कहा।
वह प्रभात का हीनकला शशि, किरन कहा चादनी रही,
वह सध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नही जहाँ।

जहाँ तामरस इदीवर या सित शतदल है मुरझाये,
अपने नालो पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये,
वह जलधर जिसमे चपला या श्यामलता का नाम नही,
शिशिर काल[1] की क्षीण स्रोत वह जो हिमतल मे जम जाये।

एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नही,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक साकार रही,
हरित कुज की छाया भर थी वसुधा आलिगन करती,
वह छोटी सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नही।

नील गगन म उडती-उडती विहग-बालिका सी किरनें,
स्वप्न लोक को चली थकी सो नीद सेज पर जा गिरने
किन्तु विरहिणी के जीवन मे एक घडी विश्राम नही,
बिजली सी स्मृति चमक उठी तब, लगे जभी तम घन घिरने।

---

१ आदिसस्करण में क्ना है किन्तु पाण्डुलिपि में का" ह जो युक्त है।

सध्या नील सरोरुह से जो श्याम पराग बिखरते थे,
शैल घाटियो के अचल को वे धीरे से भरते थे,
तृण-गुल्मो से रोमाचित नग सुनते उस दुख की गाथा,
श्रद्धा की सूनी सासो से मिल कर जो स्वर भरते थे—

"जीवन मे सुख अधिक या कि दुख, मदाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ मे नखत अधिक, सागर मे या बुद्बुद हैं गिन दोगी ?
प्रतिबिम्बित हैं तारा तुम मे, सिंधु मिलन को जाती हो,
या दोनो प्रतिबिम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी !

इस अवकाश पटी पर जितने चित्र बिगडते बनते हैं,
उनम कितने रग भरे जो सुरधनु पट से छनते हैं,
किन्तु सकल अणु पल म घुलकर व्यापक नील शून्यता सा,
जगती का आवरण वेदना का धूमिल पट बुनते हैं।

दग्ध श्वास से आह न निकले सजल कुहू म आज यहाँ।
कितना स्नेह जला कर जलता ऐसा है लघु दीप कहाँ ?
बुझ न जाय वह साँझ-किरन सी दीप-शिखा इस कुटिया की,
शलभ समीप नही तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ।

आज सुनूँ केवल चुप होकर, कोकिल जो चाहे कह ले,
पर न परागो की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले,
इस पतझड की सूनी डाली और प्रतीक्षा की सध्या,
कामायनि ! तू हृदय कडा कर धीरे धीरे सब सह ले।

विरल डालियो के निकुज सब ले दुख के निश्वास रहे,
उस स्मृति का समीर चलता है मिलन कथा फिर कौन रहे ?
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध विना,
किन चरणो को धोयेंगे जो अश्रु पलक के पार बहे !

अरे मधुर हैं कष्ट पूर्ण भी जीवन की बीती घडियाँ !
जब निस्सबल होकर कोई जोड रहा बिखरी कडियाँ,
वही एक जो सत्य बना था चिर सुन्दरता मे अपनी,
छिपा कही, तब कैसे सुलझें उलझी सुख दुख की लडियाँ !

विस्मृत हो वे बीती बातें, अब जिनमे कुछ सार नही,
वह जलती छाती न रही अब वैसा शीतल प्यार नही !
सब अतीत मे लीन हो चली, आशा, मधु अभिलाषायें,
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नही !

वे आलिंगन एक पाश थे, स्मिति चपला थी, आज कहाँ ?
और मधुर विश्वास ! अरे वह पागल मन का मोह रहा !
वचित जीवन बना समर्पण यह अभिमान अकिंचन का,
कभी दे दिया था कुछ मैंने, ऐसा अब अनुमान रहा !

"मैं रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं,
पके फलों से पेट भरा है नींद नहीं खुलने वाली।"
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।

जल उठते हैं लघु जीवन के मधुर-मधुर वे पल हलके,
मुक्त उदास गगन के उर में छाले बन कर जा झलके,
दिवा श्रांत आलोक रश्मियाँ नील निलय में छिपीं कहीं,
करुण वही स्वर फिर उस संसृति में बह जाता है गल के।

प्रणय किरण का कोमल बंधन मुक्ति बना बढ़ता जाता,
दूर, किन्तु कितना प्रतिपल वह हृदय समीप हुआ जाता।
मधुर चाँदनी सी तंद्रा जब फैली मूर्च्छित मानस पर,
तब अभिन्न प्रेमास्पद उसमें अपना चित्र बना जाता।

कामायनी सकल अपना सुख स्वप्न बना सा देख रही,
युग-युग की वह विकल प्रतारित मिटी हुई बन लेख रही
जो कुसुमों के कोमल दल से कभी पवन पर अंकित था,
आज पपीहा की पुकार बन नभ में खिंचती रेख रही।

इडा अग्नि-ज्वाला सी आगे जलती है उल्लास भरी,
मनु का पथ आलोकित करती विपद नदी मे बनी तरी,
उन्नति का आरोहण, महिमा शैल शृ ग सी, श्रांति नही,
तीव्र प्रेरणा की धारा सी बही वही उत्साह भरी।

वह सुन्दर आलोक किरन सी हृदय भेदिनी दृष्टि लिये
जिधर देखती, खुल जाते हैं तम ने जो पथ बंद किये।
मनु की सतत सफलता की वह उदय विजयिनी तारा थी,
आश्रय की भूखी जनता ने निज श्रम के उपहार दिये।

मनु का नगर बसा है सुन्दर सहयोगी है सभी बने,
दृढ प्राचीरो मे मदिर के द्वार दिखाई पडे घने,
वर्षा धूप शिशिर म छाया के साधन सम्पन्न हुये,
खेतो मे हैं कृपक चलाते हल प्रमुदित श्रम स्वेद सने।

उधर धातु गलते, बनते हैं आभूपण 'औ' अस्त्र नये,
कही साहसी ले आते है मृगया के उपहार नये,
पुष्पावलिया चुनती है वन-कुसुमो की अध विकच कली,
गध चूर्ण था लोध्र कुसुम रज, जुटे नवीन प्रसाधन ये।

घन के आघातो से होती जो प्रचड ध्वनि रोप भरी,
तो रमणी के मधुर कण्ठ से हृदय मूर्च्छना उधर ढरी,
अपने वर्ग बना कर श्रम का करते सभी उपाय वहा,
उनकी मिलित प्रयत्न प्रथा से पुर की श्री दिखती निखरी।

देश काल का लाघव करते वे प्राणी चचल से हैं,
सुख साधन एकत्र कर रहे जो उनके सबल मे हैं
बढे ज्ञान व्यवसाय, परिश्रम बल की विस्तृत छाया मे,
नर प्रयत्न से ऊपर आवें जो कुछ वसुधा तल मे हैं।

सृष्टि बीज अकुरित प्रफुल्लित सफल हो रहा हरा भरा।
प्रलय बीच भी रक्षित मनु से वह फैला उत्साह भरा
आज स्वचेतन प्राणी अपनी कुशल कल्पनायें करके,
स्वावलम्ब की दृढ धरणी पर खडा, नही अब रहा डरा।

श्रद्धा उस आश्चर्य-लोक म मलय-बालिका सी चलती,
सिंहद्वार के भीतर पहुँची, खडे प्रहरियो को छलती,
ऊँचे स्तभो पर वलभीयुत बने रम्य प्रासाद वहा
धूप धूम सुरभित गृह, जिनम थी आलोक शिखा जलती।

स्वर्ण कलश शोभित भवनो से लगे हुए उद्यान बने,
ऋजु प्रशस्त पथ बीच-बीच म, कही लता के कुञ्ज घने
जिनमे दम्पति समुद विहरते, प्यार भरे दे गलबाही,
गूँज रहे थे मधुप रसीले, मदिरा-मोद पराग सने।

देवदारु के वे प्रलम्ब भुज, जिनमे उलझी वायु-तरग,
मुखरित आभूषण से कलरव करते सुन्दर बाल विहग
आश्रय देता वेणु वनो से निकली स्वर लहरी ध्वनि को,
नाग केसरो की क्यारी म अन्य सुमन भी थे बहुरग।

नव मडप मे सिंहासन सम्मुख कितने ही मच तहाँ,
एक ओर रक्खे हैं सुन्दर मढे चम से सुखद वहाँ,
आती है शैलेय अगुरु की धूम-गध आमोद भरी,
श्रद्धा सोच रही सपने मे 'यह लो मैं आ गयी कहाँ?'

और सामने देखा उसने निज दृढ कर मे चपक लिये,
मनु, वह क्रतुमय पुरुष! वही मुख सन्ध्या की लालिमा पिये।
मादक भाव सामने, सुन्दर एक चित्र सा कौन यहा,
जिसे देखने को यह जीवन मर-मर कर सौ बार जिये?

इडा ढालती थी वह आसव, जिसकी बुझती प्यास नही,
तृषित कठ को, पी-पी कर भी, जिसमे है विश्वास नही,
वह वैश्वानर की ज्वाला सी, मच वेदिका पर बैठी,
सौमनस्य बिखराती शीतल, जडता का कुछ भास नही।

मनु ने पूछा "और अभी कुछ करने को है शेष यहाँ?"
बोली इडा "सफल इतने मे अभी कम सविशेष कहा!
क्या सब साधन स्ववश हो चुके?" "नही अभी मैं रिक्त रहा—
देश बसाया पर उजडा है सूना मानस देश यहाँ।

सुन्दर मुख, आँखो की आशा, किन्तु हुए ये किसके हैं,
एक वाकपन प्रतिपद शशि का, भरे भाव कुछ रिस के हैं,
कुछ अनुरोध मान-मोचन का करता आंखो मे सकेत,
बोल अरी मेरी चेतनते! तू किसकी, ये किसके हैं?"

"प्रजा तुम्हारी, तुम्हे प्रजापति सबका ही गुनती हूँ मैं,
यह सन्देह भरा फिर कैसा नया प्रश्न सुनती हूँ मैं,"
"प्रजा नही, तुम मेरी रानी मुझे न अब भ्रम मे डालो,
मधुर मराली! कहो 'प्रणय के मोती अब चुनती हूँ मैं।'

मेरा भाग्य गगन धुँधला सा, प्राची पट सी तुम उसमें,
खुल कर स्वय अचानक कितनी प्रभापूर्ण हो छवि यश मे!
मैं अतृप्त आलोक भिखारी ओ प्रकाश-बालिके! बता,
कब डूबेगी प्यास हमारी इन मधु अधरो के रस मे?

ये सुख-साधन और रुपहली रातो की शीतल छाया,
स्वर सचरित दिशाएँ, मन है उन्मद और शिथिल काया
तब तुम प्रजा बनो मत रानी।" नर पशु कर हुँकार उठा,
उधर फैलती मदिर घटा सी अधकार की घन माया।

आलिंगन! फिर भय का क्रंदन! वसुधा जैसे काँप उठी!
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी!
अंतरिक्ष में हुआ रुद्र हुंकार भयानक हलचल थी,
अरे आत्मजा प्रजा! पाप की परिभाषा बन शाप उठी।

उधर गगन में क्षुब्ध हुई सब देव शक्तियाँ क्रोध भरी,
रुद्र-नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी,
अतिचारी था स्वयं प्रजापति, देव अभी शिव बने रहें!
नहीं, इसी से चढ़ी शिंजिनी अजगव पर प्रतिशोध भरी।

प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने नृत्य विकम्पित पद अपना,
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब होने जाती थी सपना!
आश्रय पाने को सब व्याकुल, स्वयं कलुष में मनु संदिग्ध,
फिर कुछ होगा यही समझ कर वसुधा का थर-थर कँपना!

काँप रहे थे प्रलयमयी क्रीडा से सब आशंकित जंतु,
अपनी-अपनी पड़ी सभी को, छिन्न स्नेह का कोमल तंतु,
आज कहाँ वह शासन था जो रक्षा का था भार लिये,
इड़ा क्रोध लज्जा से भर कर बाहर निकल चली थी किंतु।

देखा उसने, जनता व्याकुल राजद्वार कर रुद्ध रही,
प्रहरी के दल भी झुक आये उनके भाव विशुद्ध नहीं,
नियमन एक झुकाव दबा सा, टूटे या ऊपर उठ जाय!
प्रजा आज कुछ और सोचती अब तक जो अविरुद्ध रही!

कोलाहल मे घिर, छिप बैठे मनु, कुछ सोच विचार भरे,
द्वार बद लख प्रजा त्रस्त सी, कैसे मन फिर धैर्य धरे।
शक्ति तरगो मे आदोलन, रुद्र क्रोध भीषणतम था,
महानील-लोहित-ज्वाला का नृत्य सभी से उधर परे।

वह विज्ञान मयी अभिलाषा, पख लगा कर उडने की,
जीवन की असीम आशाएँ कभी न नीचे मुडने की,
अधिकारो की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
वर्गों की खाइ बन फैली कभी नही जो जुडने की।

असफल मनु कुछ क्षुब्ध हो उठे, आकस्मिक बाधा कैसी!
समझ न पाये कि यह हुआ क्या, प्रजा जुटी क्यो आ ऐसी!
परित्राण प्राथना विकल थी देव क्रोध से बन विद्रोह,
इडा रही जब वहा! स्पष्ट ही वह घटना कुचक्र जैसी।

"द्वार बद कर दो इनको तो अब न यहाँ आने देना,
प्रकृति आज उत्पात कर रही मुझको बस सोने देना"
कह कर यों मनु प्रगट क्रोध मे, किंतु डरे से थे मन मे,
शयन कक्ष मे चल सोचते जीवन का लेना-देना!

श्रद्धा काप उठी सपने मे, सहसा उसकी आख खुली,
यह क्या देखा मैने? कैसे वह इतना हो गया छली?
स्वजन स्नेह मे भय की कितनी आशकाएँ उठ आती,
अब क्या होगा, इसी सोच मे व्याकुल रजनी बीत चली।



संघर्ष

[illegible]

[illegible]

सग का नाम पाण्डुलिपि में युद्ध ह आन्सिस्करण के मुद्रण काल में परिवत्तन पूवक सघप हुआ ।

श्रद्धा का था स्वप्न किन्तु वह सत्य बना था,
इडा सकुचित उधर प्रजा मे क्षोभ घना था।

भौतिक विप्लव देख विकल वे थे घबराये,
राज शरण म त्राण प्राप्त करने को आये।

किन्तु मिला अपमान और व्यवहार बुरा था,
मनस्ताप से सब के भीतर रोष भरा था।

क्षुब्ध निरखते वदन इडा का पीला पीला,
उधर प्रकृति की रुकी नही थी ताडव लीला।

प्रागण मे थी भीड बढ रही सब जुड आये,
प्रहरी गण कर द्वार बद थे ध्यान लगाये।

रात्रि घनी कालिमा पटी मे दबी लुकी सी,
रह रह होती प्रगट मेघ की ज्योति झुकी सी।

मनु चिन्तित से पडे शयन पर सोच रहे थे,
क्रोध और शका के श्वापद नोच रहे थे।

"मैं यह प्रजा बना कर कितना तुष्ट हुआ था,
किंतु कौन कह सकता इन पर रुष्ट हुआ था।

कितने जव से भर कर इनका चक्र चलाया,
अलग अलग य एक हुई पर इनकी छाया।

मै नियमन के लिए बुद्धि बल से प्रयत्न कर,
इनको कर एकत्र, चलाता नियम बना कर।

मधप

किन्तु स्वयं भी क्या वह सब कुछ मानी चलूँ मैं,
तनिक न मैं स्वच्छंद, स्वर्ण सा सदा गलूँ मैं।

जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं,
क्या अधिकार नहीं कि कभी अविनीत रहूँ मैं?

श्रद्धा का अधिकार समर्पण दे न सका मैं,
प्रतिपल बढ़ता हुआ भला कब वहाँ रुका मैं।

इड़ा नियम-परतंत्र चाहती मुझे बनाना,
निर्वाधित अधिकार उसी ने एक न माना।

विश्व एक बंधन विहीन परिवर्त्तन तो है,
इसकी गति में रवि-शशि-तारे ये सब जो हैं —

रूप बदलते रहते वसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती।

तरल अग्नि की दौड़ लगी है सब के भीतर,
गल कर बहते हिम-नग सरिता लीला रच कर।

यह स्फुलिंग का नृत्य एक पल आया बीता।
टिकने को कब मिला किसी को यहाँ सुभीता?

कोटि कोटि नक्षत्र शून्य के महा विवर में,
लास रास कर रहे लटकते हुए अधर में।

उठती है पवनों के स्तर में लहरें कितनी,
यह असंख्य चीत्कार और परवशता इतनी।

यह नर्त्तन उन्मुक्त विश्व का स्पंदन द्रुततर
गतिमय होता चला जा रहा अपने लय पर।

कभी कभी हम वही देखते पुनरावर्त्तन,
उसे मानते नियम चल रहा जिससे जीवन।

रुदन हास बन किंतु पलक में छलक रहे हैं,
शत शत प्राण विमुक्ति खोजते ललक रहे हैं।

जीवन में अभिशाप शाप में ताप भरा है,
इस विनाश में सृष्टि कुंज हो रहा हरा है।

'विश्व बँधा है एक नियम से' यह पुकार सी,
फैल गयी है इसके मन में दृढ़ प्रचार सी।

नियम इन्होंने परखा फिर सुख साधन जाना,
वशी नियामक रहे, न ऐसा मैंने माना।

मैं चिर बंधन हीन मृत्यु सीमा उल्लंघन—
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ़ प्रण।

महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना,
चेतनता की तुष्टि वही है फिर सब सपना।"

प्रगतिशील मन रुका एक क्षण करवट लेकर,
देखा अविचल इड़ा खड़ी फिर सब कुछ देकर।

किन्तु आज ही अभी लौट कर फिर हो आयी,
कैसे यह साहस की मन मे बात समायी।

आह् प्रजापति होने का अधिकार यही क्या ?
अभिलाषा मेरी अपूर्ण ही सदा रहे क्या ?

मैं सबको वितरित करता ही सतत रहूँ क्या ?
कुछ पाने का यह प्रयास है पाप सहूँ क्या ?

तुमने भी प्रतिदान किया कुछ कह सकती हो ?
मुझे ज्ञान देकर ही जीवित रह सकती हो।

जो मैं हूँ चाहता वही जब मिला नही है,
तब लौटा लो व्यर्थ बात जो अभी कही है।"

× × ×

"इडे! मुझे वह वस्तु चाहिए जो मै चाहूँ,
तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न तो वृथा हूँ।

तुम्हे देख कर सब बंधन ही टूट रहा अब,
शासन या अधिकार चाहता हूँ न तनिक अब।

देखो यह दुर्धर्ष प्रकृति का इतना कंपन।
मेरे हृदय समक्ष क्षुद्र है इसका स्पंदन।

इस कठोर ने प्रलय खेल है हँस कर खेला।
किन्तु आज कितना कोमल हो रहा अकेला ?

तुम कहती हो विश्व एक लय है, मैं उसमे,
लीन हो चलूँ ? किन्तु धरा है क्या सुख इसमे।

क्रन्दन का निज अलग एक आकाश बना लूँ,
उस रोदन मे अट्टहास हो तुमको पा लूँ।

फिर से जलनिधि उछल बहे मर्यादा बाहर।
फिर झंझा हो वज्र प्रगति से भीतर बाहर।

फिर डगमग हो नाव लहर ऊपर से भागे।
रवि शशि तारा सावधान हो चौंकें जागे।

किंतु पास ही रहो बालिके। मेरी हो तुम,
मैं हूँ कुछ खिलवाड नही जो अब खेलो तुम ?"

"आह न समझोगे क्या मेरी अच्छी बातें,
तुम उत्तेजित होकर अपना प्राप्य न पाते।

प्रजा क्षुब्ध हो शरण मागती उधर खडी है,
प्रकृति सतत आतक विकपित घडी घडी है।

सावधान। मैं शुभाकाक्षिणी और कहूँ क्या ?
कहना था कह चुकी और अब यहा रहूँ क्या ?"

"मायाविनि ! बस पाली तुमने ऐसे छुट्टी,
लडके जैसे खेलो म रूर लेते पुट्टी।

मूर्तिमती अभिशाप बनी मी सम्मुख आयी,
तुमने ही सघप भूमिका मुझे दिखायी।

रुधिर भरी वेदियाँ भयकरी उनम ज्वाला।
विनयन का उपचार तुम्ही से सीख निकाला।

चार वण बन गये वँटा श्रम उनका अपना,
शस्त्र यत्र बन चले, न देखा जिनका सपना।

आज शक्ति का खेल खेलने मे आतुर नर,
प्रकृति संग सघप निरतर अब कैसा डर ?

वाधा नियमो की न पास म अब आने दो,
इस हताश जीवन मे क्षण सुख मिल जाने दो।

राष्ट्र स्वामिनी ! यह लो सब कुछ वैभव अपना,
केवल तुमको सब उपाय से कह लूँ अपना।

यह सारस्वत देश या कि फिर ध्वस हुआ सा।
समझो, तुम हो अग्नि और यह सभी धुआँ सा ?"

"मैंने जो मनु ! किया उसे मत या कह भूलो !
तुमको जितना मिला उसी में या मत फूलो !

प्रकृति सग सघर्ष सिखाया तुमको मैंने,
तुमको केन्द्र बनाकर अनहित किया न मैंने।

मैंने इस बिखरी विभूति पर तुमको स्वामी,
सहज बनाया, तुम अब जिसके अतर्यामी।

किंतु आज अपराध हमारा अलग खडा है,
हा मे हा न मिलाऊँ तो अपराध बडा है।

मनु! देखो यह भ्रात निशा अब बीत रही है,
प्राची मे नव उषा तमस को जीत रही है।

अभी समय है मुझ पर कुछ विश्वास करो तो,
बनती है सब बात तनिक तुम धैर्य धरो तो।"

और एक क्षण वह प्रमाद का फिर से आया,
इधर इडा ने द्वार ओर निज पैर बढाया।

किंतु रोक ली गयी भुजाओ से मनु की वह,
निस्सहाय हा दीन दृष्टि देखती रही वह।

"यह सारस्वत देश तुम्हारा तुम हो रानी!
मुझको अपना अस्त्र बना करती मनमानी।

यह छल चलने मे अब पगु हुआ सा समझो,
मुझको भी अब मुक्त जाल से अपने समझो।

शासन की यह प्रगति सहज ही अभी रुकेगी,
क्यो कि दासता मुझसे अब तो हो न सकेगी।

मै शासक, मै चिर स्वतत्र, तुम पर भी मेरा—
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा।

छिन्न भिन्न अन्यथा हुई जाती है पल मे,
सकल व्यवस्था अभी जाय डूबती अतल म।

देख रहा हूँ वसुधा का अति भय से कपन,
और सुन रहा हूँ नभ का यह निमम क्रदन।

किंतु आज तुम वदी हो मेरी बाहो मे,
मेरी छाती मे," फिर सब डूबा आहो म।

सिंह द्वार अरराया जनता भीतर आयी,
"मेरी रानी" उसन जो चीत्कार मचायी।

अपनी दुबलता म मनु तब हाफ रहे थे,
स्खलन विकपित पद वे अब भी काप रहे थे।

सजग हुए मनु वज्र खचित ले राज दड तब,
और पुकारा "तो सुन लो जो कहता हूँ अब—

"तुम्हे तृप्ति-कर सुख के साधन सकल बताया,
मैंने ही श्रम भाग किया फिर वर्ग बनाया।

अत्याचार प्रकृति कृत हम सब जो सहते है,
करते कुछ प्रतिकार न अब हम चुप रहते है।

आज न पशु हैं हम, या गूँगे काननचारी,
यह उपकृति क्या भूल गये तुम आज हमारी।"

वे बोले सक्रोध मानसिक भीषण दुख से,
"देखो पाप पुकार उठा अपने ही मुख से।

तुमने योगक्षेम से अधिक सचय वाला,
लोभ सिखा कर इस विचार सकट मे डाला।

हम सवेदन शील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बना कर निज कृत्रिम दुख।

प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रो से सब की छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

और इडा पर यह क्या अत्याचार किया है?
इसीलिए तू हम सब के बल यहा जिया है?

आज बदिनी मेरी रानी इडा यहाँ है?
ओ यायावर! अब तेरा निस्तार कहाँ है?"

"तो फिर मै हूँ आज अकेला जीवन रण में,
प्रकृति और उसके पुतलो के दल भीषण में।

आज साहसिक का पौरुष निज तन पर लेखें,
राजदड को वज्र बना सा सचमुच देखें।"

यो कह मनु ने अपना भीषण अस्त्र सम्हाला,
देव 'आग' ने उगली त्यो ही अपनी ज्वाला।

छूट चले नाराच धनुष से तीक्ष्ण नुकीले,
टूट रहे नभ धूमकेतु अति नीले पीले।

अधड था बढ रहा, प्रजा दल सा झुंझलाता,
रण वर्षा में शस्त्रा सा बिजली चमकाता।

किंतु क्रूर मनु वारण करते उन बाणो को।
बढे कुचलते हुए खड्ग से जन प्राणा को।

ताडव में थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकल थे,
नियति विकपण मयी, त्रास से सब व्याकुल थे।

मनु फिर रहे अलात चक्र से उस घन तम मे,
वह रक्तिम उन्माद नाचता कर निमम में।

उठा तुमुल रण नाद, भयानक हुई अवस्था।
बढा विपक्ष समूह मौन पददलित व्यवस्था।

आहत पीछे हटे, स्तम्भ से टिक कर मनु ने,
श्वास लिया, टकार किया दुलक्ष्यी धनु ने।

बहते विकट अधीर विषम उचास वात थे,
मरण पर्व था, नेता आकुलि औ' किलात थे।

ललकारा, 'बस अब इसको मत जाने देना'
किंतु सजग मनु पहुँच गये कह 'लेना लेना'।

"कायर! तुम दोनो ने ही उत्पात मचाया,
अरे, समझ कर जिनको अपना था अपनाया।

तो फिर आओ देखो कैसे होती है बलि,
रण यह, यज्ञ पुरोहित! ओ किलात औ' आकुलि!"

और धराशायी थे असुर पुरोहित उस क्षण,
इडा अभी कहती जाती थी "बस रोको रण —

भीषण जन संहार आप ही तो होता है,
ओ पागल प्राणी तू क्यो जीवन खोता है।

क्यो इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले!
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।"

किंतु सुन रहा कौन! धधकती वेदी ज्वाला,
सामूहिक बलि का निकला था पथ निराला।

रक्तोन्मद मनु का न हाथ अब भी रुकता था,
प्रजा पक्ष का भी न किंतु साहस झुकता था।

वही धर्षिता खड़ी इडा सारस्वत रानी,
व प्रतिशोध अधीर रक्त बहता बन पानी।

धूमकेतु सा चला रुद्र नाराच भयंकर,
लिए पूँछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर।

अंतरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं।

और गिरीं मनु पर मुमूर्षु वे गिरे वहीं पर
रक्त नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर।

निर्वेद

निवेदक

[illegible] ([illegible])

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

वह सारस्वत नगर पड़ा था
क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना,
जिसके ऊपर विगत कर्म का
विष विषाद आवरण तना।

उल्का धारी प्रहरी से ग्रह
तारा नभ में टहल रहे,
वसुधा पर यह होता क्या है
अणु अणु क्यों है मचल रहे?

जीवन में जागरण सत्य है
या सुषुप्ति ही सीमा है,
आती है रह रह पुकार सी
'यह भव रजनी भीमा है।'

निशिचारी भीषण विचार के
पंख भर रहे सर्राटे,
सरस्वती थी चली जा रही
खींच रही सी सन्नाटे।

निर्वेद ॥ ११५ ॥

अभी घायलो की सिसकी मे
जाग रही थी मम व्यथा,
पुर लक्ष्मी खगरव के मिस कुछ
कह उठती थी करुण कथा।

कुछ प्रकाश धूमिल सा उसके
दीपो से था निकल रहा,
पवन चल रहा था रुक रुक कर
खिन्न भरा अवसाद रहा।

भय मय मौन निरीक्षक सा था
सजग सतत चुपचाप खड़ा,
अधकार का नील आवरण
दृश्य जगत से रहा बडा।

मडप के सोपान पडे थे
सूने, कोई अन्य नही,
स्वय इडा उस पर बैठी थी
अग्नि शिखा सी धधक रही।

शून्य राज चिन्हो से मन्दिर
बस समाधि सा रहा खडा,
क्योकि वही घायल शरीर वह
मनु का तो था रहा पडा।

इडा ग्लानि से भरी हुई बस
सोच रही बीती बातें,
घृणा और ममता मे ऐसी
बीत चुकी कितनी रातें।

नारी का वह हृदय! हृदय मे
सुधा सिन्धु लहरें लेता,
बाडव ज्वलन उसी मे जलकर
कचन सा जल रँग देता।

मधु पिगल उस तरल अग्नि मे
शीतलता ससृति रचती,
क्षमा और प्रतिशोध! आह रे
दोनो की माया नचती।

"उसने स्नेह किया था मुझसे
हाँ अनन्य वह रहा नहीं।
सहज लब्ध थी वह अनन्यता
पड़ी रह गयी जहाँ कहीं।

बाधाओं का अतिक्रमण कर
जो अबाध हो दौड़ चले,
वही स्नेह अपराध हो उठा
जो सब सीमा तोड़ चले।

"हाँ अपराध किन्तु वह कितना
एक अकेले भीम बना,
जीवन के कोने से उठ कर
इतना आज असीम बना।

और प्रचुर उपकार सभी वे
सहृदयता की सब माया,
शून्य शून्य था? केवल उसमें
खेल रही थी छल छाया?

"कितना दुखी एक परदेशी
वन, उस दिन जो आया था,
जिसके नीचे धरा नही थी
शून्य चतुर्दिक छाया था।

वह शासन का सूत्रधार था
नियमन का आधार बना,
अपने निर्मित नव विधान से
स्वय दड साकार बना।

"सागर की लहरो से उठ कर
शैल शृ ग पर सहज चढा,
अप्रतिहत गति, सस्थानो से
रहता था जो सदा बढा।

आज पडा है वह मुमूपु सा
वह अतीत सब सपना था,
उसके ही सब हुये पराये
सबका ही जो अपना था।

"किन्तु, वही मेरा अपराधी
जिसका वह उपकारी था,
प्रकट उसी से दोष हुआ है
जो सब का गुणकारी था।

अरे सग अकुर के दोनों
पल्लव हैं ये भले बुरे,
एक दूसरे की सीमा हैं
क्यों न युगल को प्यार करें?

'अपना हो या औरों का सुख
बढा कि बस दुख बना वही,
कौन बिन्दु है रुक जाने का
यह जैसे कुछ ज्ञात नहीं।

प्राणी निज भविष्य चिन्ता म
वर्तमान का सुख छोडे,
दौड चला है बिखराता सा
अपने ही पथ मे रोडे।

"इसे दड देने में बैठी
या करती रखवाली मैं,
यह कैसी है विकट पहेली
कितनी उलझन वाली मैं?

एक कल्पना है मीठी यह
इससे कुछ सुन्दर होगा,
हाँ कि, वास्तविकता से अच्छी
सत्य इसी को वर देगा।"

चौंक उठी अपने विचार से
कुछ दूरागत ध्वनि सुनती,
इस निस्तब्ध निशा मे कोई
चली आ रही है कहती—

"अरे बता दो मुझे दया कर
कहाँ प्रवासी है मेरा?
उसी बावले से मिलने को
डाल रही हूँ मैं फेरा।

निर्वेद ॥ ६२१ ॥

रूठ गया था अपनेपन से
अपना सकी न उसको मैं,
वह तो मेरा अपना ही था
भला मनाती किसको मैं।

यही भूल अब शूल सदृश हो
साल रही उर मे मेरे,
कैसे पाऊँगी उसको मैं
कोई आकर कह दे रे।"

इडा उठी, दिख पड़ा राजपथ
धुँधली सी छाया चलती,
वाणी मे थी करुण वेदना
वह पुकार जैसे जलती।

शिथिल शरीर वसन विशृंखल
कबरी अधिक अधीर खुली,
छिन्नपत्र मकरन्द लुटी सी
ज्यो मुरझायी हुई कली।

नव कोमल अवलम्ब साथ में
वय किशोर उँगली पकड़े,
चला आ रहा मौन धैर्य सा
अपनी माता को जकड़े।

थके हुए थे दुखी बटोही
वे दोनों ही माँ बेटे,
सो रहे थे भूले मनु को
जो घायल हो कर लेटे।

इड़ा आज कुछ द्रवित हो रही
दुखियों को देखा उसने,
पहुँची पास और फिर पूछा
"तुमको बिसराया किसने?

इस रजनी में कहाँ भटकती
जाओगी तुम बोलो तो,
बैठो आज अधिक चंचल हूँ
व्यथा गाँठ निज खोलो तो।

जीवन की लंबी यात्रा में
खोये भी हैं मिल जाते,
जीवन है तो कभी मिलन है
कट जाती दुख की रातें।"

श्रद्धा रुकी कुमार श्रान्त था
मिलता है विश्राम यहीं
चली इडा के साथ जहाँ पर
वन्हि शिखा प्रज्वलित रही।

सहसा धधकी वेदी ज्वाला
मंडप आलोकित करती,
कामायनी देख पायी कुछ
पहुँची उस तक डग भरती।

और वही मनु! घायल सचमुच
तो क्या सच्चा स्वप्न रहा?
आह प्राण प्रिय! यह क्या? तुम या!"
घुला हृदय बन नीर बहा।

इडा चकित, श्रद्धा आ बैठी
वह थी मनु को सहलाती,
अनुलेपन सा मधुर स्पर्श था
व्यथा भला क्यों रह जाती ?

उस मूर्च्छित नीरवता मे कुछ
हलके से स्पन्दन आये,
आँखें खुली चार कोनो म
चार बिन्दु आकर छाये।

उधर कुमार देखता ऊँचे
मन्दिर, मडप, वेदी को,
यह सब क्या है नया मनोहर
कैसे ये लगते जो को ?

माँ ने कहा अरे आ तू भी
देख पिता हैं पडे हुए,'
'पिता ! आ गया लो' यह कहते
उसके रोएँ खडे हुए।

'माँ जल दे, कुछ प्यासे होगे
क्या बैठी कर रही यहाँ?
मुखर हो गया सूना मडप
यह सजीवता रही कहाँ?

आत्मीयता घुली उस घर मे
छोटा सा परिवार बना,
छाया एक मधुर स्वर उस पर
श्रद्धा का सगीत बना।

तुमुल कोलाहल कलह मे
मैं हृदय की बात रे मन।

विकल होकर नित्य चचल,
खोजती जब नीद के पल,
चेतना थक सी रही तब,
मैं मलय की बात रे मन।

चिर विषाद विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर वन की,
मैं उषा सी ज्योति रेखा,
कुसुम विकसित प्रात रे मन।

जहा मरु ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती,
उन्ही जीवन घाटिया की,
मै सरस बरसात रे मन।

पवन की प्राचीर मे रुक,
जला जीवन जी रहा झुक,
इस झुलझते विश्व दिन की,
मै कुसुम ऋतु रात रे मन।

चिर निराशा नीरधर से,
प्रतिच्छायित अश्रु सर मे,
मधुप मुखर मरद मुकुलित,
मै सजल जलजात रे मन।

निर्वेद ॥६२७॥

सजीवन रस से बन घुले,
उधर प्रभात हुआ प्राची मे
मनु के मुद्रित नयन खुले।

श्रद्धा का अवलम्ब मिला फिर
कृतज्ञता से हृदय भरे,
मनु उठ बैठे गद्‌गद होकर
बोले कुछ अनुराग भरे।

"श्रद्धा! तू आ गयी भला तो
पर क्या मैं था यही पडा!
वही भवन, वे स्तम्भ, वेदिका!
बिखरी चारो ओर घृणा।

आँख बन्द कर लिया क्षोभ से
"दूर दूर ले चल मुझको,
इस भयावने अधकार मे
खो दूँ कही न फिर तुझको।

हाथ पकड ले चल सकता हूँ
हा कि यही अवलम्ब मिले,
वह तू कौन। परे हट, श्रद्धे।
आ कि हृदय का कुसुम खिले।"

श्रद्धा नीरव सिर सहलाती
आखो मे विश्वास भरे
माना कहती 'तुम मेरे हो
अब क्यो कोई वृथा डरे?"

जल पीकर कुछ स्वस्थ हुए से
लगे बहुत धीरे कहने,
"ले चल इस छाया के बाहर
मुझको दे न यहा रहने।

मुक्त नील नभ के नीचे या
कही गुहा मे रह लेंगे
अरे झेलता ही आया हूँ
जो आवेगा सह लेंगे।"

"ठहरो कुछ तो बल आने दो
लिवा चलूँगी तुरन्त तुम्हें,
इतने क्षण तक" श्रद्धा बोली
"रहने देगी क्या न हमें ?"

इड़ा संकुचित उधर खड़ी थी
यह अधिकार न छीन सकी,
श्रद्धा अविचल, मनु अब बोले
उनकी वाणी नहीं रुकी।

"जब जीवन में साध भरी थी
उच्छृंखल अनुरोध भरा,
अभिलाषाएँ भरी हृदय में
अपनेपन का बोध भरा।

मैं था, सुन्दर कुसुमों की वह
सघन सुनहली छाया थी,
मलयानिल की लहर उठ रही
उल्लासों की माया थी।

उपा अरुण प्याला भर लाती
सुरभित छाया के नीचे,
मेरा यौवन पीता सुख से
अलसाई आँखें मीचे।

ले मकरन्द नया चू पडती
शरद प्रात की शेफाली,
बिखराती सुख ही, सध्या की
सुन्दर अलके घुँघराली।

सहसा अधकार की आँधी
उठी क्षितिज से वेग भरी,
हलचल से विक्षुब्ध विश्व, थी
उद्वेलित मानस लहरी।

व्यथित हृदय उस नीले नभ मे
छायापथ सा खुला तभी
अपनी मगलमयी मधुर स्मिति
कर दी तुमने देवि! जभी।

निर्वेद ॥ ६३१ ॥

दिव्य तुम्हारी अमर अमिट छवि
लगी खेलने रंग रली,
नवल हेम लेखा सी मेरे
हृदय निकष पर खिंची भली।

अरुणाचल मन मंदिर की वह
मुग्ध माधुरी नव प्रतिमा,
लगी सिखाने स्नेह-मयी सी
सुन्दरता की मृदु महिमा।

उस दिन तो हम जान सके थे
सुन्दर किसको हैं कहते!
तब पहचान सके, किसके हित
प्राणी यह दुख सुख सहते।

जीवन कहता यौवन से कुछ
देखा तू ने मतवाले'
यौवन कहता 'साँस लिये चल
कुछ अपना सम्बल पाले!'

हृदय बन रहा था सीपी सा
तुम स्वाती की बूँद बनी,
मानस शतदल झूम उठा जब
तुम उसमे मकरन्द बनी।

तुमने इस सूखे पतझड मे
भर दी हरियाली कितनी,
मैंने समझा मादकता है
तृप्ति बन गयी वह इतनी।

विश्व, कि जिसमे दुख की आधी
पीडा की लहरी उठती
जिसमे जीवन मरण बना था
बुदबुद की माया नचती।

वही शान्त उज्ज्वल मङ्गल सा
दिखता था विश्वास भरा,
वर्षा के कदम्ब कानन सा
सृष्टि विभव हो उठा हरा।

भगवति ! वह पावन मधु धारा !
देख अमृत भी ललचाये,
वही, रम्य सौंदय्य शैल से
जिसमें जीवन घुल जाये।

मध्या अब ले जाती मुझमें
ताराओं की अकथ कथा,
नींद सहज ही ले लेती थी
सारे श्रम की विकल व्यथा।

सफल कुतूहल और कल्पना
उन चरणों से उलझ पड़ी,
कुसुम प्रसन्न हुए हँसते से
जीवन की वह धन्य घड़ी।

स्मिति मधुराका थी, श्वासों से
पारिजात कानन खिलता,
गति मरन्द-मन्थर मलयज सी
स्वर में वेणु कहाँ मिलता!

श्वास पवन पर चढ कर मेरे
दूरागत वशी रव सी,
गूँज उठी तुम, विश्व कुहर मे
दिव्य रागिनी अभिनव सा।

जीवन जलनिधि के तल से जो
मुक्ता थे वे निकल पडे,
जग मगल सगीत तुम्हारा
गाते मेरे रोम खडे।

आशा की आलोक किरन से
कुछ मानस से ले मेरे,
लघु जलधर का सृजन हुआ था
जिसको शशिलेखा घेरे—

उस पर बिजली की माला सी
झूम पडी तुम प्रभा भरी,
और जलद वह रिमझिम बरसा
मन वनस्थली हुई हरी।

नही पा सका हूँ मै जैसे
जो तुम देना चाह रही,
क्षुद्र पात्र! तुम उसमे कितनी
मधु धारा हो ढाल रही।

सब बाहर होता जाता है
स्वगत उसे मैं कर न सका
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका।

यह कुमार मेरे जीवन का
उच्च अश, कल्याण कला!
कितना बडा प्रलोभन मेरा
हृदय स्नेह बन जहा ढला।

सुखी रहे, सब सुखी रहे बस
छोडो मुझ अपराधी को,"
श्रद्धा देख रही चुप मनु के
भीतर उठती आधी को।

दिन वीता रजनी भी आयी
तद्रा निद्रा सग लिए,
इडा कुमार समीप पडी थी
मन की दवी उमग लिये।

श्रद्धा भी कुछ खिन थकी सी
हाथो को उपधान किए,
पडी सोचती मन ही मन कुछ,
मनु चुप सब अभिशाप पिये—

सोच रहे थे, "जीवन सुख है ?
ना, यह विकट पहेली है,
भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल से
कितनी व्यथा न झेली है ?

यह प्रभात की स्वर्ण किरन सी
झिलमिल चचल सी छाया
श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे
यह मुख या कलुपित काया।

और शत्रु सब, ये कृतघ्न फिर
इनका क्या विश्वास करूँ,
प्रतिहिंसा प्रतिशोध दबा कर
मन ही मन चुपचाप मरूँ।

श्रद्धा के रहते यह संभव
नहीं कि कुछ कर पाऊँगा,
तो फिर शांति मिलेगी मुझको
जहाँ, खोजता जाऊँगा।"

जगे सभी जब नव प्रभात में
देखें तो मनु वहाँ नहीं,
'पिता कहाँ' कह खोज रहा सा
वह कुमार अब शांत नहीं।

इड़ा आज अपने को सबसे
अपराधी है समझ रही,
कामायनी मौन बैठी सी
अपने में ही उलझ रही।

दर्शन

वह चन्द्रहीन थी एक रात,
जिसमे सोया था स्वच्छ प्रात,

उजले उजले तारक झलमल,
प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल,
धारा वह जाती बिम्ब अटल,
खुलता था धीरे पवन पटल,

चुपचाप खडी थी वृक्ष पात,
सुनती जैसे कुछ निजी बात।

धूमिल छायाएँ रही घूम
लहरी पैरो को रही चूम,

"माँ। तू चल आयी दूर इधर,
सध्या कब की चल गयी उधर,
इस निजन मे अब क्या सुन्दर—
तू देख रही, हा बस चल घर

उसमे से उठता गध धूम"
श्रद्धा ने वह मुख लिया चूम।

"माँ ! क्यों तू है इतनी उदास,
क्या मैं हूँ तेरे नहीं पास,

तू कई दिनों से यों चुप रह,
क्या सोच रही है ? कुछ तो कह,
यह कैसा तेरा दुःख दुसह,
जो बाहर भीतर देता दह,

लेती ढीली सी भरी साँस,
जैसे होती जाती हताश।'

वह बोली "नील गगन अपार
जिसमें अवनत घन सजल भार,

आते जाते, सुख, दुख, दिशि, पल,
शिशु सा आता कर खेल अनिल,
फिर झलमल सुन्दर तारक दल,
नभ रजनी में जुगनू अविरल,

यह विश्व अरे कितना उदार,
मेरा गृह रे उन्मुक्त द्वार।

यह लोचन गोचर सकल लोक,
ससृति के कल्पित हृप शोक,

भावोदधि से किरनो के मग,
स्वाती कन से बन भरते जग,
उत्थान पतन मय सतत सजग
झरने झरते आलिंगित नग,

उलझन की मीठी रोक टोक,
यह सब उसकी है नोक-झोक।

जग, जगता आखें किये लाल,
सोता ओढे तम नीद जाल,

सुरधनु सा अपना रग बदल,
मृति, ससृति, नति, उन्नति मे ढल,
अपनी सुषमा मे यह झलमल,
इस पर खिलता झरता उडुदल,

अवकाश सरोवर का मराल,
कितना सुन्दर कितना विशाल।

इसवे स्तर-स्तर मे मौन शान्ति,
शीतल अगाध है, ताप भ्रान्ति,

परिवर्तन मय यह चिर मङ्गल,
मुसक्याते इसमे भाव सकल,
हँसता है इसमे कालाहल,
उल्लास भरा सा अन्तस्तल,

मेरा निवास अति मधुर कान्ति,
यह एक नीड है सुखद शान्ति।'

"अम्बे फिर क्यो इतना विराग,
मुझ पर न हुई क्यो सानुराग?"

पीछे मुड श्रद्धा ने देखा,
वह इडा मलिन छवि की रेखा,
ज्यो राहुग्रस्त सी शशि लेखा,
जिस पर विषाद की विष रेखा,

कुछ ग्रहण कर रहा दीन त्याग
सोया जिसका है भाग्य, जागे।

बोली "तुमसे कैसे विरक्ति,
तुम जीवन की अन्धानुरक्ति,

मुझसे बिछुड़े को अवलम्बन
देकर तुमने रक्खा जीवन,
तुम आशामयि ! चिर आकर्षण,
तुम मादकता की अवनत घन,

मनु के मस्तक की चिर अतृप्ति
तुम उत्तेजित चचला शक्ति !

मैं क्या दे सकती तुम्हे मोल
यह हृदय ! अरे दो मधुर बोल,

मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ,
मै पाती हूँ खो देती हूँ,
इससे ले उसको देती हूँ,
मै दुख को सुख कर लेती हूँ,

अनुराग भरी हूँ मधुर घोल
चिर विस्मृत सी हूँ रही डोल।

तो क्या मैं भ्रम में थी नितान्त
संहार-वध्य असहाय दान्त,

प्राणी विनाश मुख में अविरल
चुपचाप चलें होकर निर्बल!
संघर्ष कर्म का मिथ्या बल
ये शक्ति चिन्ह, ये यज्ञ विफल,

भय की उपासना! प्रणति भ्रान्त!
अनुशासन की छाया अशान्त!

जिस पर मैंने छीना सुहाग,
हे देवि! तुम्हारा दिव्य राग,

मैं आज अकिंचन पाती हूँ,
अपने को नहीं सुहाती हूँ,
मैं जो कुछ भी स्वर गाती हूँ,
वह स्वयं नहीं सुन पाती हूँ,

दो क्षमा, न दो अपना विराग
सोयी चेतनता उठ जाग!'

"है रुद्र रोष अब तक अशान्त,
श्रद्धा बोली, बन विषम ध्वान्त।

सिर चढ़ी रही! पाया न हृदय,
तू विकल कर रही है अभिनय,
अपनापन चेतन का सुखमय,
खो गया, नहीं आलोक उदय।

सब अपने पथ पर चलें श्रान्त,
प्रत्येक विभाजन बना भ्रान्त।

जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह,

ओ तर्कमयी! तू गिने लहर,
प्रतिबिम्बित तारा पकड़ ठहर,
तू रुक रुक देखे आठ पहर,
वह जड़ता की स्थिति भूल न कर,

सुख दुख का मधुमय धूप छाँह,
तू ने छोड़ी यह सरल राह।

चेतनता का भौतिक विभाग—
कर, जग को बाट दिया विराग,

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत शत,
कण विरह मिलन मय नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत,

तल्लीन पूर्ण है एक राग,
झङ्कृत है केवल 'जाग जाग!'

मैं लोक अग्नि मे तप नितान्त
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त,

तू क्षमा न कर कुछ चाह रही,
जलती छाती की दाह रही,
तो ले ले जो निधि पास रही,
मुझको बस अपनी राह रही,

रह सौम्य! यही, हो सुखद प्रान्त,
विनिमय कर दे कर कर्म कान्त।

तुम दोनो देखो राष्ट नीति,
शासक वन फलाओ न भीति

मै अपने मनु को खोज चली
सरिता मरु नग या कुज गली,
वह भोला इतना नही छली।
मिल जायेगा, हूँ प्रेम पली,

तब देखूँ कैसी चली रीति,
मानव! तेरी हो सुयश गीति।"

बोला बालक "ममता न तोड
जननी! मुझसे मुँह यो न मोड,

तेरी आज्ञा का कर पालन
वह स्नेह सदा करता लालन—
मैं मरूँ जिऊँ पर छुटे न प्रन,
वरदान बने मेरा जीवन।

जो मुझको तू यो चली छोड
तो मुझे मिले फिर यही क्रोड।'

'हे सौम्य ! इडा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा भार,

यह तकमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कम अभय,
इसका तू सब सताप निचय,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय,

सब की समरसता कर प्रचार
मेरे सुत ! सुन मा का पुकार !"

"अति मधुर वचन विश्वास मूल,
मुझको न कभी ये जायें भूल,

हे देवि ! तुम्हारा स्नेह प्रबल,
बन दिव्य श्रेय-उदगम अविरल,
आकर्षण घन सा वितरे जल,
निर्वासित हो सताप सकल,

कह इडा प्रणत ले चरण धूल,
पकडा कुमार कर मृदुल फूल।

वे तीनो ही क्षण एक मौन,
विस्मृत से थे, हम कहाँ, कौन ।

विच्छेद बाह्य, था आलिंगन—
वह हृदया का, अति मधुर मिलन,
मिलते आहत होकर जलकन,
लहरो का यह परिणत जीवन,

दो लौट चले पुर ओर मौन,
जब दूर हुए तब रहे दो न,

निस्तब्ध गगन था दिशा शान्त ।
वह था असीम का चित्र कान्त ।

कुछ शून्य बिन्दु उर के ऊपर,
व्यथिता रजनी के श्रम सीकर,
झलके कब से पर पडे न झर,
गभीर मलिन छाया भू पर,

सरिता तट तरु का क्षितिज प्रान्त,
केवल बिखेरता दीन ध्वान्त ।

शत शत तारा मंडित अनन्त
कुसुमों का स्तबक खिला वसन्त

हँसता ऊपर का विश्व मधुर
हलके प्रकाश से पूरित उर
बहती माया सरिता ऊपर
उठती किरणों की लोल लहर

निचले स्तर पर छाया दुरन्त
आती चुपके जाती तुरन्त।

सरिता का वह एकान्त कूल,
था पवन हिंडोले रहा झूल

धीरे धीरे लहरों का दल
तट से टकरा होता ओझल,
छप छप का होता शब्द विरल
थर थर कँप रहती दीप्ति तरल,

संसृति अपने में रही भूल
वह गंध विधुर अम्लान फूल।

तब सरस्वती सा फेंक साँस,
श्रद्धा ने देखा आस पास,

थे चमक रहे दो खुले नयन
ज्यो शिलालग्न अनगढे रतन
यह क्या तम मे करता सनसन ?
धारा का ही क्या यह निस्वन !

ना, गुहा लतावृत एक पास,
कोई जीवित ले रहा सास !

वह निजन तट था एक चित्र,
कितना सुन्दर, कितना पवित्र ?

कुछ उन्नत थे वे शैल शिखर,
फिर ऊँचा श्रद्धा का सिर,
वह लोक अग्नि मे तप गल कर
थी ढली स्वर्ण प्रतिमा बन कर

मनु ने देखा कितना विचित्र !
वह मातृमूर्ति थी विश्वमित्र !

बोले "रमणी तुम नहीं आह!
जिसके मन में हो भरी चाह,

तुमने अपना सब कुछ खोकर,
वंचिते! जिसे पाया रोकर
मैं भगा प्राण जिनसे लेकर,
उसको भी, उन सब को देकर,

निर्दय मन क्या न उठा कराह!
अद्‌भुत है तव मन का प्रवाह!

ये श्वापद से हिंसक अधीर
कोमल शावक वह बाल वीर

सुनता था वह वाणी शीतल,
कितना दुलार कितना निर्मल?
कैसा कठोर है तव हृत्तल?
वह इडा कर गयी फिर भी छल

तुम बनी रही हो अभी धीर
छुट गया हाथ से आह तीर,'

"प्रिय! अब तक हो इतने सशक,
देकर कुछ कोई नहीं रक,

यह विनिमय है या परिवतन,
बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन,
अपराध तुम्हारा यह बधन—
लो बना मुक्ति, अब छोड स्वजन—

निवासित तुम, क्यो लगे डक ?
दो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अक।"

"तुम देवि! आह कितनी उदार,
यह मातृमूर्ति है निर्विकार,

हे सवमगले! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती,
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा निलय मे हो रहती,

मैं भूला हूँ तुमको निहार—
नारी सा ही! वह लघु विचार।

मैं इस निर्जन तट में अधीर,
सह भूख व्यथा तीखा समीर,

हाँ भाव चक्र में पिस पिस कर
चलता ही आया हूँ बढ़ कर
इनके विकार सा ही बन कर,
मैं शून्य बना सत्ता खोकर,

लघुता मत देखो वक्ष चीर,
जिसमें अनुशय बन घुसा तीर।

"प्रियतम! यह नत निस्तब्ध रात
है स्मरण कराती विगत बात,

वह प्रलय शान्ति वह कोलाहल
जब अर्पित कर जीवन संबल,
मैं हुई तुम्हारी थी निश्छल,
क्या भूलूँ मैं, इतनी दुर्बल,

तब चलो जहाँ पर शान्ति प्रात,
मैं नित्य, तुम्हारी सत्य बात।

इस देव द्वन्द्व का वह प्रतीक—
मानव ! कर ले सब भूल ठीक,

यह विष जो फैला महा विषम,
निज कर्मोन्नति से करते सम,
सब मुक्त बनें, काटेंगे भ्रम,
उनका रहस्य हो शुभ संयम,

गिर जायेगा जो है अलीक,
चल कर मिटती है पड़ी लीक।"

वह शून्य असत या अंधकार,
अवकाश पटल का वार-पार,

बाहर भीतर उन्मुक्त सघन,
था अचल महा नीला अंजन,
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन,
थे निर्निमेष मनु के लोचन,

इतना अनन्त था शून्य सार,
दीखता न जिसके परे पार।

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रंथि खोल,

तम जलनिधि का बन मधु मंथन,
ज्योत्स्ना सरिता का आलिंगन,
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन,
आलोक पुरुष! मंगल चेतन!

केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु किरणों की थी लहर लोल।

बन गया तमस था अलक जाल,
सर्वांग ज्योतिर्मय था विशाल,

अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्य-भेदिनी सत्ता चित,
नटराज स्वयं थे नृत्य निरत,
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित,

स्वर लय होकर दे रहे ताल,
थे लुप्त हो रहे दिशाकाल।

लीला का स्पन्दित आल्हाद
वह प्रभा पुंज चितिमय प्रसाद,

आनन्द पूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल श्रम सीकर,
बनते तारा, हिमकर दिनकर,
उड रहे धूलि कण से भूधर,

संहार सृजन से युगल पाद—
गतिशील, अनाहत हुआ नाद।

बिखरे असंख्य ब्रह्माण्ड गोल,
युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल

विद्युत कटाक्ष चल गया जिधर,
कंपित संसृति बन रही उधर,
चेतन परमाणु अनन्त बिखर,
बनते विलीन होते क्षण भर,

यह विश्व झूलता महा दोल,
परिवर्तन का पट रहा खोल।

उस शचि शरीरी का प्रकाश,
सब शाप पाप का कर विनाश—

नर्तन में निरत, प्रकृति गल कर,
उस कान्ति सिन्धु में घुल मिलकर,
अपना स्वरूप धरती सुन्दर,
कमनीय बना था भीषणतर,

हीरक गिरि पर विद्युत विलास,
उल्लसित महा हिम धवल हास।

देखा मनु ने नर्तित नटेश,
हत चेत पुकार उठे विशेष,

"यह क्या! श्रद्धे! बस तू
उन चरणों तक, दे
सब पाप पुण्य जिसमें
पावन बन जाते हैं

मिटते असत्य से ज्ञान लेश
समरस अखण्ड आनन्द वेश।"

रहस्य

ऊर्ध्व देश उस नील तमस मे
स्तब्ध हो रही अचल हिमानी
पथ थक कर है लीन चतुर्दिक
देख रहा वह गिरि अभिमानी,

दोनो पथिक चले हैं कब से
ऊँचे ऊँचे चढते चढते,
श्रद्धा आगे मनु पीछे थे
साहस उत्साही से बढते।

पवन वेग प्रतिकूल उधर था
कहता, 'फिर जा अरे बटोही!
किधर चला तू मुझे भेद कर?
प्राणो के प्रति क्यो निर्मोही?'

छूने को अम्बर मचली सी
बढी जा रही सतत उँचाई
विक्षत उसके अग, प्रगट थे
भीषण खड्ड भयकरी खाँइ।

रवि कर हिम खडो पर पड कर
हिमकर कितने नये बनाता,
द्रुततर चक्कर काट पवन भी
फिर से वही लौट आ जाता।

नाच जलधर दौड रहे थे
सुन्दर सुर-धनु माला पहने,
कुञ्जर-कलभ सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने।

प्रवहमान थे निम्न देश मे
शीतल शत शत निर्झर ऐसे।
महा श्वेत गजराज गण्ड से
बिखरी मधु धाराएँ जैसे।

हरियाली जिनकी उभरी, वे
समतल चित्रपटी से लगते,
प्रतिकृतिया के बाह्य रेख से
स्थिर, नद जो प्रति पल थे भगते।

लघुतम वे सब जो वसुधा पर
ऊपर महाशून्य का घेरा
ऊँचे चढने की रजनी का
यहाँ हुआ जा रहा सवेरा।

"कहाँ ले चली हो अब मुझको
श्रद्धे ! मैं थक चला अधिक हूँ,
साहस छूट गया है मेरा
निस्संबल भग्नाश पथिक हूँ।

लौट चलो, इस वात चक्र से
मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा।
श्वास रुद्ध करने वाले इस
शीत पवन से अड़ न सकूँगा।

मेरे हा वे सब मेरे थे
जिनसे रूठ चला आया हूँ,
वे नीचे छूटे सुदूर पर
भूल नहीं उनको पाया हूँ।"

वह विश्वास भरी स्मिति निश्छल
श्रद्धामुख पर झलक उठी थी,
सेवा कर-पल्लव में उसके
कुछ करने को ललक उठी थी।

दे अवलंब, विकल साथी को
कामायनी मधुर स्वर बोली,
हम बढ दूर निकल आये अब
करने का अवसर न ठिठोली।

दिशा विकम्पित, पल असीम है
यह अनंत सा कुछ ऊपर है,
अनुभव करते हो, बोलो क्या
पदतल में सचमुच भूधर है ?

निराधार हैं, किन्तु ठहरना
हम दोनो को आज यही है,
नियति खेल देखूँ न, सुनो अब
इसका अन्य उपाय नही है।

झाईं लगती जो, वह तुमको
ऊपर उठने को है कहती,
इस प्रतिकूल पवन धक्के को
झोंक दूसरी ही आ सहती।

श्रात पक्ष, कर नेत्र बन्द बस
विहग युगल से आज हम रहे
शून्य, पवन बन पंख हमारे
हमको दें आधार, जम रहे।

घबराओ मत! यह समतल है
देखो तो, हम कहा आ गये।"
मनु ने देखा आँख खोल कर
जैसे कुछ कुछ त्राण पा गये।

ऊष्मा का अभिनव अनुभव था
ग्रह, तारा नक्षत्र अस्त थे,
दिवा रात्रि के संधि काल मे
ये सब कोई नही व्यस्त थे।

ऋतुओ के स्तर हुए तिरोहित
भू-मडल रेखा विलीन सी,
निराधार उस महादेश मे
उदित सचेतनता नवीन सी।

त्रिदिक विश्व, आलोक बिन्दु भी
तीन दिखाई पडे अलग वे,
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो
वे अनमिल थे किंतु सजग थे।

मनु ने पूछा, "कौन नये ग्रह
ये है श्रद्धे! मुझे बताओ,
मैं किस लोक बीच पहुँचा, इस
इद्रजाल से मुझे बचाओ।"

"इस त्रिकाण के मध्य विन्दु तुम
शक्ति विपुल क्षमतावाल ये,
एक एक को स्थिर हो देखो
इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये।

वह देखो रागारुण है जो
ऊषा के कदुक सा सुदर,
छायामय कमनीय कलेवर
भाव - मयी प्रतिमा का मदिर।

शब्द स्पर्श, रस, रूप गध की
पारदर्शिनी सुघड पुतलिया,
चारो ओर नृत्य करती ज्यो
रूपवती रगीन तितलिया।

इस कुसुमाकर के कानन के
अरुण पराग पटल छाया मे,
इठलाती सोती जगती ये
अपनी भाव भरी माया मे।

यह [illegible] इनकी
कोमल अँगड़ाई है लेती,
मादकता की लहर उठा कर
अपना अंबर तर कर देती।

आलिंगन सी मधुर प्रेरणा
छू लेती फिर, सिहरन बनती,
नव अलम्बुषा की व्रीड़ा सी
खुल जाती है, फिर जा मुँदती।

यह जीवन की मध्यभूमि है
रस धारा से सिंचित होती,
मधुर लालसा की लहरों से
यह प्रवाहिका स्पंदित होती।

जिसके तट पर विद्युत कण से
मनोहारिणी आकृति वाले
छायामय सुषमा में विह्वल
विचर रहे सुन्दर मतवाले।

सुमन संकुलित भूमि रंध्र से
मधुर गंध उठती रस भीनी,
वाष्प अदृश्य फुहारे इसमें
छूट रहे, रस बूँदें झीनी।

घूम रही है यहाँ चतुर्दिक्
चल चित्रों सी संसृति छाया
जिस आलोक बिन्दु को घेरे
वह बैठी मुसक्याती माया।

भाव चक्र यह चला रही है
इच्छा की रथ-नाभि घूमती
नव रस भरी अराएँ अविरल
चक्रवाल को चकित चूमती।

यहाँ मनोमय विश्व कर रहा
रागारुण चेतन उपासना,
माया राज्य! यही परिपाटी
पाश बिछा कर जीव फाँसना।

ये अशरीरी रूप, सुमन से
केवल वर्ण गंध में फूले,
इन अप्सरियों की तानों के
मचल रहे हैं सुंदर झूले।

भाव भूमिका इसी लोक की
जननी है सब पुण्य पाप की
ढलते सब, स्वभाव प्रतिकृति बन
गल, ज्वाला से मधुर ताप की।

नियममयी उलझन लतिका का
भाव विटपि से आकर मिलना,
जीवन वन की बनी समस्या
आशा नभकुसुमों का खिलना।

चिर-वसंत का यह उद्गम है,
पतझर होता एक ओर है,
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं
सुख दुख बँधते, एक डोर है।"

"सुन्दर यह तुमने दिखलाया
किन्तु कौन वह श्याम देश है?
कामायनी! बताओ उसमें
क्या रहस्य रहता विशेष है।"

"मनु यह श्यामल कर्म लोक है
धुँधला कुछ कुछ अंधकार सा,
सघन हो रहा अविज्ञात यह
देश मलिन है धूम धार सा।

कर्म-चक्र सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति प्रेरणा
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा।

श्रममय कोलाहल, पीड़नमय
विकल प्रवर्तन महायंत्र का,
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया तंत्र का।

भाव राज्य के सकल मानसिक
सुख यों दुख में बदल रहे हैं
हिंसा गर्वोन्नत हारों में
ये अकड़े अणु टहल रहे हैं।

ये भौतिक संदेह कुछ करके
जीवित रहना यहाँ चाहते
भाव राष्ट्र के नियम यहाँ पर
दण्ड बने हैं, सब कराहते।

करते हैं सन्तोष नहीं है
जैसे कशाघात प्रेरित से—
प्रति क्षण करते ही जाते हैं
भीति विवश ये सब कंपित से।

नियति चलाती कर्म चक्र यह
तृष्णा जनित ममत्व वासना,
पाणि-पादमय पंचभूत की
यहाँ हो रही है उपासना।

यहाँ सतत संघर्ष विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है,
अंधकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।

स्थूल हो रहे रूप बना कर
कर्मों की भीषण परिणति है,
आकांक्षा की तीव्र पिपासा!
ममता की यह निर्मम गति है।

यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयों की हुंकार सुनाती,
यहाँ भूख से विकल दलित को
पदतल में फिर फिर गिरवाती।

यहाँ लिये दायित्व कर्म का
उन्नति करने के मतवाले,
जला जला कर फूट पड रहे
ढुल कर बहने वाले छाले।

यहा राशिकृत विपुल विभव सब
मरीचिका से दीख पड रहे,
भाग्यवान बन क्षणिक भोग के
वे विलीन, ये पुन गड रहे।

बडी लालसा यहाँ सुयश की
अपराधो की स्वीकृति बनती
अन्ध प्रेरणा से परिचालित
कर्त्ता मे करत निज गिनती।

प्राण तत्व की सघन साधना
जल, हिम उपल यहाँ है बनता,
प्यासे घायल हो जल जाते
मर मर कर जीते ही बनता।

यहाँ नील लोहित ज्वाला कुछ
जला गला कर नित्य ढालती,
चोट सहन कर रुकने वाली
धातु, न जिसको मृत्यु सालती।

वर्षा के घन नाद कर रहे
तट कूलों को सहज गिराती,
प्लावित करती वन कुंजों को
लक्ष्य प्राप्ति सरिता बह जाती।"

"बस ! अब और न इसे दिखा तू
यह अति भीषण कर्म जगत है,
श्रद्धे ! वह उज्ज्वल कैसा है
जैसे पुञ्जीभूत रजत है।"

"प्रियतम ! यह तो ज्ञान क्षेत्र है
सुख दुख से है उदासीनता,
यहां न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि चक्र, जिसमें न दीनता।

अस्ति नास्ति का भेद, निरंकुश
करते ये अणु तर्क युक्ति से,
ये निस्संग, किन्तु कर लेते
कुछ सम्बन्ध विधान मुक्ति से।

यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं कर भेद बाटती,
बुद्धि, विभूति सकल सिकता सी
प्यास लगी है ओस चाटती।

न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे
ये प्राणी चमकीले लगते।
इस निदाघ मरु में सूखे से
स्रोतों के तट जैसे जगते।

मनोभाव से काय-कर्म के
समतोलन में दत्त चित्त से,
ये निस्पृह न्यायासन वाले
चूक न सकते तनिक वित्त से।

अपना परिमित पात्र लिये ये
बूँद बूँद वाले निर्झर से
माँग रहे हैं जीवन का रस
बैठ यहाँ पर अजर अमर से।

यहा विभाजन धम तुला था
अधिकारो की व्याख्या करता,
यह निरीह, पर कुछ पाकर ही
अपनी ढीली सांसें भरता।

उत्तमता इनका निजस्व है
अम्बुज वाले सर सा देखो,
जीवन-मधु एकत्र कर रही
उन ममाखियो सा बस लखो।

यहाँ शरद की धवल ज्योत्स्ना
अधकार को भेद निखरती,
यह अनवस्था, युगल मिले से
विकल व्यवस्था सदा बिखरती।

देखो वे सब सौम्य बने हैं
किंतु सशकित हैं दोषो से,
वे सकेत दभ के चलते
भ्रू चालन मिस परितोषो से।

यहा अछूत रहा जीवन रस
छूओ मत सचित होने दो,
बस इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा! मृषा, वचित होने दो।

अस्ति नास्ति का भेद, निरकुश
करते ये अणु तक युक्ति से,
य निस्सग, किन्तु कर लत
कुछ सम्बन्ध विधान मुक्ति से।

यहा प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नही कर भेद बाटती,
बुद्धि, विभूति सकल सिकता सी
प्यास लगी है ओस चाटती।

न्याय, तपस, ऐश्वय मे पगे
ये प्राणी चमकीले लगते।
इस निदाघ मरु म सूखे से
स्रोतो के तट जैसे जगते।

मनोभाव से कायकम का
सम-तोलन मे दत्त चित्त से
ये निस्पृह न्यायासन वाल
चूक न सकते तनिक वित्त से।

अपना परिमित पात्र लिये ये
बूँद बूँद वाले निझर से
माँग रहे हैं जीवन का रस
बैठ यहाँ पर अजर अमर से।

यहाँ विभाजन धर्म तुला का
अधिकारों की व्याख्या करता,
यह निरीह, पर कुछ पाकर ही
अपनी ढीली साँसें भरता।

उत्तमता इनका निजस्व है
अम्बुज वाले सर सा देखो,
जीवन-मधु एकत्र कर रही
उन मधुमाखियों सा बस लेखो।

यहाँ शरद की धवल ज्योत्स्ना
अंधकार को भेद निखरती,
यह अनवस्था, युगल मिले से
विकल व्यवस्था सदा बिखरती।

देखो वे सब सौम्य बने हैं
किन्तु सशंकित हैं दोषों से,
वे संकेत दंभ के चलते
भ्रू चालन मिस परितोषों से।

यहाँ अछूत रहा जीवन रस
छूओ मत संचित होने दो,
बस इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा! मृषा, वंचित होने दो।

सामजस्य चले करने ये
किन्तु विपमता फैलाते है,
मूल स्वत्व कुछ और वताते
इच्छाओ को झुठलाते है।

स्वय व्यस्त पर शात बने से
शस्त्र शास्त्र रक्षा मे पलते,
ये विज्ञान भरे अनुशासन
क्षण क्षण परिवत्तन मे ढलते।

यही त्रिपुर है देखा तुमने
तीन विन्दु ज्योतिमय इतने
अपने केन्द्र बने दुख सुख मे
भिन्न हुए हैं ये सब कितने।

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यो पूरी हो मन की
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।"

महा ज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमे,
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमे।

नीचे ऊपर लचकीली वह
विषय वायु मे धधक रही सी
महाशून्य मे ज्वाल सुनहली,
सब को कहती 'नही नही' सी।

शक्ति तरग प्रलय पावक का
उस त्रिकोण मे निखर उठा सा,
शृङ्ग और डमरु निनाद बस
सकल विश्व म बिखर उठा सा।

चितिमय चिता धधकती अविरल
महाकाल का विषम नृत्य था,
विश्व रध्र ज्वाला से भर कर
करता अपना विषम कृत्य था।

स्वप्न, स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद मे
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।



आनंद

चलता था धीरे धीरे
वह एक यात्रियो का दल,
सरिता के रम्य पुलिन मे
गिरि पथ से, ले निज सम्बल।

था सोम लता से आवृत
वृष धवल धम का प्रतिनिधि,
घटा बजता तालो म
उसकी थी मथर गति विधि।

वृष रज्जु वाम कर मे था
दक्षिण त्रिशूल से शोभित,
मानव था साथ उसी के
मुख पर था तेज अपरिमित।

केहरि किशोर से अभिनव
अवयव प्रस्फुटित हुए थे,
यौवन गम्भीर हुआ था
जिसम कुछ भाव नये थे।

चल रही, इडा भी वृष के
दूसरे पार्श्व मे नीरव,
गैरिक वसना सध्या सी
जिसके चुप थे सब कलरव।

उल्लास रहा युवकों का
शिशु गण का था मृदु कलरव,
महिला मंगल गानों से
मुखरित था वह यात्री दल।

चमरों पर बोझ लदे थे
वे चलते थे मिल अविरल,
कुछ शिशु भी बैठ उन्हीं पर
अपने ही बने कुतूहल।

माताएँ पकड़े उनको
बातें थीं करती जातीं,
'हम कहाँ चल रहे' यह सब
उनको विधिवत समझातीं।

कह रहा एक था 'तू तो
कब से ही सुना रही है—
अब आ पहुँची लो देखो
आगे वह भूमि यही है।

पर बढ़ती ही चलती है
रुकने का नाम नहीं है,
वह तीर्थ कहाँ है कह तो
जिसके हित दौड़ रही है।"

"वह अगला समतल जिस पर
है देवदारु का कानन
घन अपनी प्याली भरते
ले जिसके दल से हिमकन ?

हाँ इसी ढालवें को जब
बस सहज उतर जावें हम,
फिर सम्मुख तीर्थ मिलेगा
वह अति उज्ज्वल पावनतम।"

वह इड़ा समीप पहुँच कर
बोला उसको रुकने को,
बालक था, मचल गया था
कुछ और कथा सुनने को।

वह अपलक लोचन अपने
पदाग्र विलोकन करती।
पथ प्रदर्शिका सी चलती
धीरे धीरे डग भरती।

बोली, "हम जहा चले है
वह है जगती का पावन,
साधना प्रदेश किसी का
शीतल अति शात तपोवन।"

'कैसा ? क्यो शात तपोवन ?
विस्तृत क्यो नही बताती,"
बालक ने कहा इडा से
वह बोली कुछ सकुचाती।

"सुनती हूँ एक मनस्वी
था वहाँ एक दिन आया,
वह जगती की ज्वाला से
अति विकल रहा झुलसाया।

उसकी वह जलन भयानक
फैली गिरि अचल में फिर,
दावाग्नि प्रखर लपटों ने
कर दिया सघन वन अस्थिर

थी अर्धांगिनी उसी की
जो उसे खोजती आयी,
यह दशा देख, करुणा की—
वर्षा दृग में भर लायी।

वरदान बने फिर उसके
आँसू करते जग मंगल,
सब ताप शांत होकर, वन
हो गया हरित सुख शीतल।

गिरि निर्झर चले उछलते
छायी फिर से हरियाली,
सूखे तरु कुछ मुसक्याये
फूटी पल्लव में लाली।

वे युगल वही अब बैठे
संसृति की सेवा करते,
तोष और देकर
सब की दुख ज्वाला हरते।

है वहां महाह्लद निर्मल
जो मन की प्यास बुझाता,
मानस उसको कहते हैं
सुख पाता जो है जाता।"

"तो यह वृष क्या तू यों ही
वैसे ही चला रही है,
क्यों बैठ न जाती इस पर
अपने को थका रही है।"

सारस्वत नगर निवासी
हम आये यात्रा करने,
यह व्यर्थ रिक्त जीवन घट
पीयूप सलिल से भरने।

इस वृषभ धम प्रतिनिधि को
उत्सर्ग करेंगे जाकर।
चिर मुक्त रहे यह निभय
स्वच्छन्द सदा सुख पाकर।"

सघ सम्हल गये थे आगे
थी कुछ नीची उतरायी
जिस समतल घाटी मे वह
थी हरियाली से छायी।

श्रम, ताप और पथ पीड़ा
क्षण भर मे थे अन्तर्हित,
सामने विराट धवल [illegible]
अपनी महिमा स [illegible]

उसकी तलहटी मनोहर
श्यामल तृण वीरुध वाली,
नव कुंज, गुहा गृह सुन्दर
ह्रद से भर रही निराली।

वह मंजरियों का कानन
कुछ अरुण पीत हरियाली,
प्रतिपर्व सुमन संकुल थे
छिप गई उन्हीं में डाली।

यात्री दल ने रुक देखा
मानस का दृश्य निराला,
खग मृग को अति सुखदायक
छोटा सा जगत उजाला।

मरकत की वेदी पर ज्यों
रक्खा हीरे का पानी,
छोटा सा मुकुर प्रकृति का
या सोयी राका रानी।

दिनकर गिरि के पीछे अब
हिमकर था चढ़ा गगन में,
कैलास प्रदोष प्रभा में
स्थिर बैठा किसी लगन में।

सध्या समीप आयी थी
उस सर के, वल्कल वसना,
तारो से अलक गुँथी थी
पहने कदव की रशना।

खग कुल किलकार रहे थे
कलहस कर रहे कलरव,
किन्नरिया वनी प्रतिध्वनि
लेती थी तानें अभिनव।

मनु बैठे ध्यान निरत थे
उस निमल मानस तट मे,
सुमनो की अजलि भर कर
श्रद्धा थी खडी निकट मे।

श्रद्धा ने सुमन बिखेरा
शत शत मधुपो का गुजन,
भर उठा मनोहर नभ मे
मनु तन्मय बैठे उन्मन।

पहचान लिया था सब ने
फिर कैसे अब वे रुकते,
वह देव-द्वन्द्व द्युतिमय था
फिर क्यो न प्रणति मे झुकते।

५॥

तब वृषभ सोमवाही भी
अपनी घंटा-ध्वनि करता,
बढ चला इडा के पीछे
मानव भी था डग भरता।

हाँ इडा आज भूली थी
पर क्षमा न चाह रही थी;
वह दृश्य देखने को निज
दृग युगल सराह रही थी।

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति तरंगायित था
आनंद - अंबु - निधि शोभन।

भर रहा अंक श्रद्धा का
मानव उसको अपना कर,
था इडा शीश चरणों पर,
वह पुलक भरी गद्गद स्वर—

बोली—"मैं धन्य हुई हूँ
जो यहाँ भूल कर आयी,
हे देवि! तुम्हारी ममता
बस मुझे खींचती लायी।

भगवति, समझी मैं ! सचमुच
कुछ भी न समझ थी मुझको,
सब को ही भुला रही थी
अभ्यास यही था मुझको।

हम एक कुटुम्ब बना कर
यात्रा करने हैं आये,
सुन कर यह दिव्य तपोवन
जिसमे सब अघ छुट जाये।"

मनु ने कुछ कुछ मुसक्याकर
कैलास ओर दिखलाया,
बोले "देखो कि यहाँ पर
कोई भी नही पराया।

हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक [1]हमी हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमे कुछ नही कमी है।

१ पाण्डुलिपि में हमी।

आनंद ॥ १९७ ॥

शापित न यहा है कोई
तापित पापी न यहा है,
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहा है।

चेतन समुद्र मे जीवन
लहरो सा बिखर पडा है,
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना
निर्मित आकार खडा है।

इस ज्योत्स्ना के जलनिधि मे
बुद्‌बुद सा रूप बनाये,
नक्षत्र दिखायी देते
अपनी आभा चमकाये।

वैसे अभेद सागर मे
प्राणो का सृष्टि क्रम है,
सब म घुल मिल कर रस मय
रहता यह भाव चरम है।

अपने दुख सुख से पुलकित
यह मूत विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपु मगल
यह सत्य सतत चिर सुदर।

सब की सेवा न परायी
वह अपनी सुख संसृति है,
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।

मैं की मेरी चेतनता
सबको ही स्पर्श किये सी,
सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूँट पिये सी।

जग ले ऊषा के दृग मे
सो ले निशि की पलको मे
हाँ स्वप्न देख ले सुन्दर
उलझन वाली अलको मे—

चेतन का साक्षी मानव
हो निर्विकार हँसता सा,
मानस के मधुर मिलन मे
गहरे गहरे धँसता सा।

सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता
मानव कह रे। 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड बन जाता।"

आनंद ॥६९९॥

श्रद्धा के मधु अधरो की
छोटी छोटी रेखाएँ,
रागारुण किरण कला सी
विकसी बन स्मिति लेखाएँ।

वह कामायनी जगत की
मंगल कामना अकेली,
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित
मानस तट की वन बेली।

वह विश्व चेतना पुलकित
थी पूर्ण काम की प्रतिमा,
जैसे गंभीर महाह्रद
हो भरा विमल जल महिमा।

जिस मुरली के निस्वन से
यह शून्य रागमय होता,
वह कामायनी विहँसती
अग जग था मुखरित होता।

क्षण भर मे सब परिवर्तित
अणु अणु थे विश्व कमल के
पिंगल पराग से मचले
आनद सुधा रस छलके।

अति मधुर गधवह बहता
परिमल बूँदो से सिंचित,
सुख स्पर्श कमल केसर का
कर आया रज से रजित।

जैसे असख्य मुकुलो का
मादन विकास कर आया,
उनके अछूत अधरो का
कितना चुबन भर लाया।

रुक रुक कर कुछ इठलाता
जैसे कुछ हो वह भूला,
नव कनक - कुसुम - रज धूसर
मकरद जलद सा फूला।

जैसे वनलक्ष्मी ने ही
बिखराया हो केसर रज,
या हेमकूट हिम जल मे
झलकाता परछाई निज।

ससृति के मधुर मिलन के
उच्छवास बना कर निज दल,
चल पड़े गगन आगन मे
कुछ गाते अभिनव मगल।

वल्लरिया नृत्य निरत थी
बिखरी सुगध की लहरें,
फिर वेणु रध्र से उठ कर
मूर्छना कहा अब ठहरे।

गूजते मधुर नूपुर से
मदमाते होकर मधुकर,
वाणी की वीणा ध्वनि सी
भर उठी शून्य मे झिल कर।

उन्मद माधव मलयानिल
दौड़े सब गिरते पड़ते,
परिमल से चली नहा कर
काकली, सुमन थे झड़ते।

सिकुडन कौशेय वसन की
थी विश्व सुन्दरी तन पर,
या मादन मृदुतम कपन
छायी सम्पूण सृजन पर।

सुख सहचर दुख विदूपक
परिहास पूण कर अभिनय,
सब की विस्मृति के पट मे
छिप बैठा था अब निभय।

थे डाल डाल मे मधुमय
मृदु मुकुल बने झालर से,
रस भार प्रफुल्ल सुमन सब
धीरे धीरे से बरसे।

हिम खड रश्मि मडित हो
मणि दीप प्रकाश दिखाता,
जिनसे समीर टकरा कर
अति मधुर मृदग बजाता।

सगीत मनोहर उठता
मुरली बजती जीवन की,
सकेत कामना बन कर
बतलाती दिशा मिलन की।

रश्मिया
अंतरिक्ष
परिमल ह
निज रंग

मांसल
हिमवती
उस लार
थी हस

वह चन्द्र
स्पन्दित
देखता
लहरा

प्रतिफलित
उस प्रेम
सब
अपनो ह

समरस ह
सुंदर र
चेतनता
आनंद

रश्मिया बनी अप्सरियाँ
अतरिक्ष मे नचती थी।
परिमल का कन कन लेकर
निज रगमच रचती थी।

मासल सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाणी,
उस लास रास मे विह्वल
थी हसती सी कल्याणी।

वह चन्द्र किरीट रजत नग
स्पन्दित सा पुरुष पुरातन,
देखता मानसी गौरी
लहरा का कामल नत्तन।

प्रतिफलित हुई सब आखें
उस प्रेम ज्योति विमला से,
सब पहचाने से लगते
अपनी ही एक कला से।

समरस थे जड या चेतन
सुदर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनद अखड घना था।